मध्ययुग के भक्तिकाव्य में माया

मगध विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच०-डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

डॉ० नन्दकिशोर तिवारी
एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत)
पी-एच० डी०
शान्ति प्रसाद जैन महाविद्यालय
सहसराम
(मगध विश्वविद्यालय)

शोध साहित्य प्रकाशन
५७७ शाहगंज,
इलाहाबाद

समर्पण

परम श्रद्धास्पद आचार्य केसरी कुमार
जी को सादर समर्पित

—नन्दकिशोर

इन्द्रोमायाभि पुरूरूप ईयते —ऋग्वेद

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृत न माया चेति

—प्रश्नोपनिषद्

\+ + +

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् —श्वेताश्वतरोपनिषद्

\+ + +

माया बलस्य पुरुषस्य कृतो परं ये —श्रीमद्भागवत

\+ + +

स हि मायाबल क्रूरो रावण शत्रुरावण —वाल्मीकि रामायण

\+ + +

मायावी राक्षसो वीरो यस्मान्मायामहद्भयम् —महाभारत

\+ + +

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते —श्रीमद्भगवद्गीता

\+ + +

जक्ख रूप जिमि चित्तर विभासा मायाजाल जेतिम

—पाँडहाउ—दोहाकोश

\+ + +

माया छाया एक सी बिरला जाने कोय।
भगता के पीछे फिर सम्मुख भागे सोय॥ —कबीर

\+ + +

प्रभु तुव माया मोहि सतावत। तातें मैं बाहर नहिं आवत॥

—सूरदास

\+ + +

सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिय महामायापतिहिं॥

—तुलसीदास

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध की प्रेरणा मुझे एम० ए० में विशेष पत्र के बदले में शोध निबंध लेखन काल मे प्राप्त हुई। 'तुलसी का मायावाद' विषय पर कार्य करते समय समस्त भक्तिकाव्य की माया-भावना का विस्तृत विवेचन सर्वथा अविवेचित सा लगा और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा शोध कार्य हेतु नियुक्त (कनीय-शोध-वृत्ति) किए जाने पर हमने अपने उपदेष्टा आचार्य से उक्त विषय पर ही कार्य करने का आदेश प्राप्त किया। मेरा डिजर्टेशन उस समय उनके निर्देशन में ही लिखा गया था और उन्होंने इसे देखते समय इसकी सर्वापेक्ष अधिक प्रशंसा की थी। अतः पुनः इसी प्रकार के विषय तथा निर्देशक को पाकर हमने अपना सौभाग्य सराहकर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रबंध के साम्प्रतिक उप-रूप का यही सूत्रात्मक इतिहास है। यद्यपि उपाधि हेतु पंजीयन से लेकर प्रस्तुतन काल तक की अनेक मार्मिक घटनाएँ औपन्यासिक कथा विन्यास में समाविस्थ हैं अतः इस प्रसंग में निरस्त उल्लेख्य भी।

प्रस्तुत प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है। इसके पूर्व प्रस्तावना के नियोजन क्रम में प्रस्तुत विषय का महत्व तथा उसकी मौलिकता रेखांकित है। वस्तुतः यह विषय अपने सांगोपांग अध्ययन क्रम में सर्वथा अविवेचित तथा अस्पृष्ट रहा है। इसके लिए प्रस्तावना के अन्तर्गत आलोच्य विषय पर अद्यावधिक अनेक शोध-प्रबंधों आलोचना ग्रन्थों एवं शोध-परक निबंधों की उद्धरणी प्रस्तुत कर उनकी उपलब्धियों का निदर्शन करते हुए अनुसंधान की अनिवार्यता सिद्ध की गई है। इसमें मध्ययुग के भक्तिकाव्य की सीमारेखा निर्दिष्ट कर उसमें विवेचित कवियों की रचनाओं मे उल्लिखित तथा गवेषित माया विभावन का केवल दार्शनिक रूप ही नहीं अपितु साहित्यिक-रूप भी प्रतिष्ठित किया गया है। वास्तव में माया के दार्शनिक रूप से उसका साहित्यिक रूप कम महत्व-पूर्ण नहीं।

प्रथम अध्याय में माया भावना का ऐतिहासिक तथा परम्परामूलक विकास-क्रम निदर्शित है। इसमें सर्वप्रथम माया के विभिन्न अर्थों और प्रयोगों पर विचार करते हुए, वैदिक काल से लेकर भक्तिकाव्य की पूर्वपीठिका स्वरूप अपभ्रंश साहित्य तक किस प्रकार माया भावना का शब्दगत, अर्थगत और सिद्धान्तगत विकास होता रहा है, अपने-अपने युग के सर्वातिशायी प्रवृत्ति परक श्रेष्ठतम ग्रन्थों से विपुल उदाहरण प्रस्तुत कर स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय की सार्थकता मध्ययुगीन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि में अवस्थित होकर विविध प्रकार से माया वर्णन की पद्धतियों, प्रवृत्तियों को समझने के साथ ही अनेक आनुषंगिक शंकाओं के निर्मूलन में भी है। इस प्रसंग मे संस्कृत तथा अपभ्रंश-साहित्य का जो कुछ भी महत्वपूर्ण है उसमें एतादृश तत्वों का संकलन कर दिशा-निर्धारण किया गया है यद्यपि उसका विवेचन-क्रम रचनाओं के कालगत वैशिष्ट्य से कम

और प्रवृत्ति-परक वैशिष्ट्य में सर्वाधिक है। वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त रचनाओं की रचना विविधता में भी वैभिन्य ही इसका हेतु रहा है।

दूसरे अध्याय में मध्ययुगीन भक्ति की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसमें माया का स्थान निरूपित किया गया है। इसके लिए सर्वप्रथम भक्ति की विभिन्न परिभाषाओं के मध्य, मध्ययुगीन भक्ति की व्याख्या करते हुए उसके विभिन्न दार्शनिक स्वरूपों का विश्लेषणात्मक परिशीलन हुआ है। इसमें निर्गुणभक्ति, कृष्णभक्ति तथा रामभक्ति के आधार पर यथाशक्ति प्रमाणित है कि भक्ति माया की परवर्ती स्थिति है और भक्ति के प्रतिपादन में माया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है।

तीसरे अध्याय में अवतारवाद के सन्दर्भ में माया की आवश्यकता पूर्णतः निर्धारित है। इस प्रसंग में अवतारवाद के उद्भव, विकास तथा उसके विकासमान स्वरूप पर विचार करते हुए मध्ययुगीन अवतार भावना में माया का विशिष्ट अवदान प्रमाणित है। परब्रह्म के अवतार धारण में माया का आश्रयत्व वैदिक-काल से लेकर श्रीमद्भागवत काल तक परम्परा की दृष्टि से निकालकर कृष्णभक्त कवियों तथा तुलसी के तद्वत् विचारों का अध्ययन किया गया है। वस्तुतः भक्तिकाव्य के अन्तर्गत अवतार की कल्पना एक महान् वस्तु है जो माया भावना का संस्पर्श पाकर ही अपने पूर्ण रूप में घटित हुई है।

चौथा अध्याय निर्गुण काव्यधारा के पुरस्कर्ता कवि कबीर से लेकर सुन्दरदास के माया सम्बन्धी विचारों से सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत लगभग आठ कवियों कबीर, धर्मदास, रैदास, दादू, मलूकदास, नानक तथा सुन्दरदासादि की रचनाओं के आधार पर उनकी माया भावना का अध्ययन विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में सन्तों तथा उनसे पूर्व प्रचलित अनेक दार्शनिक मतवादों से परस्पर साम्य वैषम्य खंडन-मंडन के आधार पर प्रतिपादित करते हुए माया का ब्रह्म, जीव और जगत् से उसका सम्बन्ध निर्दर्शित है। इस प्रसंग में जायसी और उनके परवर्ती सूफी कवियों के माया सम्बन्धी अभिमत को भी उक्त सन्तों के समानान्तर दिखाने का यथोचित विनम्र प्रयास हुआ है।

पाँचवा अध्याय कृष्णभक्ति काव्य के आठ कवियों जिन्हें अष्टछाप का अभिधान प्राप्त है से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत वल्लभदर्शन में माया का स्थान निरूपित करते हुए कृष्ण भक्त कवियों के माया-विभावन पर विचार किया गया है। इस क्रम में सूर, परमानन्द तथा नन्ददास की रचनाओं से ही विस्तृत तथ्य उपलब्ध हुए हैं।

षष्ठ अध्याय रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदासजी की रचनाओं पर सम्पूर्णतया आधृत है। प्रस्तुत अध्याय में तुलसी के मायाविभावन के स्वरूप पर विचार करते हुए माया को केन्द्रस्थित कर ब्रह्म, जीव, जगत् और भक्ति पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में मानस एवं मानसेतर ग्रन्थों के आधार पर तुलसी के माया सम्बन्धी विचारों की विशद विवेचना की गई है। इसमें सर्वप्रथम 'मानस' के कुछ माया-

रोपित घटना निवरणा का जिन्ह कथा-भाग के अंतगत मान्यता मिली है उनका कथन प्रस्तुत किया गया है। पुन कथा के पूर्व भाग म उसका पृष्ठाधार तथा अन्त म सैद्धान्तिक निष्कर्ष दिए गए है। इसके पूर्व आध्यात्मिक सिद्धाता के प्रचाराथ भारतीय तथा पाश्चात्य वाङ्मय म किस प्रकार कथा-कहानिया का उपयाग हाता था उसका सक्षिप्त विवेचन कर इसके औचित्य पर विधेयात्मक निणय दिया गया है। इसी अध्याय के अन्तगत तुलसी-साहित्य मे माया के शाब्दिक अर्थों तथा उसके पर्यायो का अर्थ परीक्षण काय किया गया है, जिसका आधार प्रमुख प्रसग तथा तज्जन्य प्राधान्येन व्यपदश' हो रहा है। यहाँ यद्यपि मानस' की विपुल सामग्री पर तनिक विस्तार म विचार किया गया है तथापि गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थो मे प्राप्त विशिष्ट-तत्व भी एक-एक कर आ गए हैं।

अत म उपसहार" के अतगत माया का आध्यात्मिक एव मनोविज्ञानिक स्थिति पर विचार किया गया है। इस सदर्भ म शवशमन म सर्वाधिक समर्थता भक्ति की दिखलाई गई है और ज्ञान, कम की दुरूहता को "स्थालीपुलाक न्याय द्वारा विवेचित कर भक्ति द्वारा ही माया रात्रि का अधकार निवारण सिद्ध किया गया है।

उपसहार के पश्चात् तीन उपस्करणा की याजना है जिसके प्रथम म हिंदीतर प्रमुख भारतीय साहित्यो म निर्दिष्ट माया-भावना पर विचार किया गया है। इसका उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि हिंदी साहित्य के भक्ति काव्य मे विश्लेषित माया सवथा विचारो से इनका ताल-मेल बहुत अशो म बैठ जाता है और वह ताल मेल क्वचित् कुत्रचित् 'प्रभाव' की सीमा तक भी पहुँचा हुआ दृष्टिगत होता है। उपस्करण दो म माया सीता के उद्भव, विकास और उसके मानसीय रूप' म सबद्ध है तथा तीसरे मे योगमाया राधा का भी उसी परिप्रेक्ष्य म विश्लेषण करना अभीष्ट है। ध्यातव्य है कि आलोच्य विषय के क्रम म इसे न रखकर परिशिष्ट अथवा उपस्करण म इसीलिए रखा गया है कि विवेच्य विषय के पर्यालोचन क्रम म किसी प्रकार का जोड नही आ जाय।

इस प्रबध की मौलिकता के सबध म इतना ही कह देना आवश्यक है कि पूर्व निबध म यह कहीं नहीं कहा गया है कि यही हो सकता है यह नहीं।' अगर अपनी स्थापनाएँ हैं तो पुष्कल प्रमाण के आधार पर ही। माया का अध्ययन यहाँ शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं अपितु साहित्यिक और लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित है। कवियो के पद या रचना विशेष के जहा शतश सहस्रश अथ लगाए गए हैं वहा प्रसगानुमोदित शब्द सवलित अर्थ पर ही अपने को केंद्रित रखने का प्रयास है। इसी प्रकार विषय विश्लेषण तथा विवेचन क्रम म केवल दार्शनिक पद्धतियो तक ही अपने को सीमित नहीं रखकर साहित्यिक रूढ़ियो का भी ध्यान स्थिर रखा गया है।

यह तो हुई प्रबध से सम्बद्ध बातें। किन्तु अभी कुछ बातें हैं जिनके बिना यह सारा लिखा अधूरा रह जायगा। यह कृति जिन्हे समर्पित है, उन परम श्रद्धास्पद आचाय केसरी कुमार जी के प्रति शब्दो द्वारा आभार प्रदर्शन सभव नही, मेरे साहित्यिक

मन प्राण का निर्माण तो उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है। मध्ययुगीन भक्ति काव्य में मायान्धकार भरित हृदय का विशुद्धिकरण गुरु कृपा से ही संभव माना है। पद्मल-घुसिपालिका की भांति मेरे लिए दुस्तर-दुरंत माया सागर से पार करने के लिए आचार्य जी ने सेतु का काम किया है। फिर भी इस कृति की सारी त्रुटियां मेरी हैं क्योंकि चल कर पार करने वाला मैं स्वयं हूँ। गया कालेज के हिन्दी विभाग के सभी वरिष्ठ आचार्यों के प्रति आभारी हूँ जिनके परस्पर वार्तालाप क्रम में मुझे सदा ज्ञान लाभ हुआ करता था। स्नातकोत्तर विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र स्व० डा० माधव जी तथा स्व० डा० मदनविहारी जी ने शोधरत्ना के लिए काफी उत्साहित किया था। डा० श्यामनन्दन प्रसाद सिंह जी रीडर हिन्दी विभाग की इस ग्रंथ प्रकाशन में विशेष रुचि रही होगी क्योंकि इसके प्रणयन के वे अहर्निश साक्षी द्रष्टा और सहायक रहे हैं। श्रद्धेय डा० रामसिंह जी तोमर के अमूल्य सुझावों के लिए कृतज्ञ हूँ। सहसराम आने पर आचार्य रामेश्वरसिंह जी काश्यप के साहचर्य ने जैसे जीवन में उन्होंने गया के समस्त साहित्यालाप एवं सृजन जनित आनंद को केन्द्रित कर स्नेह रूप में उन्हें दिया। एक तो अपार वनान्त वासे में ऋणशोध के लिए रसगर्भा धरित्री द्वार विरल हो जाता है मैं शब्दों द्वारा उन्हें क्या आभार प्रदर्शित करूँ। हमारे विभाग के आचार्य चन्द्रशेखर सिंह अरुण कुमार सिंह एम एस० सी० शुक्ल तथा नरेन्द्र जी नद्राजी तथा गणिताध्यक्ष प्रो० श्यामबिहारी जी की स्नेहमिश्रित कृपा सदा से प्राप्त होती है। राजनारायण भाई ने बराबर झिड़कियां दीं। नानक उम्मीद किए रहते हैं सुमन। अन्त में अपनी शिक्षा भूमि के सभी आचार्यों की स्मृति के द्वारा प्रणाम निवेदित करता हूँ। अपनी अभिलाषा का एक कणिका तुल्य मूल्य अवश्य वे इसमें पायेंगे। प्रबन्ध प्रणयन क्रम में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जिन व्यक्तियों संस्थाओं द्वारा प्राश्रय मिला है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित है। प्रकाशक तुलसी राम जी तो प्रशंसा के प्रथम पद के अधिकारी हैं क्योंकि इसके प्रकाशन में वर्षों का विलम्ब और अनन्त धाम दिल्ली का इलाहाबाद प्रवास का कटु मधु अनुभव दानिपरमहिम जासु प्रसादा साथ ने जनके मार्मिक बधुओं के स्नेह समागम का कारण बना है अत वे धन्य हैं। फिर यदि यूसुफ भाई की कृपा न होती तो और अनर्थ होता। अन्त में स्वामी शिवानन्द जी स्वामी को अपनी समस्त श्रद्धा निवेदित करता हूँ जिन्होंने माया मरु पार परमेश्वर के स्वरूप अपने जीवन आचरण और उपदेशों द्वारा मुक्त प्रवेश करा दिया जिन वर्षों तक पुस्तकों में निरर्थक ढूँढता रहा।

तुलसी मानस चतुश्शती वर्ष — विनयावनत

जैन कालेज सहसराम — नन्दकिशोर

जून १९७४

विषय-सूची

प्रस्तावना

सर्वप्रथम माया पश्चात् भक्ति-जीव की त्रिगुणात्मकता-उत्तम मुक्ति आवश्यक-माया योग-भक्ति में शरणागति का स्थान माया में मुक्ति हेतु भगवान् की शरणागति एक महत्वपूर्ण औषधि-विकार तथा सभी ज्ञानमार्गी भक्ति कवियों में व्यक्त भाव का चरम परिणति-कृष्णकाव्य में तत्त्व भावना की ही स्थिति तुलसी के अनुसार माया पति के भजन बिना माया से पार करना दुष्कर-परमात्मा के नाम के अतिरिक्त सब माया-अतः राम भगति चिंतामनि सुंदर सब प्रकार का विनाश करने के लिए एकमात्र उपाय मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में माया और भक्ति क्रमशः व्याधि और औषधि रूप में प्रामाणित ।

अवतारवाद और माया

अवतार शब्द की व्युत्पत्ति-प्रयोग-जय इनसाइक्लोपीडिआ-प०
गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी-हिन्दी साहित्यकोश-डा० द्विवेदी-अवतार के मूल में अवतरण ही मुख्य शब्द प्रधान की दृष्टि से वैदिक साहित्य में अवतार-ब्राह्मण-संहिता-अष्टाध्यायी-महाभारत-हिन्दी-विश्वकोषकार श्री नगेन्द्रनाथ वसु डा० बुल्के अवतार भावना का उद्भव आद्यावतार-अवतार का उद्देश्य-अवतारों की संख्या अवतार का निम्नाय में व्यवहार भक्त कवियों के नाम पर अवतारों की कल्पना अवतार का प्रयोजन मध्ययुगीन अवतार भावना में माया का विशिष्ट अवदान माया ईश्वर की शक्ति-उद्भव स्थिति और संहार की जननी-मायाश्रय से ही अवतार ग्रहण अवतारवाद दर्शन के क्षेत्र से साहित्यिक जगत् की वस्तु अधिक वेदों में माया प्रयत्व की कथन-गीता में इसी विचार का पुनःकथन श्वेताश्वतर में माया द्वारा महेश्वर का प्राकट्य-श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण के मानव रूप का श्रेय माया को ही-पद्मपुराण-लंकावतार सूत्र सिद्ध साहित्य शिवसंहिता -शैल साहित्य अध्यात्मरामायण में राम के मायाश्रयत्व के अनेक उदाहरण प्राप्त जगजीवनदास दादू मलूक आदि की दशावतारों के अस्तित्व में उदद्-सन्तों के अवतार विरोध का कारण इस्लामी पैगम्बरवाद और हिन्दू अवतारवाद अवतारवाद का मूलतत्त्व सौंदर्य सगुण भक्ति साहित्य में सुरक्षित सूर का अवतार सम्बन्धी अभिमत-सगुण वपु धारण करने में माया का स्थान स्वाकार-सूर के काव्य में २४ अवतारों का उल्लेख रामकाव्य-अग्रदास-सन्त का अवतार अवतार के चार हेतु स्वाकृत विनय पत्रिका में मत्स्य कूर्मादि का उल्लेख अध्यात्मरामायण का अवतार-हेतु-अवतार में मायाश्रयत्व का मानस में सर्वत्र निर्देश माया राम की शक्ति स्वरूपा विद्या माया अविद्या माया-सीताराम की परमशक्ति-तुलसी का अवतारवाद लोक के लिए अमृतरूप सिद्ध अवतार-

वाद की पूर्णता माया के द्वारा ही-मनुज के मनुजत्व और ब्रह्म के ब्रह्मत्व का अद्भुत सम्मिश्रण।

निर्गुण-काव्य धारा के प्रमुख कवि और उनके माया-संबंधी विचार

निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवि और उनके माया सम्बन्धी विचार-निर्गुण काव्यधारा सामान्य विशेषताएँ सन्तों का सार्वकालिक आदर्श-हिन्दी सन्त साहित्य-कबीर और रामानन्द-कबीर के ज्ञानमार्गी विचार-संत-काव्य की माया भावना प्रमुख सन्त आचार्य शुक्ल के अनुसार डॉ० वर्मा का विचार डा० द्विवेदी डॉ० त्रिगुणायत-प० परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति विचारकों के आलोच्य कवि कबीर से ही निर्गुण-मार्ग का विकास कबीर के माया सम्बन्धी विचार रमैनी और शब्द माया की उत्पत्ति-कबीर पंथियों के विचार-माया का भ्रमरूप सदसत् दोनों रूपों में प्रतिभासित कबीर का मायाख्यान साम्य की प्रवृति के समशील-माया का स्वभाव-मोहन तथा आवरण-माया से अतृप्ति-माया परमात्मा की वशवर्तिनी परमात्मा के दरबार की नर्तकी-माया का संसार माया के पर्याय मायाचक्र-माया के आवरणास्त्र-सूरमा विवेचन धन, पुत्र-कलत्र में आसक्तिकाम की महत्ता तथा उसके उन्नयन का महत्व माया और मायापनिसृष्टि विकास में माया का योग माया के भेद-आवरण तथा विक्षेपकीना तथा भ्रमरूप माया-कबीर का माया सम्बन्धी अभिमत प्रतीकान्योक्ति तथा उलटवासियों द्वारा प्रकट-माया का सर्वव्यापकत्व कबीर का प्रतीक-योजना नाथ सम्प्रदाय के प्रतीक सन्तों से ताल-मेल-माया का ध्वंसात्मक स्वरूप दृष्टि स्यासक्ति धन सम्पत्ति से अनुराग-काम क्रोध लोभ-मानसराग-भगवत्शरणागति का माहात्म्य कबीर का माया विभावन और बाह्य प्रभाव शंकर का मायावाद और कबीर का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण-कबीर के माया सम्बन्धी विचारों का निष्कर्ष।

गुरु नानक और आदि ग्रन्थ—नानक का स्थान-गुरु नानक के माया सम्बन्धी विचार-माया का व्यापकत्व महिमा माया और मन-सद्गुरु-गुरु ग्रन्थ साहब माया का त्रिगुणात्मकत्व-माया दुस्तरणीय प्रभु की भक्ति निष्कर्ष।

धर्मदास और उनके माया सम्बन्धी विचार समस्त स्वरूप मायापर भक्ति के बाधक के रूप में निष्कर्ष।

सन्त रैदास का माया विभावन-रैदास का स्थान प्रेम-भगति की स्थापना और अहंकार का दमन-केशव की माया विकटता-प्रभु की कृपा से ही मुक्ति।

दादू का माया वर्णन संत साहित्य में उनका स्थान रचना योग्यता माया का अस्तित्व मनुष्य की जीवितावस्था तक ही वाह्याड-

वाद की पूर्णता माया के द्वारा ही मनुज के मनुजत्व और ब्रह्म के ब्रह्मत्व का अद्भुत सम्मिश्रण ।

स्वर-विषय-सुख-कनक और कामिनी माया का सर्वाधिक प्रभाव मन पर ही-मायारूपक माया का आश्रिता भक्ति के आगमन से माया का नाश दादू का माया धारणा क्वार के समापस्थ ।

मलूकदास के माया विचार रचना-रचना सम्बंध। विवाद कवि का विचार अपने पूर्ववर्तियों के अनुरूप ही-नाना लोक में परमात्मा की माया माया का माहि। रूप विषयों के अन्तर्गत नारी निरूपण् भक्ति के अन्तर्गत माया का स्थान नहीं सुमिरन में माया नाश ।

सुन्दरदास की माया धारणा सन्त साहित्य में स्थान संत और विद्वान् का विरल सयोग माया प्रभाव-वर्णन-घर आन्त की माया ब्रह्म का विचारणा मन का असद् तियों माया के विविध अंग सन्तवानियाँ-ममता और माया सूक्ष्मा कौन ' सूक्ष्मा के नाश काम क्रोध, लोभ मोह मदादि विषयासक्ति का त्याग ही विधान है ।

सन्तमत में माया का स्वरूप विभावन तथा दार्शनिक मतों से उसकी तुलना-शंकर का मायावाद और सन्तों की माया सबधी दृष्टिकोण-शैव दर्शन तन्त्रमत और सन्तों की विचारधारा शक्ति तत्त्व शिव और शक्ति मायाशक्ति महामाया और साधारण तथा असाधारण माया माया का विस्तार माया का मोहनशीलता माया की शक्तियाँ माया और मोह माया और ब्रह्म का सम्बन्ध माया और जीव का सम्बन्ध माया और जगत् का सम्बन्ध माया और गुरु का सबंध सन्त साहित्य में माया का विभिन्न अर्थप्रतीत्व नाथ साहित्य और संतों की मायाधारणा निर्गुणधारा के प्रेममार्गी कवि और उनकी माया विचारणा जायसी-'माया' का बहुश प्रयोग वेदान्त और माया दर्शन अनुरूपता संत साहित्य में नारी माया का पर्याय जायसी की धारणा संतों के समानान्तर माया प्रयोग गर्भ व जायसी के परवर्ती कवि सूफियों के माया वर्णन के अन्तर्गत स्थान की कल्पना माया ममता के उन्मूलन में गुरु वचनों की सार्थकता ।

पंचम अध्याय २१० २७६

कृष्णभक्ति काव्य का दार्शनिक आधार और उसमें माया का स्थान

कृष्णकाव्य का परिचय मामा-विषय प्रतिष्ठा अष्टछापियों का काव्य तथा शुद्धाद्वैतवाद पृष्ठभूमि शुद्ध ब्रह्म की कल्पना जीव के आविर्भाव होने का हेतु भगवद्शरणागति-वल्लभदर्शन में माया का स्थान-माया दो तान शंकर और वल्लभ माया के सचालित जीवों में साम्य और वैषम्य माया की कार भ्रान्तिबुद्धि का सचार और वस्तुओं की अन्यथा प्रतीतिकरण-अविद्या माया-अविद्या के पांच पर्व वल्लभ माया

प्रस्तावना

प्रस्तुत विषय पर हुए शोध-कार्यों का सर्वेक्षण

उपलब्धि एव अभाव, शोध की आवश्यकता

हिन्दी साहित्येतिहास का मध्ययुगीन भक्तिकाव्य हिन्दी-साहित्य का मेरुदण्ड है। विंटरनित्स ने सस्कृत साहित्य का वैशिष्ट्य बतलाते हुए यह लिखा है कि "लिटरेचर" (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ मे जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह सस्कृत मे वर्तमान है। हिन्दी साहित्य के भक्तियुग के सबध मे "लिटरेचर" का व्यापक अर्थ तो अन्तर्भावित होता ही है श्रेण्य साहित्य (क्लासिक्स) का भी लक्षित अर्थ उसमे पूर्णतया परिदृष्ट होता है। विश्व के साहित्य मे सहस्रो वर्षो से उत्कृष्ट जो कुछ भी तेजोद्दीप्त और गौरवास्पद अशो का एकत्र समवाय है उसके निर्माण मे यदि हिन्दी का किंचित् योगदान माना जाय जो वस्तुत है, तो वह भक्तियुग का ही। स्वय हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे जो कुछ उसका श्रेण्य है, उदात्त है गौरवास्पद है, वह मध्ययुग ही उत्सृजित है। काव्य प्रकार की दृष्टि से इस काल ने किसी को भी अस्पृष्ट नही छोडा। काव्य-क्षेत्र की कोई ऐसी विधा नही जो इस काल मे अज्ञात बनी रह गई हो। अपूर्व जीवनी शक्ति और प्रौढ विचार धारा की दृष्टि से इस देश के विशाल-जन-समूह को अपने आरभिक काल से लेकर सम्प्रति काल तक आन्दोलित और प्रेरित करने वाला साहित्य दूसरा नही दृष्टिगत होता जिसने काव्य की महिमा रक्षा के साथ धर्म की रसात्मकता को अभिप्राप्त कर अनेक सम्प्रदायों से लेकर लोक-जीवन के दैनन्दिन आचार-व्यवहार मे युगपत आसन ग्रहण कर लिया हो। इस काल का साहित्य भारतीय मनीषा के एकत्र चिंतन के मन्थन का काल है, उसके विविध दर्शन का जीता जागता स्वरूप है, वह जीवन के शाश्वत सुख और शांति के सन्धानार्थ साधन रूप औषधिविशेष है। यह साहित्य उन अनुभूति प्रवण सन्तो, महात्माओ एव उच्चकोटि के भक्तो द्वारा सृष्ट है जो उक्त शब्दो के वास्तविक अभिधेय का निरूप स्थापित करते हैं। त्रिविध स्वानुभूत सत्य और अधीत ज्ञान का ऐसा अद्भुत मणिकाचन योग अन्यत्र दुर्लभ है। इस युग का साहित्य बाह्य दृष्टि से भिन्न दृष्टि होने पर

डॉक्टरेट की उपाधि के लिए स्वीकार किया। इसमें, जैसा स्वयं शोधकर्ता ने प्रमाणित है, कबीर से लेकर बाबालाल, प्राणनाथ एवं शिवदयाल तक की वाणी विषय अध्ययन का आधार है। विषय विस्तार के कारण लेखक तद्युगीन कवियों की माया धारणा पर प्रभूत विचार प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा है। दूसरे सन्तों के मतों के आत्मा, परमात्मा एवं जगत् प्रभृति सम्बन्धी मत विवेचन क्रम में उनके कतिपय दार्शनिक दोषों का प्रत्यारोपण किया गया है। डा० बड़थ्वाल ने इन सन्तों में तीन प्रकार की दार्शनिक विचार धाराओं के उदाहरण पाए हैं और उन्हें परंपरागत वेदान्तीय नामानुसार अद्वैत, भेदाभेद व विशिष्टाद्वैत कहा है। प्रथम में कबीर आदि तथा दूसरे में शिवदयाल और उनके अनुयायी आते हैं। सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में डा० बड़थ्वाल की आलोचना की दृष्टि से बड़ा महत्त्व नहीं क्योंकि उन्होंने छिटपुट ढंग से ही कवियों के माया विषयक मतों का उल्लेख किया है। किन्तु उनकी उपलब्धि शोधक्षेत्र में सर्वाधिक है और वह यह कि उन्होंने सन्त साहित्य को अभी तक उपेक्षित समझे जाने वाली रचनाओं को उचित महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा की है। साथ ही सन्तों की दार्शनिक विचार धारा की गम्भीरता की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने का तथा उनकी साम्प्रदायिक साधना के गूढ़ रहस्यों तक को सुलझाने की दृष्टि से अनेक महत्त्व प्रदान किया है।

अन्य रचनाओं में सन्त कवियों के सर्वांगीण रचनात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से डा० रामखेलावन पाण्डेय का "मध्यकालीन सन्त साहित्य" उत्तम है। इस पर लेखक को सन् १९५२ में पटना वि० वि० ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत ग्रन्थ के सातवें अध्याय के "चिन्ताधारा" शीर्षक में माया का विवेचन सूत्र रूप में प्राप्त होता है। इसमें माया का ब्रह्म, सगुण ईश्वर तथा जीव के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। सन्त कवियों के माया विभावन में अधिक उनकी परंपरा निदर्शन पर ही अधिक बल दिया गया है।

तीसरा शोध प्रबन्ध डा० गोविन्द त्रिगुणायत का "हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि" है जो आगरा वि० वि० द्वारा १९५० में डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इस प्रबन्ध की सर्वमान्य विशेषता यह है कि इसमें विस्तार से निर्गुण काव्यधारा को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाली प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक पद्धतियों का सविस्तार विवेचन हुआ है। इस प्रसंग में शंकर के मायावाद, ज्ञानवाद और विवर्तवाद का उल्लेख करते

हुए मायावाद के ऐतिहासिक विकासक्रम के प्रकाश में सतो की जीव संबंधी धारणाओं का निरूपण किया गया है और माया के संबंध में उनके समवेत विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

चौथा शोध प्रबंध डॉ० सत्येन्द्र का मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के प्रेमगाथा काव्य और भक्ति काव्य में लोकवार्तातत्व" है। १९५७ में आगरा वि० वि० से इस प्रबंध पर लेखक को डी०लिट० की उपाधि दी गई थी। इसके अध्याय तीन में विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं के क्रम में ब्रह्म, माया, सहज आदि का उद्भव तथा इन धाराओं के विकास का क्रम निरूपित किया गया है किन्तु इसमें माया का उल्लेख मात्र हुआ है।

पाँचवा शोध प्रबंध डॉ० मोती सिंह का है जिनको १९५८ में "निर्गुण साहित्य का सांस्कृतिक पृष्ठभूमि" विषय पर काशी वि० वि० ने पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की। इसके पंचम अध्याय में निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत निर्गुण सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में माया स्वरूप विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम अद्वैतवाद और निर्गुण मत, शंकर अद्वैत और संतमत, निर्गुण ब्रह्म, दार्शनिक प्रतीक निर्गुण मत में माया का स्वरूप निर्गुण मत और माया आदि शीर्षकों की योजना हुई है। किन्तु इसमें संतो के माया विचार का प्रसंग वश ही उल्लेख हुआ है उसका समुचित उल्लेख नहीं।

इस प्रसंग में श्रीमती शीलवती मिश्र का "हिंदी संतों पर वेदांत-सम्प्रदायों का ऋण" (विशेषतया तुलसी, सूर और कबीर के संदर्भ में) शोध-प्रबंध भी दिग्दर्शन्य महत्व का है। सन् १९४८ में प्रयाग वि० वि० ने दर्शन विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत प्रबंध पर डी० फिल० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबंध के छः अध्याय हैं। जिसके प्रथम में वेदांत धारा के विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में वेदांत के पांच सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय देते हुए तीसरे में मायावाद, जीव और जगत् से ब्रह्म का संबंध प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार चौथे तथा पांचवें के आधार पर कबीर और सूर की मायाविषयक सिद्धांतों की विवेचना है तथा उपसंहार में नानक, मीरा, दादू सुन्दर और सहजोबाई के दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। प्रस्तुत प्रबंध की सीमा यह है कि इसमें काव्यिक पक्ष को गौण मानते हुए उक्त दार्शनिक ढांचे को ही सवर्ग कवियों की भावनाओं में फिट कर दिया गया है।

पूर्वोल्लिखित प्रबंधों के अतिरिक्त कुछ प्रबंध आलोच्य युग के कतिपय विशिष्ट कवियों से सम्बद्ध हैं। डॉ० त्रिगुणायत कृत "कबीर की विचारधारा" श्री भगवद्दत्त

मिश्र कृत "सन्त कवि रैदास और उनका पंथ", श्री महेशचन्द्र सिंघल कृत "संत सुन्दरदास" त्रिलोकीनारायण दीक्षित कृत "चरनदास" सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचारों का अध्ययन" डॉ० जयराम मिश्र कृत "आदि श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त" और श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ कृत "जायसी, उनकी कला और दर्शन" आदि इनमें सर्वप्रमुख हैं। अब इनके वर्ण्य विषय का सर्वेक्षण भी आवश्यक है। डॉ० त्रिगुणायत का आगरा वि० वि० द्वारा पीएच० डी० के लिए उपर्युक्त स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है जिसमें आठ प्रकरण हैं। इसके चतुर्थ प्रकरण में कबीर के अध्यात्म तत्व सम्बन्धी विचारों का विवेचन है, जिसमें माया और जगत् की व्याख्या की गई है तथा उनकी दार्शनिक-पद्धति और आध्यात्मिक साधनों पर विचार किया गया है।

कबीर के माया सम्बन्धी विचारों को दार्शनिक विषयों के संदर्भ में देखने का प्रयास डॉ रामजीलाल "सहायक" ने अपने प्रबंध "कबीर दर्शन" में किया है। यह पीएच० डी० के लिए स्वीकृत प्रबंध है तथा स्वयं लखनऊ विश्वविद्यालय ने इसका प्रकाशन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में कबीर के दार्शनिक विचारों के विवेचन क्रम में यह प्रमाणित किया गया है कि "कबीर का शुद्ध तथा प्रमुख स्वरूप दार्शनिक ही है। उनका दार्शनिक स्वरूप उनकी कविता, उनकी वाणी, उनके उपदेश तथा उनकी कृतियों में ओत प्रोत है।" इसमें कबीर-के दार्शनिक विचारों से ब्रह्म आत्मा, मोक्ष, जीव, जगत् के साथ माया का विवेचन किया गया है। इस प्रबन्ध की अन्यतम विशेषता यह है कि प्रथम बार विस्तार से कबीर-पूर्व विभिन्न दार्शनिक मतवालों के साथ कवि के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उसके कतिपय शीर्षक इस प्रकार हैं—शंकर अद्वैत वेदान्त और कबीर नाथमत के दार्शनिक सिद्धान्त, वैष्णवमत बौद्ध दर्शन और कबीर, अद्वैतवाद और कबीर योग साधना और कबीर, आदि। इसी प्रकार माया सम्बन्ध से भी माया की सृजनात्मकता, माया और मन, माया भ्रमित जीव, माया का स्वरूप और स्वभाव, माया का स्थान और विस्तार माया के भेद, भ्रमरूप माया, आदि विषयों पर विचार किया गया है। फिर भी कबीर के माया-विषयक धारणाओं का सांगोपांग विवेचन यहाँ भी नहीं हो पाया है। इसमें "माया" को पूर्ण दार्शनिक विषय मानकर विवेचन किया गया है साहित्यिक नहीं।

"सन्त कवि रैदास और उनका पंथ" प्रबन्ध पर सन् १९५४ में लखनऊ वि० से श्री भगवद्व्रत मिश्र ने पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की। प्रस्तुत प्रबन्ध के सात

परिच्छदो म पाचवा परिच्छेद "रैदासजी के आध्यात्मिक सिद्धात" से शीर्षित ह। इसम ब्रह्म जीव, कमबध, स्वग, नरक, माया, ससार आदि विषयो पर रैदासजी के विचारो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कवि के माया सम्बधी विचारो का स्वतत्र निर्देश यहाँ नही हुआ है।

'सत सुदरदास" पर आगरा वि०वि० न १९५६ मे श्री सिंघल को पी एच० डी० की उपाधि दी है। इस प्रबध के चौथे अध्याय मे कवि के आध्यात्मिक विचारों की मीमासा है। जिसमे उनके साहित्य मे प्रतिपादित ज्ञान योग और भक्ति का ही निर्देश है। माया-विषय पर प्रसग की अपेक्षा से ही कतिपय बातें आई हैं।

"चरनदास, सुदरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचारो का अध्ययन" शीर्षक शोध प्रबध पर डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित को लखनऊ वि०वि० द्वारा डी० लिट० की उपाधि प्रदान की गई। इसके चौथे अध्याय "मलूक, सुन्दर तथा चरनदास की धार्मिक विचारधारा" म निगुण ब्रह्म, नाम, सद्गुरु, सन्त, सत्य आत्मा, माया, जगत् शून्य मन विश्वास और ज्ञान आदि उपशीर्षको मे तद्सम्बन्धित विचार व्यक्त किए गए हैं। इस प्रकार माया सम्बधी विचारो का वह स्वतत्र फलक नहीं प्राप्त हुआ है जो आलोच्य का उद्देश्य है।

"आदि श्री ग्रथ साहिबजी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धात पर आगरा वि० वि० द्वारा १९५६ म डॉ० जयराम मिश्र को पी एच०डी० की उपाधि मिली। प्रस्तुत प्रबध मे भूमिका और उपसहार के अतिरिक्त बारह अध्याय हैं। इसके पाचवें अध्याय म माया की व्याख्या की गई है। ज्ञातव्य है कि उक्त लेखक द्वारा यह माया विश्लेषण की सामग्री "नानकवाणी" के प्रकाशन क्रम मे उपयोग में लाई गई है जिसके संपादक श्रीकृष्णलाल हैं। किंतु नानक के सदर्भ में उल्लिखित इसमे सन्निहित विचारो को "इदमलम" नहीं कहा जा सकता।

प्रेमाख्यानक-कवि जायसी के काव्य और दशन से सम्बन्धित प्रस्तुत "जायसी उनकी कला और दशन" प्रबध १९४८ ई० म आगरा वि०वि० द्वारा पी एच०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत है। इसके लेखक श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ हैं। ग्यारह अध्यायो मे विभक्त इस प्रबध के दसवें अध्याय म जायसी के दशन का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ईश्वर, जीव, ससार, गुरुमहत्व आदि पर विचार किया गया है किंतु माया के सम्बध में लेखक का ध्यान ही नही आकर्षित होता दिखता है।

इन शोध प्रबधों के अतिरिक्त इस प्रसग मे कुछ आलोचना ग्रथो का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है। इसमे सन्त साहित्य के ममज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी के "उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' का स्थान सवप्रमुख है। इसम "भारतीय साधना

के प्रारम्भिक विकास का निरूपण करते हुए विभिन्न सम्प्रदायों का इतिहास तथा उनके साम्प्रदायिक पुरुषों के उपदेशों का विस्तृत वर्णन है। तदनन्तर कबीर के पूर्व कालिक सन्तों जयदेव, सधना, वेणी और नामदेव आदि की जीवनी परिचय तथा उनके सिद्धान्तों का पृष्ठभूमि के रूप में उल्लेख के साथ द्वितीय अध्याय में "कबीर साहब के मत" के अन्तर्गत सृष्टि की लीला, आत्म-तत्त्व तथा मायातत्व का उल्लेख हुआ है। इस पुस्तक में कबीर के अतिरिक्त उनके समसामयिक सन्तों जैसे सेन, पीपा, रैदास, धन्ना आदि के जीवन तथा रचनाओं से सम्बन्धित अधिकाधिक बातों पर प्रकाश डाला गया है किन्तु तत्तत् कवियों की माया-भावना से सम्बन्धित बातें अविवेचित ही रह गई हैं। इसी प्रकार नानक, अंगद, अमरदास, दादू, सुन्दर आदि परवर्ती सन्तों के माया सिद्धान्तों के साथ उक्त भाव ही अपनाया गया है।

अन्य पुस्तकों में डा० रामकुमार वर्मा की "कबीर का रहस्यवाद" तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की "कबीर" उल्लेख्य है। डॉ० वर्मा ने कबीर-दर्शन में माया का महत्व स्वीकार किया है तथा "रमैनी" और शब्दों के आधार पर ईश्वर और माया की मीमांसा की है। डॉ० द्विवेदी ने भी इस प्रसंग में वही आधार ग्रहण किया है। अन्य आलोचना पुस्तकों में लगभग इन्हीं धारणाओं का विविध रूपों में वर्णन किया गया है।

कृष्णभक्ति काव्य के संदर्भ में यह पूर्व निर्दिष्ट है कि अष्टछाप के कवियों का साहित्य ही सगुण भक्ति की उक्त धारा का प्राण है। आचार्य शुक्ल से लेकर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी तक के साहित्येतिहासकारों ने कृष्णभक्ति धारा में उन्हीं आठ कवियों का स्थान प्रमुख माना है। सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के दार्शनिक विचारों की मीमांसा प्रस्तुत करने वाला पहला प्रबन्ध है डॉ० दीनदयालु गुप्त का "वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों का अध्ययन।" उक्त शोध-प्रबन्ध पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने डॉ० गुप्त को सन् १९४४ में डी० लिट० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सं० २००४ में हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में चार और द्वितीय भाग में तीन अध्याय हैं। इस प्रकार द्वितीय भाग के पांचवें अध्याय में कवियों के दार्शनिक विचारों का उपस्थापन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम शुद्धाद्वैतवाद का विशिष्ट परिचय दिया गया है और तदनन्तर ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और मोक्ष आदि शीर्षकों के अन्तर्गत उक्त सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय देकर अष्टछाप के कवियों के दार्शनिक विचारों की मीमांसा की गई है। इस शोध का महत्व अष्टछाप कवियों के दार्शनिक विचारों का प्रथम बार पुनरानेखित करने में है। इसमें

वल्लभ सम्प्रदाय म माया सम्ब धी मायताओ क आधार पर ही अष्टछापी कवियों म उसकी विनियोग प्रणाली का निदशन किया गया है और आलोच्य का दृष्टि से यहाँ उसकी सीमा है। माया सम्बन्धी विचारों को न तो यहाँ विस्तृत आधार ही मिला है और न उसका स्वतत्र विवचन ही हुआ ह।

सूर की रचनाओ एव उनकी दार्शनिकता स सम्बन्धित दूसरा शोध-प्रबन्ध है, डा० हरवश लाल शर्मा का "सूरदास और उनका साहित्य" जिसक प्रकाशित रूप पर ही नागपुर वि०वि० ने लेखक को सन् १६५५ मे डी०लिट० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत प्रबध ग्यारह भागो म विभक्त ह, जिसक आठव अध्याय म "सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो' पर विचार किया गया है। इसम सवप्रथम भागवत तथा वल्लभाचाय के दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण करते हुए श्री कृष्णलीलाओ क आध्यात्मिक पक्ष तथा प्रतीकाय पर विचार कर अन्त म ब्रह्म, जीव, जगत् और ससार, माया और मोक्ष आदि शीषको के अन्तगत सूर के दार्शनिक प क्ष का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु कवि क माया-सम्बन्धी विचारो पर विस्तार के साथ विवचन नहीं हुआ है।

अष्टछाप क अन्य कवियो म परमानन्ददास और नन्ददास, सूर के बाद विवेचना क विषय बन हैं। परमानन्ददास म सम्बन्धित शोध-कार्यों म सवप्रथम "कविवर परमानन्द दास और उनका साहित्य" उल्लेख्य महत्व का अधिकारी ह। प्रस्तुत प्रबध पर अलीगढ़ वि०वि० न श्री गोवधन नाथ शुक्ल का १६५६ म पी एच०डी० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत प्रबन्ध म उद्दिष्ट कवि की जीवनी तथा उनके काव्य का विस्तृत समीक्षा की गई है। रचनाओ के वणन प्रसग म शोधकर्त्ता का यह निष्कष विवेच्य विषय की दृष्टि स महत्वपूण है कि कवि का मुख्य उद्देश्य भगवल्लीला का गायन ही था, शुद्धाद्वैत का व्यवस्थित दार्शनिक प्रतिपादन नहीं। इसी प्रसग म लखक न ब्रह्म, जीव, जगत्, और माया के सम्बन्ध म विचार किया है यद्यपि प्रतिपाद्य क्रम म शुद्धाद्वैतवाद के अनुकूल विचारो की परिणति परिदशनीय है।

अष्टछाप कवियो के समग्र अध्ययन म कुमारी मायारानी टडन का भी योग-दान है। "अष्टछाप कवियों की कविता का सास्कृतिक अध्ययन' शीषक प्रबन्ध पर लखनऊ वि०वि० ने १६६० म उन्हें पीएच०डी० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत प्रबन्ध म लगभग ८ परिच्छेद हैं जिसके सप्तम परिच्छेद म भक्ति धम सम्बन्धी तथा अष्टम मे दार्शनिक विचारो का अध्ययन किया गया है। इसमें माया का सूत्र रूप म उल्लेख है जिसे विषय की दृष्टि से अत्यल्प कहा जा सकता है।

पड़ता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शोध प्रबन्ध तथा आलोचना पुस्तकें हैं जिनमें कवि के दार्शनिक के परिवेश में उनके माया विभावन को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

श्री रामपति शुक्ल के डी०लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध "तुलसीदास और उनका युग" का सप्तम परिच्छेद "तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण" शीर्षित है। इसमें समालोचकों की विभिन्न धारणाओं की आलोचना प्रत्यालोचना के पश्चात् कवि के माया परमात्मा, जीव, जगत् साधन मार्गादि सम्बन्धी विचारों को चर्चा करते हुए यह स्थापित है कि तुलसी का अभिमत सिद्धान्त द्वैत है क्योंकि कवि उपास्य और उपासक दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकारते हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख्य योग्य है कि लेखक कवि को एक निश्चित वाद के कटघरे में बन्द करना चाहता है जो कवि की विराट् भावना के अनुकूल नहीं।

१९५३ में श्री रामदत्त भारद्वाज को "तुलसी का दर्शन" प्रबन्ध पर आगरा वि० वि० द्वारा पी एच०डी० की उपाधि मिली। इस ग्रंथ में १४ अध्याय हैं। चौथे अध्याय में माया का विवेचन है। माया की विशेषताएँ, ब्रह्म और माया का सम्बन्ध शंकर तथा वैष्णव आचार्यों के अनुसार मायादि की व्याख्या करके तुलसीदास की माया सम्बन्धी मान्यताओं का अध्ययन किया गया है। यह प्रबन्ध दर्शन विभाग के अन्तर्गत स्वीकृत है।

श्री राजाराम रस्तोगी को उनके प्रबन्ध "तुलसीदास जीवनी और विचार धारा" पर पटना वि० वि० ने १९५७ में पी०एच०डी० की उपाधि प्रदान की। इसके द्वितीय खंड के अंतिम अध्याय में तुलसी के दार्शनिक अभिप्राय पर आलोचकों के विचारों की समीक्षा करते हुए माया, जीव, जगत् आदि विषयों की चर्चा की गई है। इसमें माया सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन की दृष्टि से टिप्पण मात्र हुआ है।

डॉ० उदयभानु सिंह को १९६० में लखनऊ वि० वि० द्वारा "तुलसी-दर्शन मीमांसा" पर डी०लिट्० की उपाधि दी गई। यह प्रबंध सं० २०१८ में लखनऊ वि० वि० द्वारा प्रकाशित भी हुआ है। यह ग्रंथ नौ अध्यायों में विभाजित है। इसके द्वितीय अध्याय "ब्रह्मराम" के अन्तर्गत माया के विविध अर्थ, माया के रूप, राम की माया, माया, सीता और प्रकृति आदि विषयों पर विचार उल्लिखित हैं। माया-भावना की दृष्टि से इस प्रबन्ध की कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं। अन्य पूर्व स्वीकृत प्रबन्धों के सन्दर्भ में उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें माया का केवल दार्शनिक मतवादों की पृष्ठभूमि में विचार नहीं किया गया है अपितु उसके साहित्यिक सन्दर्भ को आलोकित कर उसके विविध अर्थों को भी उदाहृत किया गया है।

इस दिशा म एक और भी शोध-प्रब ध "जबलपुर वि०वि०म स्वीकृत होकर "रामचरित मानस" का तत्वदशन" नाम से छपा है। इसके लेखक है डॉ० श्रीश-कुमार। इन्होंने ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष आदि विषयों पर अद्वैतवाद (शकर) की दृष्टि से विचार किया है। और लेखक का दावा है कि गोस्वामी जी के विचार निश्चित रूप से इसी स मछन्न है। इस शोध प्रब ध की यही सीमा है तथा माया का धारणा के सम्ब ध मे भी लेखक ने मानस को समानान्तर पक्तियों तथा अद्वैतवादी विचारो को तुलित करने का प्रयास किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ आलोचना ग्रथो का महत्व भी उल्लख्य है। इसम प० रामबनी पाण्ड प्रणीत "तुलसीदास" का नाम सवप्रथम आता है। इस पुस्तक के भक्ति निरुपण शीषक अध्याय मे कवि के माया सम्ब धी विचारो का उल्लेख है। पर यह विषय की दृष्टि से नाटिम मात्र है।

१९१० म प्रकाशित मिश्रबन्धुओ के "हिन्दी नवरत्न" म वर्णित नौ कवियो मे तुलसीदास पर विचार किया गया है जिसम प्रसग वश उन्होने आलोच्य की मात्र चर्चा की है।

डॉ० श्रीकृष्णलाल की पुस्तक "मानस दशन" म सूत्र रूप म कवि क माया सम्ब धी विचारो का पल्लवन हुआ है।

"गोस्वामी तुलसीदास" पुस्तक श्री शिवन दन सहाय द्वारा रचित आचाय नलिन विलोचन शर्मा के सपादकत्व म निकली है। इसक नवविशति परिच्छेद के गोसाई जी का मत शीषक म माया का उल्लख हुआ है।

"सत तुलसीदास और उनका काव्य" मे डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी न कवि के दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया है। इसम भी मायावाद की चर्चा है। इसम भक्ति की मान्यता मे माया का क्या स्थान है? इसी पर किंचित् विचार किया गया है १९२९ म श्री रामचन्द्र द्विवेदी का "तुलसी साहित्य रत्नाकर" प्रकाशित हुआ। इसके आदि खड म तुलसीदास का जीवन-चरित्र, मध्य म विरचित ग्रथो का परिचय तथा अवसान म ग्रथ लोचन है। उक्त अवसान खड म २४ निबन्ध है जिनमें कुछ उल्लेख-नीय निब ध इस प्रकार हैं। वद और तुलसीदास, दशन और तुलसीदास, कवित्व और तुलसीदास।

१९३१ म बाबू श्यामसुन्दर दास तथा पीताबर दत्त बडथ्वाल की पुस्तक गोस्वामी तुलसीदास प्रकाशित हुई, जिसमे सगृहीत चतुदश निबन्धो म "तत्वसाधन" शीर्षक से १३वा निबन्ध है—इसम तुलसी के माया पर प्रसगानुरोध से विचार किया गया है।

पड़ता है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य शोध प्रबन्ध तथा आलोचना पुस्तकें हैं जिनमें कवि के दार्शनिक परिवेश में उनके माया विभाजन को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

श्री रामपति दीक्षित के डी०लिट० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध "तुलसीदास और उनका युग" का सप्तम परिच्छेद "तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण" शीर्षित है। इसमें समीक्षकों की विभिन्न धारणाओं की आलोचना प्रत्यालोचना के पश्चात् कवि के माया, परमात्मा, जीव, जगत्, मोक्ष मार्गादि सम्बन्धी विचारों की चर्चा करते हुए यह स्थापित है कि तुलसी का अभिमत सिद्धान्त द्वैत है क्योंकि कवि उपास्य और उपासक दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकारते हैं। इस सदर्भ में यह उल्लेख्य योग्य है कि लेखक कवि को एक निश्चित वाद के कठघरे में बन्द करना चाहता है जो कवि की विराट भावना के अनुकूल नहीं।

१९५३ में श्री रामदत्त भारद्वाज को "तुलसी का दर्शन" प्रबन्ध पर आगरा वि० वि० द्वारा पी एच०डी० की उपाधि मिली। इस ग्रंथ में १४ अध्याय हैं। चौथे अध्याय में माया का विवेचन है। माया की विशेषताएँ, ब्रह्म और माया का सम्बन्ध शंकर तथा वैष्णव आचार्यों के अनुसार मायादि की व्याख्या करके तुलसीदास की माया सम्बन्धी मान्यताओं का अध्ययन किया गया है। यह प्रबन्ध दर्शन विभाग के अन्तर्गत स्वीकृत है।

श्री राजाराम रस्तोगी का उनके प्रबन्ध "तुलसीदास जीवनी और विचार धारा" पर पटना वि० वि० ने १९५७ में पीएच०डी० की उपाधि प्रदान की। इसके तृतीय खंड के अंतिम अध्याय में तुलसी के दार्शनिक अभिप्राय पर आलोचकों के विचारों की समीक्षा करते हुए माया, जीव, जगत् आदि विषयों की चर्चा की गई है। इसमें माया सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन की दृष्टि से टिप्पण मात्र हुआ है।

डॉ० उदयभानु सिंह को १९६० में लखनऊ वि० वि० द्वारा "तुलसी-दर्शन मीमांसा" पर डी०लिट० की उपाधि दी गई। यह प्रबन्ध स० २०१८ में लखनऊ वि० वि० द्वारा प्रकाशित भी हुआ है। यह ग्रंथ नौ अध्यायों में विभाजित है। इसके द्वितीय अध्याय "ब्रह्मराम" के अन्तर्गत माया के विविध अर्थ, माया के रूप, राम की माया, माया, सीता और प्रकृति आदि विषयों पर विचार उल्लिखित हैं। माया-भावना की दृष्टि से इस प्रबन्ध की कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं। अन्य पूर्व स्वीकृत प्रबन्धों के सदर्भ में उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें माया का केवल दार्शनिक मतवादों की पृष्ठभूमि में विचार नहीं किया गया है अपितु उसके साहित्यिक सदर्भ को आलोकित कर उसके विविध अर्थों को भी उदाहृत किया गया है।

इस दिशा म एक और भी शोध प्रब ध "जबलपुर वि०वि०से स्वीकृत होकर "रामचरित मानस" का तत्वदर्शन" नाम से छपा है। इसके लेखक हैं डॉ० श्रीश-कुमार। इन्होने ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष आदि विषयो पर अद्वैतवाद (शकर) की दृष्टि स विचार किया है। और लेखक का दावा है कि गोस्वामी जी के विचार निश्चित रूप से इसी म सन्निहित हैं। इस शोध प्रबन्ध की यही सीमा है तथा माया का धारणा के सम्बन्ध मे भी लेखक ने मानस को समानान्तर पक्तियां तथा अद्वैतवादी विचारो का तुलित करने का प्रयास किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ आलोचना ग्रथा का महत्व भी उल्लेख्य है। इनम प० रामबली पाण्डेय प्रणीत "तुलसीदास" का नाम सवप्रथम आता है। इस पुस्तक के भक्ति निरुपण शीर्षक अध्याय म कवि के माया सम्बन्धी विचारो का उल्लेख है। पर यह विषय की दृष्टि से नोटिस मात्र है।

१६१० म प्रकाशित मिश्रबन्धुओ के "हिन्दी नवरत्न" म वर्णित नौ कवियों म तुलसीदास पर विचार किया गया है जिसम प्रसग वश उन्होने आलोच्य की मात्र चर्चा की है।

डॉ० श्रीकृष्णलाल की पुस्तक "मानस दर्शन" म मूल रूप म कवि के माया सम्बन्धी विचारो का पल्लवन हुआ है।

"गोस्वामी तुलसीदास" पुस्तक श्री शिवनन्दन सहाय द्वारा रचित आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के सपादकत्व म निकली है। इसके नवविंशति परिच्छेद के गोसाई जी का मत शीर्षक म माया का उल्लेख हुआ है।

"सन्त तुलसीदास और उनका काव्य" म डा० राजेश्वर चतुर्वेदी ने कवि के दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया है। इसमें भी मायावाद की चर्चा है। इसम भक्ति की मान्यता म माया का क्या स्थान है? इसी पर किंचित् विचार किया गया है। १६२८ मे श्री रामचन्द्र द्विवेदी का "तुलसी साहित्य रत्नाकर" प्रकाशित हुआ। इसके आदि खड म तुलसीदास का जीवन-चरित्र, मध्य म विरचित ग्रथो का परिचय तथा अवसान म ग्रन्थ लोचन है। उक्त अवसान खण्ड म २४ निबन्ध है जिसम कुछ उल्लेख-नीय निबन्ध इस प्रकार है। वेद और तुलसीदास, दर्शन और तुलसीदास, कवित्व और तुलसीदास।

१९३१ म बाबू श्यामसुन्दर दास तथा पीताम्बर दत्त बडथ्वाल की पुस्तक गोस्वामी तुलसीदास प्रकाशित हुई, जिसम सगृहीत चतुर्दश निबन्धो म "तत्वसाधन" शीर्षक से १३वां निबन्ध है—इसम तुलसी के माया पर प्रसगानुरोध से विचार किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनात्मक पुस्तक "तुलसीदास" के प्रथम खंड में आध्यात्मिक जगत् से सम्बन्धित विषय है। इसमें लोकधर्म, धर्म और जातीयता का समन्वय, लोकनीतियां और मर्यादावाद, शील साधना और भक्ति आदि शीर्षकों में गुजरते हुए अंतिम शीर्षक "ज्ञान और भक्ति का समन्वय" में दिखाया गया है कि कवि में ज्ञान और भक्ति का समन्वय मिलता है। इस प्रकार इन निबन्धों में स्वतंत्र रूप से माया सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश नहीं डाला गया है केवल प्रसंगानुरोध से यत्र-तत्र चर्चा कर दी गई है।

डॉ० भगीरथ मिश्र की पुस्तक "तुलसी रसायन" के चार खंडों में आलोचना खंड के अन्तर्गत "दार्शनिक विचार" नामक शीर्षक में माया पर अत्यन्त मात्रा में विचार किया गया है।

"साहित्य सम्राट तुलसीदास" में श्री गंगाधर मिश्र ने "तुलसी का दार्शनिक समन्वय" शीर्षक उप अध्याय में कवि की समन्वय दृष्टि पर विचार किया है।

उपयुक्त लिखित पुस्तकों के अतिरिक्त समय-समय पर पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ निबन्धों का भी विषय की दृष्टि से महत्व स्वयं सिद्ध है। उनमें पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का 'गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार', प्रो० बालाप्रसाद का 'तुलसीदास के दार्शनिक विचार' तथा "मानसमणि" में संगृहीत अरण्यकांड का वशिष्ट्य आदि निबंधों का प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से विस्तृत महत्व है। पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने इस निबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोस्वामी जी सर्वथा शंकर अद्वैत के अनुयायी थे। यह निबन्ध विचार-पूर्ण अवश्य है पर सत्य को कदाचित् अज्ञात ही उपस्थित करता है। बालाप्रसाद के अनुसार किसी एक दार्शनिक सिद्धांत को जो पूर्ण अनुसार मानस में नहीं दिखाई पड़ता, उसके मूल में दार्शनिक ओर भक्त की विभिन्न आवश्यकताएं और प्रेरणाएं हैं।"

दण्डी स्वामी ने अपने 'अरण्यकांड के वशिष्टय' में यह सिद्ध किया है कि अरण्यकांड में प्रायः माया और उसके विनाश के मूल सहायक सद्गुरु का ही विवेचन किया गया है।

उक्त विवेचन से समग्र रूप में यही निष्कर्ष निकलता है कि "मध्ययुग के भक्ति-काव्य में मायावाद" विषय अभी शोध की दृष्टि से अपने इस रूप में आलोचना अथवा उपाधि पर शोध का विषय नहीं बना है। कब निर्गुण काव्य धारा अथवा सगुण काव्यधारा अथवा निर्दिष्ट धारा के किसी कवि-विशेष की माया भावना का विवेचन एक चर्चित एवं बहुउद्धृत विषय रहा है। किन्तु विवेचन के आधार को अपना इस मीमांसा के अंतर्गत होने के कारण इसका स्पष्ट अंश भी निःसराङआदिन

हो गया है। दूसरे यह कि प्रस्तुत विषय के स्वतत्र अध्ययन का एकात अभाव है, इसका अध्ययन यदि कही हुआ है तो दार्शनिक प्रसगो के परिप्रेक्ष्य मे ही। इस प्रकार माया का साहित्यिक दृष्टि मे अथवा भक्ति की एक अनिवार्य भूमिका के रूप म अध्ययन का एकात अभाव दृष्टिगत होता है। वस्तुत कबीर से लेकर तुलसी तक के साहित्य म जहाँ भी "माया" शब्द आया है, तत्क्षण टीकाकारो ने अद्वैत-वेदान्तवाद अथवा अन्य दार्शनिक मतवादो का प्रभाव मान लिया है। इस प्रकार प्रस्तुत विषय पर क्रमबद्ध सागोपाग विवेचन का बिल्कुल अभाव है। इतस्तत छिट-पुट निर्देश मात्र से विषय और भी अधकारमय हो गया है क्योकि अधिकाधिक चर्चा होने के कारण "नको ऋणी यस्य वच प्रमाणम्" की स्थिति आ गई है। इसी विचार से इस विषय के पुखानुपुख विवेचन की आवश्यकता महसूस कर स्वय पुनर्निवेचन का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रबध म अद्यावधि प्रकाशित प्रबधो तथा आलोचना ग्रथो म प्राप्त सूत्रो का खडन मडन करते हुए माया के स्रोतो का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा माया सबधी विशिष्ट पक्षो का अध्ययन-अनुसधान प्रस्तुत तुलनात्मक निकष पर अपने कथन को प्रमाणित करने का यथासम्भव प्रयास हुआ है। इस शोध प्रबन्ध की यह स्थापना है कि माया विधान की दृष्टि से मध्ययुगीन कवियो का धरातल एक है और "प्राधान्येन व्यपदेश" के क्रम से माया सम्बन्धी एक ही विचार निर्गुण और सगुण दोनो प्रकार के विचार-सूत्रो म अन्तर्ग्रथित है जिसका "मनीफेस्टो" है "सिमरहु तू मुरार माया जाकी चेरी।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनात्मक पुस्तक "तुलसीदास" के प्रथम खंड में आध्यात्मिक जगत् से सम्बन्धित विषय हैं। इनमें लोकधर्म, धर्म और जातीयता का समन्वय, लोकनीति और मर्यादावाद, शील साधना और भक्ति आदि शीर्षकों से गुजरते हुए अंतिम शीर्षक "ज्ञान और भक्ति का समन्वय" में दिखाया गया है कि कवि में ज्ञान और भक्ति का समन्वय मिलता है। इस प्रकार इन निबन्धों में स्वतन्त्र रूप से माया सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश नहीं डाला गया है केवल प्रसंगानुरोध से यत्र-तत्र चर्चा कर दी गई है।

डॉ० भगीरथ मिश्र की पुस्तक "तुलसी रसायन" के चार खंडों में आलोचना खंड के अन्तर्गत "दार्शनिक विचार" नामक शीर्षक में माया पर अत्यल्प मात्रा में विचार किया गया है।

"साहित्य सन्दर्भ तुलसीदास" में श्री गंगाधर मिश्र ने "तुलसी का दार्शनिक समन्वय" शीर्षक उप अध्याय में कवि की समन्वय दृष्टि पर विचार किया है।

उपर्युक्त विवेचित पुस्तकों के अतिरिक्त समय-समय पर पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ निबन्धों का भी विषय की दृष्टि से महत्त्व स्वयं सिद्ध है। उनमें पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का 'गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार', प्रो० बारान्निकोव का "तुलसीदास के दार्शनिक विचार" तथा "मानसमणि" में संगृहीत अरण्यकाण्ड का वैशिष्ट्य आदि निबन्धों का प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से विस्तृत महत्त्व है। प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने उक्त निबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोस्वामी जी सर्वथा शंकर अद्वैत के अनुयायी थे। यह निबन्ध विचार-पूर्ण अवश्य है पर सत्य का कदाचित् अंशतः ही उद्घाटन करता है। बारान्निकोव के अनुसार 'किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त का जो पूर्ण अनुसार मानस में नहीं दिखाई पड़ता, उसके मूल में दार्शनिक और भक्त की विभिन्न आवश्यकताएं और प्रेरणाएं हैं।'

दण्डी स्वामी ने अपने 'अरण्यकाण्ड के वैशिष्ट्य' में यह सिद्ध किया है कि अरण्यकाण्ड में मुख्यतः माया और उसके विनाश के मूल सहायक सद्गुरु का ही विवेचन किया गया है।

उक्त विवेचन से समग्र रूप में यही निष्कर्ष निकलता है कि "मध्ययुग के भक्ति-काव्य में मायावाद" विषय अभी शोध की दृष्टि से अपने इस रूप में आलोचना अथवा उपाधि पर शोध का विषय नहीं बना है। वैसे निर्गुण काव्य धारा अथवा सगुण काव्यधारा अथवा निर्दिष्ट काल के किसी कवि-विशेष की माया भावना का विवेचन एक बहुचर्चित एवं बहुउद्धृत विषय रहा है। किन्तु विवेचन के आधार की अपनी इस मीमांसा के अन्तर्गत होने के कारण इसका स्पष्ट अंश भी तिमिराच्छादित

हो गया है। दूसरे यह कि प्रस्तुत विषय के स्वतंत्र अध्ययन का एकांत अभाव है, इसका अध्ययन यदि कहीं हुआ है तो दार्शनिक प्रसंगों के परिपेक्ष्य में ही। इस प्रकार माया का साहित्यिक दृष्टि से अथवा भक्ति की एक अनिवार्य भूमिका के रूप में अध्ययन का एकांत अभाव दृष्टिगत होता है। वस्तुतः कबीर से लेकर तुलसी तक के साहित्य में जहाँ भी "माया" शब्द आया है, तत्क्षण टीकाकारों ने अद्वैत-वेदान्तवाद अथवा अन्य दार्शनिक मतवादों का प्रभाव मान लिया है। इस प्रकार प्रस्तुत विषय पर क्रमबद्ध सांगोपांग विवेचन का बिल्कुल अभाव है। इतस्ततः छिट-पुट निर्देश मात्र से विषय और भी अंधकारमय हो गया है क्योंकि अधिकाधिक चर्चा होने के कारण "नैको ऋषी यस्य वचः प्रमाणम्" की स्थिति आ गई है। इसी विचार से इस विषय के पुंखानुपुंख विवेचन की आवश्यकता महसूस कर इसके पुनर्विवेचन का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में अद्यावधि प्रकाशित ग्रंथों तथा आलोचना ग्रन्थों में प्राप्त सूत्रों का खण्डन-मण्डन करते हुए माया के स्रोतों का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा माया संबन्धी विशिष्ट पक्षों का अध्ययन-अनुसंधान प्रस्तुत तुलनात्मक निकष पर अपने कथन को प्रमाणित करने का यथासम्भव प्रयास हुआ है। इस शोध प्रबन्ध की यह स्थापना है कि माया विधान की दृष्टि से मध्ययुगीन कवियों का धरातल एक है और "प्राधान्येन व्यपदेश" के क्रम से माया सम्बन्धी एक ही विचार निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के विचार-सूत्रों में अन्तर्ग्रथित है जिसका "मतादर्श" है "सिमरहु तू मुरार माया जाको चेरा।"

प्रथम अध्याय

मायावाद का ऐतिहासिक विकास-क्रम :

स्वानुकूल परिष्कृतियों और विकृतियों पर एक दृष्टि

माया एक दार्शनिक विभावन है, जो हिन्दू आदर्शवाद में पारस्परिक साहित्य और अभिव्यक्ति के विभिन्न मार्गों में नियुक्त ब्राह्मणीय विचार-धारा और उसके उप वर्गीकरणों में साराध्य के साक्षात्कार के सम्बन्ध की बुनियादी और एक सामान्य व्याख्या के रूप में सन्निहित है। भारतीय इतिहास के विशिष्ट युगीन परिप्रेक्ष्य में, यद्यपि इसकी अर्थ भूमि में अभिव्यक्ति-वैचित्र्य के साथ वस्तु वैविध्य जन्य परिवर्तन भी होते रहे हैं, तथापि इसके अन्तर्निहित तत्त्व को भारतीय दर्शन के अनेक दार्शनिक विचारों में से प्रायः सभी ने एकान्त ग्रहण किया है। माया, दर्शन के क्षेत्र में साहित्य-जगत् की वस्तु भी कम नहीं रही है। वस्तुतः साहित्य में आकर इसके प्रयोग और अर्थ का एक असीम विस्तार प्राप्त हुआ है, जिसमें कभी तो यह सृष्टि की उद्भाविका तथा नियामिका शक्ति बन बैठी है और कभी लोक-जीवन के मध्य अनन्त नाच नचाने वाली व्यामोहिका शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। वैदिक युग से लेकर बीसवीं सदी तक दर्शन और साहित्य तक का विवेच्य तथा अनेक विध उदाहृत इस तरह का दूसरा कोई भी शब्द भारतीय वाङ्मय में प्राप्त नहीं है। मनुष्य की परम शान्तिमय भक्ति, लोक जीवन की वस्तु विषयक सर्वकोटिक स्वार्थपरता तथा मुक्ति का सफल अभियान विराग वर्णित होते हुए भी इसी से सम्बद्ध है। यह माया ही है जिसका राग अलाप कर, नाक में परस्पर यह कहकर वैयक्तिक वैमनस्य और झगड़ा टाल दिया जाता है, 'यह धन, दौलत, पुत्र-कलत्र सब माया है', नाशवान है। इस प्रकार यह माया शब्द एक साथ जैसे शास्त्र, साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, और जीवन में समान रूप से व्याप्त है? यही कारण है कि कोशों में "माया" के अनेक अर्थ बताए गए हैं। श्री वामन शिवराम आप्टे ने 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति "मीयते अनया × मा × य × टाप् या तन्वम्" से मानी है और अर्थविधान की दृष्टि से निम्नलिखित उद्धरणी दी है। "१—धोखा, जालसाजी, कपट, धूर्तता, दाँव, युक्ति, चाल—पंचदशी ११.५६, २—जादूगरी, अभिचार, जादू टोना, इन्द्रजाल—स्वप्नो नु

माया नु मतिभ्रमो नु—ग्रा० ६।७, ३—अवास्तविक या मायावी बिंब, कल्पना सृष्टि, मनोलीला, अवास्तविक आभास, छाया माया मयोऽभाय पराक्षितो सि-रघुवंश २।६२, प्राय समास के प्रथम पद के रूप मे प्रस्तुत हो कर "मिथ्या", "आभास", "छाया" अर्थ को प्रकट करता है—उदा० मारीचवचनम् "मिथ्याशब्द" मायामृग आदि ४—राज नतिक दाँवपेंच, चाल, युक्ति, कूटनीति की चाल, ५—(वेदान्त मे) अवास्तविक, एक प्रकार की भ्रांति जिसके कारण मनुष्य इस अवास्तविक विश्व को वास्तविक तथा परमात्मा से भिन्न अस्तित्ववान् समझता है, ६—(सांख्य मे) प्रधान या प्रकृति, ७—दुष्टता, ८—दया, करुणा, ९—बुद्ध की माता का नाम। सम० आधार, धोखे से काम करने वाला।

इसी प्रकार, "माया वत्" मायाविन तथा "मायिक" आदि शब्द भी माया के वजन पर ही बनाए गए हैं जिनका अर्थ क्रमश कपटपूर्ण, कूटनीति का प्रयोग करने वाला, तथा कपटमय है।

शब्द कल्पद्रुम मे राजा राधाकान्त देव ने उसके तीसरे भाग मे माया के सबंध मे एक विशिष्ट टिप्पणी दी है। माया—स्त्री० (मायते अपरोक्षवत् प्रदश्यते नया इति। म×"माच्छासमिलू या य।" उदा० ४।२०९ इति य टाप।) इन्द्रजालादि।

तत्पर्याय। शाम्बरी इत्यमर २।१०।११ इन्द्रजालि, कुहकम्, कुसृति, शाम्बरि (मोमित जानाति सत्यात्यनयति×भा×य टाप।) कृपा, दम्भ। इति मेनार्थे हमचन्द्र। शठता यथा—"माया तु शठता शठ्य कुसृतिनिंकृति स्वसा" (प्रहा यथा ऋग्वेद २।१०।८।) इसी प्रकार मायाकार, मायाकृत, मायाजीवी, मायाति, मायार, मायामोह, मायावान्, मायावी आदि शब्दो का तत्बोधात्मक अर्थ मे ही प्रयोजन सिद्ध हुआ है।

हिन्दी कोशकारों ने "माया" के अर्थाभिमान मे संस्कृत कोशो का ही आधार ग्रहण किया है। वृहत् हिन्दी कोश[२] मे इसके निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं। धोखा, कपट, इन्द्रजाल जादू, परमेश्वर की अव्यक्त बीजरूप शक्ति जो प्रपंच की कारणभूता है, प्रकृति, अविद्या, जीव को बाँधने वाले चार पाशो मे से एक (शैवागम), मोहकारिणी शक्ति लक्ष्मी, दुर्गा, प्रज्ञा (व०), कृपा, बुद्ध की माता का नाम लीला, करामात (यह सब उन्हीं की माया है), धन-दौलत हि० ममता,

१—शब्द कल्पद्रुम भाग ३, चौखम्भा वाराणसी, पृ०,, ७०१, ७०२।

२—वृहत् हिन्दी कोश सं० मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव आदि ज्ञानमंडल, वाराणसी, पृ० १०६६।

सांसाराशक्ति पुव कलत्रादि मे राग और दूसरे कोशों म इससे कुछ अधिक अथ दिए हैं। जैसे-लक्ष्मी, द्रव्य, सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण द्रुद्वत्रा नामक वर्णावृत का एक उपभेद। मयदानव की कन्या जिससे खर, दूषण त्रिशिरा और शूपणखा पैदा हुए थे। दुर्गा, ममत्व, किसी देवता की कोई लीला, शक्ति या प्रेरणा।

लेटिन में इसके समकक्ष "मिरस" **Mirus** शब्द मिलता है, जिसका अथ "वण्डरफुल" किया जाता है। इसी प्रकार अवेस्ता म "मायु" **Mayu** शब्द की प्राप्ति होती है जो स्किलफुल, क्लेमर (कुशल, चालाक) के अथ में प्रयुक्त है जिसका आधारिक अथ "परिवत्तन" अथवा धोखा देने के अथ म है।[१] इस प्रकार इन अन्य प्राचीन भाषाओं के शब्द और तज्जन्य अथ वैदिक "माया" और उसके अथ के बहुत निकट हैं। अपने यहाँ भी संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं जैसे तमिल, तेलगू, मराठी, मलयालम, गुजराती और बंगला आदि प्राचीन किन्तु समय भाषाओं के साहित्य और धमदर्शन ग्रंथों म, इसके प्रयोग प्रभूत मात्रा म देखने को मिलते हैं। वस्तुत शब्द की दृष्टि से मायावाद अत्यन्त प्राचीन है उतना प्राचीन जितना भारतीय ब्रह्मज्ञान। वाद की दृष्टि मे अपनी पूर्णता मे इसने शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त (ब्रह्मसूत्र भाष्य) के साथ जन्म ग्रहण किया। शंकर के पूव के साहित्य ग्रंथों में माया का यह अथ कदापि गृहीत नहीं हुआ है तथा उनके बाद के ग्रंथों में भी केवल उन्हीं की स्थापना से सवलित अथ की व्याप्ति नहीं, ऐसा निस्सदेह कहा जा सकता है। यद्यपि संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यों, टीकाकार ने यह बहुत बड़ा भ्रम [illegible] है कि शंकर के पश्चाद्वर्ती साहित्य में जहाँ कहीं भी 'माया' शब्द पाया है, उन्हीं के सिद्धान्त के अनुकूल उसके अथ का प्रतिपादन किया है अथवा उसे अनेक प्रकार से घुमा फिराकर वहाँ लाने की चेष्टा की है, जहाँ से शंकर ने आरम्भ किया था। वस्तुत दर्शन के क्षेत्र में एक समय यह "वेदान्त केसरी" सबका सिरमौर बना हुआ था और इस प्रभाव से साहित्य भी अपने को असम्पृक्त नहीं रख सका। प्रस्तुत अध्याय में माया का शब्द, सिद्धान्त और अर्थविधान को स्पष्ट संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के विस्तृत साहित्य को अनेक प्रवृत्तियों को देखने का प्रतिफल होगी जिससे हिन्दी के भक्ति-युगीन साहित्य का माया-विभावन स्वत विश्लेषित हो जाय। मायावाद की ऐतिहासिक परंपरा के इस परिच्छेद में माया का अथ विस्तार किस दृष्टि वैभिन्यता के आधार पर संभव हुआ, यही दिखलाना अभीष्ट है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम वेद का अध्ययन आवश्यक है।

१—इनसाइक्लोपीडिया रेलिजन और एथिक्स, पृ० ५०४।

ऋग्वेद

माया और मायावाद का आरम्भिक रूप वेदो में सुरक्षित है। यद्यपि वैदिक ऋषियों ने माया को परवर्ती दार्शनिक मतवादो के समानान्तर देखने का प्रयास अवश्य नही किया था। फिर भी भ्रमवश यह कहा जाता रहा है कि माया का सिद्धान्त वेदो—उपनिषदो का नही है, बल्कि अद्वैत-वेदान्त द्वारा स्वत प्रसूत है। इसके सबध में अद्यावधि के सभी दर्शनशास्त्र के अधिकारी विद्वान् एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि माया का सिद्धान्त वेद- उपनिषदों में प्राप्त है। डॉ० एम० हरियाना, डॉ० राधा कृष्णन्, प्रो० दासगुप्ता, लायर वेरीडेल कोच ए० ए० मॉक्डानल[1] तथा डॉ० रुयरेपना प्रमति विद्वानों का कथन उक्त कथन की पुष्टि के लिए है। डॉ० फतह सिंह ने अपने ग्रंथ "वैदिक दर्शन" मे पुष्कल प्रमाणो के आधार पर वेदो मे माया की अस्मिता की सशक्त व्याख्या की है। इस प्रकार माया का शब्द रूप म कहे अथवा सिद्धान्त रूप म, वेदों मे उल्लेख हुआ है। यहाँ हम सवप्रथम ऋग्वेद म प्रयुक्त माया शब्द के विभिन्न स्थलो पर प्रयोग की चर्चा सोदाहरण कर पश्चात् उसका अर्थ विश्लेषण करेंगे।

ऋग्वेद के तीसरे मडल मे इन्द्र के पुरुषार्थ की अभिशंसा म उसे "विद्यात कर्मा" की सज्ञा मे अभिहित किया गया है क्योंकि उसने माया करने वाले वृत्रादि राक्षसो का सहार कर डाला। वह अपनी माया शक्ति (भेद-नीति) से वस्तुओ को पीस डालता है।[2] पुन विश्वदेवा से प्राथना की गई है कि देवताओ की सृष्टि म उत्पन्न होने वाले मायावी असुर श्रेष्ठ कर्मों की हिंसा न करें।[3]

चतुर्थ मडल मे यह वर्णित है कि इन्द्र ने अपनी माया से दस्युओं की तीन सौ सहस्र सेना को नष्ट करने के लिए हनन करने वाले अस्त्रों से, पृथ्वी पर सुला दिया।[4] जो वृत्र समस्त जलराशि को छिपाकर सो रहा था उस कपटी और देवताओं के काय म बाधक को इन्द्र ने अपनी शक्ति से वशीभूत किया था।[5] आगे इन्द्र ने यह "स्वर्भानु" की तेजस्विनी माया का निवारण किया था, उसने

१—वैदिक साइकालोजी—ए०ए०मेकडोनल अनु० रामकुमार राय पृ० ४४।

२—ऋ० ३।२।१३।३

३—वही ३।२।१३।१६।

४—वही ३।३।३१।१।

५—म० ४ अ० ३, स० ३०।२१।

अपनी माया से अधकार द्वारा सूर्य को ढक लिया था।[१] आगे इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि तुम प्राणियों का हनन करो क्योंकि तुम शत्रुओं की माया दूर करने वाले हो।[२] इन्द्र के अतिरिक्त मित्रावरुण की प्रार्थना में यह कहा गया है—हे मित्रावरुण। जब ज्योतिर्मय भास्कर अन्तरिक्ष में घूमते हैं तब तुम दोनों की माया स्वर्ग में रहती है।[३] पुनः इन्द्र की स्तुति में यह कहा गया है कि तुम प्रचुर धन से युक्त हो। दुष्टों की माया को दूर करो।[४] तुमने शुष्ण की माया को अस्त्रों से छिन्न भिन्न कर उसके सम्पूर्ण अन्न को छीन लिया,[५] तथा मन के वेग के सदृश गतिमान उस माया द्वारा बढ़ हुए वृत्र को अपने असह्य गर्जन वाले वज्र से मार डाला।[६] तुम इसलिए पूजनीय हो कि दक्षिण-हस्त में वज्र धारण कर राक्षसों की माया छिन्न भिन्न करते हो।[७] सोम की अभ्यर्थना करते हुए अभ्यर्थना करते हुए वैदिक ऋषि कहता है इसी सोम ने गायों के हरणकर्ता असुरों के आयुओं और माया को नष्ट कर दिया था।[८] अतः तुम शत्रु नगरों के ध्वंसक हो और उनकी माया के नाशक भी। इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूप धारण कर यजमानों के पास जाते हैं।[९] सातवें मंडल में यह आया है कि जो पुरुष मेरे उत्तम कर्म की प्रशंसा करें वे रणभूमि में उपस्थित हो कर राक्षसों की माया को नष्ट करें।[१०] अष्टममंडल में पुनः इन्द्र का स्तवन यह कह कर किया गया है कि तुमने मात्र वृत्र का ही हनन नहीं किया, प्रत्युत् मायावी "अवद" और मगय को मारा।[११] अग्नि की प्रार्थना में वैदिक ऋषि का यह विश्वास है कि वह मनुष्यों का रक्षक है और प्रार्थना के स्तोत्र, श्रवण कर मायावी दस्युओं को अपने सतोषक तेज से भस्म कर देगा।

१—ऋ० ५।१।२७।६। म० ५ अ० ३ सू० ४०।६।
२—वही ४३।८।
३—म० ५ अ० ३ सू० ४४।२।
४—म० ५ अ० ५ सू० ६४।४।
५—म० ६ अ० २ सू० १८।९।
६—वही ६।२।२०।४।
७—वही ६।२।२२।६।
८—वही ९।
९—म० ६ अ० ४ सू० ४५।२२
१०—वही ९।
११—वही। १८।
१२—म० अ० १ सू० १।१०।

हवि देने वाले यजमान को मानव शत्रु देव, अपनी माया से कभी भी अपने अधीन कर सकता है।[१] वरुण की प्रार्थना में ऋषि कहता है कि आदित्य के समान ही द्यौ पर आरूढ़ होकर सब दिशाओं में अवस्थित प्रजाओं को दान देते हैं। वे अपने प्रतिष्ठित पद से माया को नष्ट करते हुए स्वर्ग को जाते हैं।[२] इसके अतिरिक्त माया' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद संहिता पंचम भाग की सूचीखंड के अनुसार "माया" का २४ स्थानों मे, "मायाभि" की १३ स्थानों में "मायाम्" का ७ स्थानों में "माया वान्" का १ स्थान पर "माया विनम्" का स्थान पर "मायिन" का १६ स्थानों पर "मायी" का तीन स्थानों पर मायिना का १ स्थान पर तथा "मायिनाम्" का तीन स्थानों पर प्रयोग हुआ है।[३]

अथ विशेषण की दृष्टि से विचार करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि जहाँ कहीं "माया" शब्द आया है वह केवल उनके सामर्थ्य एवं शक्ति का द्योतक है। इन्द्र अपनी माया से शीघ्र शीघ्र नाना रूप धारण करते हैं, तो भी कभी कभी माया और इससे निकले हुए रूप मायिन, मायावन्त आदि शब्दों का व्यवहार राक्षसों की इच्छा प्रकट करता है और माया शब्द का प्रयोग भ्रमजाल एवं प्रदर्शन के अर्थ में भी होता है[४] सायण ने "माया कपटाभ वधे" कपट अर्थ मे, "मायिनी प्रधवन्तो नरा" प्रज्ञा के अर्थ में "मायिनम् मायाव त प्रधावन्ते" प्रज्ञा के अर्थ मे "मायाभि कपटे सविशेष' कपट के अर्थ में "मायिनो कपट बुद्धियुक्ता असुरा देवाभाम्' कपटार्थ में प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त आसुरी माया और दैवी माया का उल्लेख भी वहीं हुआ है। मेक्डोनेल के अनुसार वरुण और मित्र के दिव्य प्रदेश को बहुधा "माया' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यह एक गुह्य शक्ति का द्योतक है। अंग्रेजी भाषा में इसका प्राय बिल्कुल समानार्थी शब्द "क्राफ्ट" है, जिसका प्राचीन आशय के अनुसार "गुह्यशक्ति" या "अभिचार" अर्थ था, किन्तु बाद में एक ओर योग्यता या कला और दूसरी ओर "छद्म क्रियाएँ" अर्थ विकसित हो गया।[५] "मायिन" उपाधि के लिए उनका तर्क है कि वरुण और मित्र ही सभी देवों से किसी न किसी रूप में संयुक्त हैं। वे ही "उषा" को उत्पन्न करते हैं, सूर्य को आकाश में आरपार जाने के लिए प्रेरित करते हैं, वे ही आकाश में वर्षा कराते है तथा असुर रूपी गुह्य शक्ति द्वारा विभिन्न विधाओं का पालन कराते है। इसलिए "मायिन"

१—म० ८।म० १ स० ३।१६। म० ८।२३।१४।१६
२—ऋ० ६ म० ५ न० २०।८।
३—ऋग्वेद संहिता—पंचम भाग—सूची खड, पृ० ४४६।
४—भारतीय दर्शन—डा० राधाकृष्णन्, पृ० ६४।
५—वैदिक माइथोलोजी—ए० ए० मेक्डोनेल अनुवादक रामकुमार राय, पृ० ४४।

उपाधि देवों में मुख्यतः वरुण के लिए व्यवहृत हुई है। (६ ४८, ७ २८, १०, ६६, १४७) "अभिचार" के अर्थ में, इनके अनुसार, "माया" शब्द का आक्रामक प्राणियों के लिए भी प्रयोग किया गया है और यह असुर के अपकारक आशय के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्ध है।[१] डॉ० रुय रचना ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही है। डॉ० फतहसिंह के अनुसार अथर्ववेद में ८, १०, ४, ५ विराजधेनु के दोहन का विवरण विभिन्न धामों के अनुसार दिया है। वहाँ "विराजधेनु" उत्क्रमण कर असुरों के पास आती है व "माया" सम्बोधित कर बुलाते हैं और पिलाते उन्हें "स्वधा" कह कर। असुरों के सदंभ में प्रह्लाद विरोचन का पुत्र उसका वत्स था और आयस पात्र वर्तन था। द्विमुर्धात्व्यिय ने उसको दुहा, उसने सचमुच उसमें से माया का ही दोहन किया। असुर लोग माया पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती काल में उपनिषदों या ब्राह्मणों ग्रन्थों में जो माया भावना का विकास हुआ उसका बीज हम उपर्युक्त अध्ययन के आलोक में आसानी से देख सकते हैं। बाद में इसी माया का गौडपाद शंकर, रामानुज और आधुनिक युग में श्री अरविन्द और डॉ० राधाकृष्णन् ने सिद्धान्त रूप में अपने-अपने दृष्टिकोण से क्रमशः पल्लवन किया। यद्यपि मिथ्यात्व की भावना जो आगे चलकर दर्शन के क्षेत्र से होती हुई काव्यों में छा गई, वेदों में हमें प्राप्त नहीं होती। माया, मायावी, मायिन् शब्दों का प्रयोग सत्ताशील धारियों के लिए किया गया है जिसका सम्बन्ध कभी भी मिथ्या से नहीं हो सकता। डॉ० दासगुप्त ने भी माया शब्द का प्रयोग अलौकिक शक्ति और अद्भुत कौशल के अर्थ में ही प्रयुक्त माना है।

सामवेद

"वेदानां सामवेदोऽस्मि" के उद्घोषक भगवान् श्रीकृष्ण ने सामवेद की श्रेष्ठता स्वयं निर्धारित की है। सामवेद यद्यपि चारों वेदों में आकार की दृष्टि से सबसे छोटा है और इसके १८०५ मन्त्रों में से ६६ को छोड़ कर शेष सभी ऋग्वेद के हैं तथापि इसको विभूति का निर्देश सभी वेदों के सार रूप में किया जा सकता है।[३] इसमें भी "माया" शब्द कुछेक स्थलों पर आया है—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनीद्योरिवासि विश्वा हि माया अवसि

१—वही पृ० २६८।

२—वैदिक दर्शन—डॉ० फतह सिंह, पृ० १०६।

३—सामवेद—सम्पादक पं० श्री रामशर्मा आचार्य। तृ० संस्करण, पृ० २२।

स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ।[१]

हे पूषन् ! एक तुम्हारा शुक्लवर्ण दिन रूप मे और दूसरा कृष्णवर्ण रात्रि रूप में है । इस प्रकार तुम विषम रूप वान हो और सूर्य के समान प्रकाश वाले हो । तुम अन्नवान् हो कर सब प्राणियो का पालन करते हो । तुम्हारा दान हमारे लिए कल्याणकारी है ।

अग्नि के हवि प्रदान करने के महत्व को स्वीकारते हुए पुन कहा गया है कि हविर्दाता यजमान अग्नि को हवि प्रदान करता है, उसका शत्रु माया करके भी उस पर प्रभुत्व नही कर सकता । हे शत्रु नाशक और उपासको के रक्षक अग्ने ! मेरे इस अभिनव स्तोत्र को सुनकर मायाकारी राक्षसो का अपने महान् तेज से भस्म करो ।

न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्य
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ।।८।।
व्यूष्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्यते
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ।।१०।।[२]

इन्द्र के बल की अभिशंसा करते हुए यह निवेदित है कि हे वज्रिन् ! तुम्हारा बल किसी से तिरस्कृत नही हुआ । उसी बल से तुमने अपना प्रभुत्व दिखाते हुए माया-मृग रूप वृत्र को अपनी माया से मार डाला—

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवो नुत्त वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिन मृग तव त्यन्माययावधीर चन्ननु स्वराज्यम् ।[३]

इन्द्र का सामर्थ्य मात्र उतना ही नही है प्रत्युत, उषा और आदित्य में सम्बन्धित सोम स्वय प्रकाशित होता है और वृष्टिकारक मेघरूप से बल और अन्नदान की इच्छा से शब्द करता है । देवताओ ने अपनी श्रेष्ठ बुद्धि से इसे उत्पन्न किया है ।

अरुरुचदुषस पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयु ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षस पितरो गर्भमादधु ।[४]

यजुर्वेद

वस्तुत शास्त्रकारों ने इसे कर्मकाण्ड प्रधान माना है । इसलिए माया के संबध

१—ऋ० अ० १ द० ३, म० तृतीय दर्शति । ३ पृष्ठ ५६ ।
२—ऋ० अ० १ ख० ११, म० १० द्वितीय भया ठक प्र० दर्शति ।
३—ऋ० अ० १ (१) द० ३, म० ६।तृतीय दर्शति ।।४।पृ १३० ।
४—ऋ० अ० ६ (३, द० २, म० ३) द्वितीय दर्शति, पृ० १८१ ।

में इसमें किसी सुनिश्चित मत या भाव का आभाव है, फिर भी निम्नलिखित तान-दार स्थलों पर "माया" शब्द का प्रयोग हुआ है।

यस्मा त्वदुवर्गाम्य नाभिमर्ति जज्ञाना रज्म परस्मात्।
मही साहस्त्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हि सी परम व्योमन्॥

इसी प्रकार अध्याय २३ में—

पचस्वन्त पुरुष आ विवेश तान्यन्त पुरुषे अर्पितानि।
ऐतत्पात्र प्रतिमन्त्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरामत्

अन्तवाली जगा, जो माया शब्द से संयुक्त है, में कहा गया है कि कुम्भकार को तप के लिए लोहार को माया के लिए सुवर्णकार को रूप के लिए नियुक्त करना चाहिए।

तमसे कौलाल मायामे कमरि रूपाय मणिकार स्वनिनम।[3]

अथर्ववेद

इसके ७२ वें सूक्त में यह कहा गया है "जैसे यह बधा हुआ पुरुष असुरों की माया से रसों का दिखावा हुआ फँसता है"—

यथामिन प्रयपने वशा अनुपूपि कृणवन्नसुरस्त मायया।

पुन

शिवाभिष्टे हृदय तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठा सुवर्चा।
सवासिनी पिबता मन्यमेतमश्विना रूप परिधाय मायाम्।

यहाँ माया का अर्थ "विश्वचक्षु" ने "मायाम् मायामय परिधाय" किया है।

चतुर्थकाड के ३८ वें सूक्त में—

सा न कृतानि सीपति प्रहामाप्नोति मायया।
सा न पयस्वत्येतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥

यहाँ माया का अर्थ विद्वानों ने "व्यामोह शक्त्या" दिया है।

आठवेंकाड में अग्नि की आराधना में यह कहा गया है "यह अग्नि अपने महान् तेज में तेजस्वी हैं, उसी के द्वारा सबभूतों को स्पष्ट करते हैं। राक्षसों की माया का नाश करने में यह समर्थ है।

१—यजु० अ० १३।४४।
२—अ० २३।५२।
३—अ० ३०।७।

प्रदेवीर्माया सहत दुरेवा शिशीत मुगे रक्षोभ्यो विनिदव।

आगे यह कहा गया है कि जो दुष्ट अपने को साधु कहता है और मुझ यथार्थ आचरण वाले को दुष्ट बताता है, उस मिथ्यामाया को इन्द्र अपने हिंसात्मक वज्र से विनष्ट करें।

यो मायातु यातुधानेत्य.ह या वा रक्षा शुचिरस्मात्याह।
इन्द्रस्त ह तु महता वधेन विस्वस्य जन्तोरधमस्यदीष्ट॥

ध्यातव्य है कि राक्षसों की माया, और माया में अयथार्थत्वबोध की धारणा अथर्ववेद में प्रभूत मात्रा में मिलती है। एक तरफ जहाँ इन्द्र की माया द्वारा बहुरूपतया "इन्द्रो मायाभि पुररूप ईयते" का उद्घाटन है तो दूसरी तरफ राक्षसों की माया से भी त्राण अथवा संरक्षण की प्रार्थना अग्नि जैसे, देवताओं से की गई मिलती है। विभिन्न विचारकों ने इस मायाशक्ति का 'विचित्रशक्ति' इन्द्रजाल या अभिचार शक्ति के रूप में आख्यान किया है। एक स्थान पर माया की उपजीवता का बड़ा ही सानालंकरणपूर्ण हुआ है।

ब्रहती परिमात्राया मातुर्भात्राधि निर्मिना।
माया जैसे मायया मायाया मानली परि॥ का०८, सू०८।५

मातलि माया से हुआ और माया से माया प्रकट हुई। इसी तरह द्विवमूधा 'अत्भ्य ने माया का दोहन किया, असुर उसी माया से उपजीवन करते है—"तां द्विवमूर्धात्योंधोक्तां मायामेवाधोक् तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीया भवति य एववेद।"

वह नारायण अपनी माया द्वारा कहाँ स्थित है, ऐसी प्रकल्पना अथर्ववेद में है—"अमा त्वा पुष्प पृच्छामि यत्र समायया हितम्" अथवा "मत्र प्राडठ प्रत्यिडठ स्वधया मायस शोभ नानारुपे अपनी कपिमायया" आदि से यही भाव विद्वानों ने माना है। सूर्य के संबंध में एक स्थान पर ऋषि कहता है—

अपनी माया द्वारा बालकों के सदृश क्रीडा करते हुए यह दोनों समुद्र की ओर गमन करते हैं।—

पूर्वापर, चरतो माययेतो, शिशू क्रीडन्तौ परियातो अर्णवम्।[१]

इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी विभिन्न विचारों के हितार्थ "माया" शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे——

चित्रिश्चिकिरवान् महपो वात माया यावतो लोकानमि यद्विभाति।[२]

(१) अ० का० १३ अ० २ सू० २।११, (२) का० १३, अ० ३, सू० ३।४२,

पूर्वापर चरतो माययेतो शिशू क्रीडन्तौ परि यातो णवम् ।[1]
अया जाला असुरा मायिनो यस्मये पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।[2]
अयो मयवागुरावन्तो मायिन कुटिला ये असुरा सुरविवेविण अयस्मय पाशे ।[3]
इन्द्रो वृत्तमवृणोच्छधनीति प्रमायिनाममिनाद् वपणीति ।[4]
वृजनेन वृजिनान्त्स पिपेष मायाभिद स्यूराभभूत्योजा ।[5]
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निवहया नमुचि नाम मायिनम् ।[6]
माया भिरस्सि सूप्सत इन्द्रधामारुरुक्षत अवदस्यूरधुनुथा ।[7]
अया हत्य मायया वावृधान मनोजुवा स्वतव पर्वतेन ।[8]
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवल सोमाअस्य ।[9]

उक्त वध म माया शब्द के अनेकश प्रयोग को उदाहृत करने की चेष्टा की गई है। इन उदाहरणो से यदि किसी प्रकार के सिद्धान्त विशेष का आग्रह भी नही सिद्ध होता हो, यद्यपि यह बात है नही, तो भी इतना तो स्वय सिद्ध है कि यह शब्द विशेष "माया" तत्तत् काल म बहुश प्रचलित था। यह एक शब्द अनेक भावों को बोधित करने के लिए अनेक बार प्रयोग म आया है। अकेले अथववेद म माया, मायिनो, मायिभि मायु, मायाया, मायया, आदि "माया" से बने शब्दो का लगभग ३० बार प्रयोग हुआ है। जहाँ तक माया का आगे चल कर शक्ति, इन्द्रजाल, असुरी माया, देवी कपटादि अर्थों का विकास देखने मे आता है उसका बीजरूप हमे वदिक युग मे उपलब्ध है। "इन्द्र ने ही मायावी नमुचि का सहार किया था" इन्द्र ने मायावी राक्षसो का नाश किया शक्ति सम्पन्न आसुरों का वध किया आदि अनेक उपवास्य आसुरी माया के प्रमाण है। डॉ० एन० जे० शेन्डे ने ठीक ही लिखा है कि शक्ति का अभ्यास ही दिव्य शक्ति की अभ्याप्ति का, जिसे ब्रह्म कहा गया है, और जिस शक्ति से यह समस्त ससृति शासित होती है, अप्रणीरव प्रमाणित करता है। इस प्रकार जो उस देवी अथवा दिव्य शक्ति को प्राप्त करता है वही ब्रह्म को जानता है, और इसके साथ ही माया को भी, जिस ऋषि मुनि तपश्चर्या के अभ्यास से जानते हैं। इसी से इस प्रकार की देवी शक्ति की सप्राप्ति के लिए तपश्चर्या अपेक्षित मानी

(१) का० १४, अ० १, सू० १।२३, (२) का० १६, अ० ७, स० ६६।१, (३) विश्व बधु की टिप्पणी, (४) का० २०, अ० १ स० ११।३, ६, (५) वही, (६) का० २० अ० ३ सू० २१।७। (७) का० २०, अ० ३, स० २६।४, (८) का० २०, अ० ४, स० ३६।६, (९) का० २०, अ० ७, स० ८७।५।

गई है और जब भी एतादृश महान् शक्ति दिखाई पड़ी है, तो यह कल्पना की गई है कि इस शक्ति क स्वामी ने माया अथवा तपस्या का अभ्यास किया है। इस तरह तपस्या और ब्रह्म वैसे अतिमानुषिक शक्ति सपन्न एक स्रष्टा की प्रकल्पना को दृढ बनाते हैं। राहित अपनी असाधारण शक्ति (माया) स विभिन्न प्रकार रात्रि और दिन का निमाण करता है क्योकि उसन ब्रह्म को प्राप्त किया है, इसीलिए वह सभी प्रकार के माया और अभिचारो का निग्रह करता है और व सभी उसकी आज्ञा मानते हैं।

ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण

ऋग्वद के दो ब्राह्मण हैं—एतरेय और कौषीतकि। इनम एतरेय नितान्त प्रथित है ब्राह्मण ग्रन्थो मे यदानुष्ठान के साथ, अनेक का रयान, शब्दा की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन ऋषियो की कथाएँ वर्णित हैं।' ब्रह्मण शब्द "ब्रह्म मे क्षण" प्रत्यय से निष्पन्न है। यहाँ ब्राह्म का अथ यह समझना चाहिए। ऋग्वेद से समादृत अनेक कथाओं में हम "माया" शब्द का प्रयोग पाते हैं——

गोरमीमेदनु वत्स मिषन्तमूर्धानि हिङ० ड० कृणोत् मातवाड सृक्वाण घर्ममभि वावशाना मिमाति माय पचते पयोभि।

—अनुवाद पृ० ६२ (ऋ० १।१६४। ८)

होता देवी अमत्य पुरस्तादेति मायया। विधानि प्रचादयन्।

—(ऋ० ३।२००, अनुवाद ८२)

जब सोमराज को (उत्तरवेदी पर) एक बार ले गये तो असुरो और राक्षसो ने उसका सदस् और हविर्धानो के मध्य में मारना चाहा। अग्नि ने माया से उसको बचा लिया। "पुरस्तादेति मायया" ("माया से अग्रे आग" चलता है) अग्नि से उसे इस तरह बचाया। इसलिए (सोम के) आगे-आगे अग्नि को ले चलते हैं।

पतगमक्तमसुरस्य मायया हृदा। पश्यन्ति मनसा विपश्चित। समुद्रे अन्त कवयो विचक्षते मरो रीना पदमिच्छन्ति वेधस। (ऋ० १०।१७७१), पृ० ६४ अनु०

शुक्र ते अयद् यजतते अयद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि। विश्वाहि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु। (ऋ० ६।५८।१), पृ० ५५ अनुवाद से।

पितुर्मातुरध्या य समस्वरन्नृचा सोचन्त सदहन्तो अव्रतान् इन्द्रद्विष्टामय धमन्ति मायया त्वचमसिक्नी भूमनो दिवस्परि।"[१] —वही, पृ० ५५।

१—ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण—अनुवादक—गगाप्रसाद उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

उपनिषद्

यद्यपि ऋग्वेद में दर्शन के उदात्त तत्त्व विद्यमान हैं तथापि वे बीज रूप में हैं। सबसे पहले उपनिषदों में दार्शनिक विचार मिलते हैं।[1] ज्ञान विज्ञान के उद्गम एवं देश के महत्त्वपूर्ण स्थलों का विस्तार उपनिषदों में हुआ है। उपनिषद् भारतीय दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत हैं।[2] शब्द प्रयोग की दृष्टि से "माया" शब्द दो उपनिषदों (श्वेताश्वतर और प्रश्न) में आया है यद्यपि "प्रकृति" "अविद्या" आदि पर्यायों तथा भ्रमात्मक दृष्टान्त की दृष्टि से अन्य उपनिषदों को भी इस सन्दर्भ में विचारकों ने उद्धृत किया है। उपनिषदों के माया विभावन पर कार्य करने वाली विदुषी महिला र[illegible] ने अपनी पुस्तक 'द कन्सेप्ट ऑफ माया' के परिशिष्ट में ईश, केन, कठ, मुण्डक, ऐतरेय आदि प्राचीनता की दृष्टि से सर्वमान्य उपनिषदों में एक विशिष्ट अवधारणा प्रस्तुत की है। बृहदारण्यक में तो ऋग्वेद की ही 'इन्द्रो मायाभिः' वाली ऋचा पुनः उद्धृत हुई है। इस प्रकार उपनिषदों के कुछ अंशों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि यद्यपि उपनिषदों में कहीं-कहीं प्रत्यक्ष रूप से माया शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ तथापि कुछ अंश स्पष्टतया माया की ओर इंगित करते हुए प्रतीत होते हैं। यह इसलिए भी सिद्ध है कि शंकराचार्य ने अपने मायावाद को वैदिक सिद्ध करने में एतादृश अंशों में प्रतिपादित भावों को सगर्व होकर अपनाया है। हिरण्मयपात्र से सत्य का निहित मुख अज्ञान में रहते हुए भी स्वयं को बुद्धिमान मानकर अंधे के द्वारा अंधे नेतृत्व[4] अविद्या की ग्रंथि की भ्रान्त प्रतीति,[5] ज्ञान का पौरुष तथा अज्ञान की उसके विरोधी की भावना।[6] असत् तम तथा मृत्यु से सत् प्रकाश तथा अमरता की ओर प्रयाण।[7] पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए स्वर्ण के अदृष्ट होने की भाँति सत्य का असत्य के द्वारा आच्छादन।[8] नाम रूप की आवश्य

१—भारतीय दर्शन—प्रो० चटर्जी और दत्त।

२—उपनिषद् अंक—"कल्याण', 'दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत", पृ० २६। ले० गोविन्दवल्लभ पंत।

३—रहस्यवाद—ले० डा० रामनारायण पाण्डेय, पृ० ६०।

४—यथा घा ॥ क० १।२।४,५।

५—मु० २।१।१०।

६—छा० १।१।१०।

७—बृ० १।३।२८।

कर्ता,[१] प्रभृति विचार जो उपनिषदों में दृष्टव्य हैं अप्रत्यक्ष रूप से माया विषयक धारणा के अभिव्यंजक है।[२] डा० रथ रेयना ने इसे पूरे विस्तार के साथ उदाहृत किया है। इसमें उन्होंने उसके विभिन्नार्थों का भी विवरण दिया है जिसकी चर्चा अथ क्रम में होगी। यहाँ हमारा अभिप्रेत यह रहा है कि शब्द की दृष्टि से "माया" का अभाव रहते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से तत्तत्—भावना का अभाव नहीं रहा है।

प्रश्नोपनिषद् में। "माया" शब्द आया है। इसके अनुसार अमृत, कुटिलता और माया के बिना परित्याग के ब्रह्मलोक की प्राप्ति सम्भव नहीं।[३] यहाँ माया शब्द का प्रयोग कुटिलता और मिथ्या के साथ कपट बोध-अर्थ में हुआ है। कपट रहित होने पर, विशुद्ध बन जाने पर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय १ में समस्त विश्वमाया से परिनिवृत्त होने के लिए परब्रह्म का ध्यान करने तथा उसमें एकाकार होने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[४] चतुर्थ अध्याय में उल्लिखित है कि इस विश्व की सृष्टि, परमेश्वर माया—शक्ति द्वारा सम्पन्न करता है तथा आत्मा इसी माया से भली भाँति आबद्ध रहती है।[५] प्रकृति को माया तथा परमेश्वर को महान् मायावी समझना चाहिए। उसी में यह सम्पूर्ण समष्टि व्याप्त है।[६]

उपर्युक्त ग्रंथ में "माया" शब्द के विविधार्थों पर विचार करते हुए भाष्य कारों तथा आधुनिक विचारकों के विचाररत्न इस सन्दर्भ में मुकुट मणि-सम उल्लेख्य हैं। उन्होंने कहीं माया को भ्रमात्मक माना है और कहीं लीलात्मक। "माया" का अर्थ बताते हुए एक आलोचक के विचार हैं" प्रकृति को माया कहा गया है और ब्रह्म को मायिन्। इस शब्द का अर्थ इससे अधिक नहीं कि ब्रह्म शिल्पी है और संसार उसकी अपौरुषेय शक्ति की रचना है।" डॉ० राधाकृष्णन् का मन्तव्य है कि संसार माया है, क्योंकि हम जानते हैं कि अशरीरी ब्रह्म किस प्रकार ईश्वर संसार एवं अनेक आत्माओं के रूप में परिणत हो जाता है। माया को दवीय शक्ति के अर्थों में भी स्वीकार किया गया है। प्रकृति को माया कहा गया है क्योंकि स्वतः चेतन ईश्वर समस्त संसार का अनाम की शक्ति द्वारा विकसित करता है। माया को अविद्या के

१—प्र० ८।३।२। प्र० ६।१।१४।

२—रहस्यवाद—प्रो० रामनारायण पांडे, पृ० ६१।

३—प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १।१६।

४—श्वेता० अ० १।१०।

५—श्वेताश्वतर अ० ४।९।

६—श्वेता० अ० ४।१०।

अर्थ में भी अंगीकार किया गया है, क्योंकि यह संसार रूपी नाटक या प्रदर्शन अपने अन्दर विद्यमान आत्मा को छिपाए हुए है।[१] श्री बालगंगाधर तिलक के विचार से "नित्य बदलते रहने वाले अर्थात् नाशवान् नाम रूप सत्य नहीं हैं, जिसे सत्य अर्थात् नित्य स्थिर तत्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नाम रूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिए। इसी नाम रूप को कठ (२ ५) और मुंडक (१ २ ८) आदि उपनिषदों में "अविद्या" तथा "श्वेताश्वतर" में "माया" कहा है।[२] एस० एन० दासगुप्त ने वृहदारण्यक प्रश्न व श्वेताश्वतर इन्द्रजाल Magic जादू के अर्थ में बताया है।

डॉ० रचना ने औपनिषदिक माया के निम्नलिखित अर्थों में प्रयोग को अपने ग्रंथ के परिशिष्ट में, सिद्ध किया है, जिसके उदाहृत अंशों का विवरण पहले आ चुका है। डॉ० रचना के अनुसार पूर्वकथित उपनिषदों में कहीं आगनिक भ्रांति के रूप में माया का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार उपर्युक्त इन सात अर्थों में "माया" शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि माया भावना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश वेदों के पश्चात् उपनिषदों में प्राप्त होता है। शंकर के मायावाद के उपजीव्य ये उपनिषदें ही हैं और इसीलिए उन्हें अपने सिद्धांत को वैदिक सिद्ध करने में उदाहरणों की कमी नहीं महसूस हुई। साथ ही वेदों के पश्चात् इस भावना में कालक्रम में किस प्रकार परिष्कृतियों और तथा-कथित विकृतियों का आगमन होता गया इसका पथ निर्देश भी उपर्युक्त अध्ययन में हम पाते हैं। इसके अतिरिक्त अविद्या, प्रकृति, आदि शब्दों का प्रयोग भी—य विद्याप्रणासती-ईश० ८,१०,११—अविद्या या च विद्येति ज्ञाता—श्वे० अ० ११४४,५) माया के वजन पर हुआ है।

प्रमुख प्राचीन उक्त ग्यारह उपनिषदों के अतिरिक्त पश्चात् कालीन १०८ उपनिषदों[३] की चर्चा संस्कृत साहित्येतिहासकारों ने की है। कुछक के अनुसार तो इनकी संख्या २०० के लगभग है। यहाँ हम कालगत भावना से संश्लिष्ट औपनिषदिक माया विभावन के विकास की सरणि निर्धारित नहीं कर प्रत्युत् उपनिषद् नाम्ना विधा के प्रमुख सूत्रों को संक्षिप्त उद्धरणों प्रस्तुत करना ही अभीष्ट होगा।

अध्यात्मोपनिषत्

ब्रह्मनिष्ठा से किंचित् विमुख हो जाने पर प्रज्ञापुरुष भी "माया" के बन्धन में उसी प्रकार आ जाता है जैसे सेवाल को, जल में अति दूर कर देने पर भी वह उसे

१—भारतीय दर्शन—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पृ० ४७२, राजपाल एंड संज।

२—गीता रहस्य बाल गंगाधर तिलक, पृ० २१६।

३—हमारी सांस्कृतिक साहित्य—पं० जगन्नाथराय शर्मा, पृ० ३२।

बिना आवृत किए नहीं रहता ।[१]

मैत्रायण्युपनिषत्

भूतात्मा की परतन्त्रता विषयों में लिप्यायमान होने के कारण है। मदारी के जादू की तरह वह माया से भरा है। स्वप्न की तरह वह मिथ्या दिखाई देता है।

सर्वसारोपनिषत्

माया को परिभाषित करते हुए लिखा है जो अनादि तो है पर जिसका अंत सम्भव है, जो न असत और न सद्सत् स्वयमेव सबसे अधिक विचारहीन दिखाई पड़ने वाली शक्ति है, उसे माया कहते हैं। उसका वर्णन उसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता। यह माया अज्ञान रूप, तुच्छ और मिथ्या है, पर मूढ मनुष्यों को त्रिकाल में वह वास्तविक जान पड़ती है। इसलिए वह ऐसी ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[२]

मन्त्रिकोपनिषत्

इसमें एक रूपक द्वारा "अजा" माया के स्वरूप और गुण पर प्रकाश डाला गया है। यह माया मानो परमात्मा की कामधेनु है जो श्वेत, काली और लाल है। अज्ञानी जीव इस गाय को दुहते हैं। परमात्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होकर इस माया को पीता है।[३]

निरालम्बोपनिषत्

माया द्वारा कल्पित और बुद्धि तथा इन्द्रिय के विषय रूप जगत् को सत्य मान लेना अग्राह्य है।[४]

योगतत्वोपनिषत्

ब्रह्मा के यह पूछने पर कि अष्टांगयुक्त योगतत्व का महत्व क्या है ? हृषीकेश का उत्तर है कि सब जीव माया के सुख-दुख रूपी जाल में फंसे हैं। इस मायाजाल को छिन्न कर मुक्ति का मार्ग दर्शक और जन्म जरा व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला यही योग मार्ग है।[५]

१—॥१५॥अध्यात्मोपनिषद।
२—सर्व० ।१५।
३—मन्त्रिको० ॥५॥६।
४—निरालम्बोपनिषद् ३० ४०।
५—॥५॥योगतत्वो०।

जाबालदर्शनोपनिषत्

आत्मा के संबंध में यह वर्णित है कि यह आत्मा नित्य, एकरस, सदसद्विहीन है। वह एक होते हुए भी माया से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण भिन्न-२ दिखाई देता है। जब ज्ञानी पुरुष आत्मा को सत्यरूप में देखता, और सम्पूर्ण विश्व को माया का खेल समझता है तब वह परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।[1]

मैत्रेय्युपनिषत्

यदि महाबुद्धिमान् पुरुष भी माया के प्रभाव में मूढ़ चित्त होकर "मैं" रूप आत्मा को पूर्ण रूप से नहीं जानते व मायमन्त्र के समान अमाग पद के प्रत्यय यत्र तत्र मारे मारे फिरते हैं।[2]

शाण्डिल्योपनिषत्

इस पर ब्रह्म की जो सहज अविद्या मूलप्रकृति और माया है, वह लाल, श्वेत और काली है। वह ब्रह्म सदा माया के साथ क्रीड़ा करता है तथा वही अनेक देवों के रूप में विद्यमान है।[3]

कठरुद्रोपनिषत्

यह संसार अज्ञान, माया और मृत्युरूप है इसमें वही ब्रह्म व्याप्त है। स्वयं और ब्रह्म में भेद न मानता हुआ जो अज्ञान और माया के साथ आत्मा को जानने वाला ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।[4]

नारदपरिव्राजकोपनिषत्

संन्यासी के लिए क्या करणीय है? इसको बताते हुए कहा गया है कि उनके लिए मोह ममता, माया, लोभ, तृष्णा, क्रोध असत्य, राग, अहंकार, कामना, संग्रह, व्याख्यान, शिल्प, प्रायश्चित, मन्त्र प्रयोग, विष प्रयोग, प्रमाद साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं। मन को ईश्वर में लगाकर चिन्तन करने से समस्त माया दूर हो जाती है।

कैवल्योपनिषत्

माया के वशीभूत होकर मनुष्य शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है और

१—॥११॥जाबाल०।
२—॥२४॥ मैत्रेय्युपनिषद्।
३—॥१॥ शाण्डिल्यो०, ॥१८॥ क० रुद्रो०।
४—॥१६॥—वही।

पूतना का माया द्वारा अनेक रूप धारण कार्य

वह पूतना आकाशमार्ग से चल सकती थी और अपनी इच्छा के अनुसार रूप भी बना लेती थी।[1] एक दिन नन्दग्राम गोकुल में उसने एक अपूर्व सुंदरी का रूप धारण कर बच्चों को मारने की इच्छा से कृष्ण को ही अपना शिकार बनाना चाहा, किन्तु उन्हीं के द्वारा उसका प्राण हरण भी हुआ। शम्बासुर भी राक्षसों में अनेक मायावी था।

महामाया विद्या

मायाविनी रति ने परमशक्तिशाली प्रद्युम्न को महामाया नाम की विद्या सिखाई। यह विद्या सब प्रकार की मायाओं का नाश कर देती है।[2]

एक दैत्य मयासुर की आसुरी माया का आश्रय लेकर आकाश में चला जाता है और प्रद्युम्न जी पर अस्त्र शस्त्र की वर्षा करना प्रारम्भ करता है, तब महारथी प्रद्युम्न जी समस्त मायाओं को शान्ति करनेवाली सत्वमयी महाविद्या का प्रयोग करते हैं। तदनन्तर शम्बासुर यक्ष गंधर्व पिशाच नाग और राक्षसों की सैकड़ों मायाओं का प्रयोग करता है, किन्तु उसका कुछ असर नहीं पड़ता।[3] इसी प्रकार मयदानव ने ऐसी माया फैला रक्खी थी कि दुर्योधन ने उससे मोहित हो स्थल को जल समझ लिया और पुनः जल को स्थल समझ कर उसी में गिर पड़ा।[4] मय-दानव का विमान भी विचित्र था जो कभी दीखता था कभी नहीं दिखलाई पड़ता था अर्थात् वह अत्यन्त मायामय था।[5]

भगवान् का अवतार और उनकी योगमाया का कार्य

भगवान ने वसुदेव कश्यपादि को उद्भव-स्रोत बताते हुए अपनी योगमाया से पिता माता के देखते-देखते मनुष्य एक साधारण शिशु रूप धारण कर लिया। भाव-प्रेरणा से इस पुत्र को लेकर वसुदेव सूतिका-गृह से बाहर निकलना चाहे। उसी समय नन्दपत्नी यशोदा के गर्भ से उस योगमाया ने जन्म ग्रहण किया। उस योगमाया

१—१० ६ ४।
२—१० ५५ १६।
३—२१ से २३ तक।
४—१० ७५ ३७।
५—११ ७६ २१।

के प्रभाव से पुरवासियों सहित समस्त द्वारपाल अचेत निद्रानिमग्न हो गए। दरवाजे में लगा अगला स्वयमेव खुल गई। नदियों में प्रवाह आ गया था पर मार्ग सुगमतापूर्वक मिल गया।[१] उन्होंने उस बालक को यशोदा के यहां रख छोड़ा तथा उनकी पुत्री को लाकर पुनः कारागार में रख दिया। दूसरे दिन कंस के आने पर देवकी ने मन प्राण देकर कन्या की प्राण-याचना की किन्तु कंस ने उससे छीन ली और पत्थर पर पटक दिया। किन्तु वह शीघ्र ही आकाश में चली गई और यह कहते हुए कि तुम्हारा प्राणहारी पैदा हो गया है, भगवती योगमाया अन्तर्धान हो गई। भगवान् अपनी माया को वनमाला के रूप में धारण करते हैं।[१]

निष्कर्ष

योगमाया से अवतार-ग्रहण तथा भगवान का शिशु रूप धारण करना—

माया के बल से द्वारपाल तथा पुरवासियों का चेतनहीन होना भगवान के साहचर्य से कपाट रूपी सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं। बन्धन से विमुक्ति मिलती है, भव नदी का जल सूख जाता है। गोकुल (इन्द्रिय समुदाय) की वृत्तियां लीन हो जाती हैं और माया हाथ में आ जाती है।

संसार के कल्याण के लिए ही योगमाया का आश्रय लेकर भगवान यहां रूद्र-धारा के समान जान पड़ते हैं।[३]

माता यशोदा का माया-दर्शन

एक दिन श्रीकृष्ण के मिट्टी खा लेने पर और उनके नकारात्मक उत्तर देने पर यशोदा ने उन्हें मुंह खोलकर दिखलाने को कहा। भगवान ने अपने ऐश्वर्य से बालक का ग्रहण किया था। यशोदा को उस समय समस्त संसार दिखाई पड़ा। काल, कर्म, स्वभाव, वय उनकी वासना और शरीरादि के द्वारा विभिन्न रूपों में वह दीखनेवाला संसार उस नन्हें मुख में दिखाई पड़ा। यशोदा उनकी माया[४] समझ प्रार्थना में संलग्न हो गई, जो चित्त, मन, कर्म और वाणी के द्वारा ठीक-ठीक तथा सुगमता से अनुमान के विषय नहीं होते, उन्हें मैं प्रणाम करती हूँ। यह मैं हूँ और य

१—१० ३ ४६।
१० ३ ४७
२—१२ ११ ११।
३—१० १४ ५५।
४—१० ८ ४०।

मर पति तथा यह मेरा लडका है, य गोपियाँ आर गोधन मेरे अधीन हैं—यह सब कुमति जिनकी माया स मुझे घेरे हुए हैं, व भगवान ही मरे एकमात्र आश्रय हैं—मैं उन्ही का शरण म हूँ।[१] जब योशदा जी कृष्ण का तत्व समझ गइ तब सबशक्तिमान प्रभु न अपना स्नहमयी वैष्णवी माया का उनक हृदय म सचार करा दिया। फलस्वरूप यशोदा जी को उक्त घटना भूल गई और उन्होने अपने पुत्र को गोद मे उठा लिया। (स्क० १० अ० ८ श्लोक ३५ स ४३ तक। रामचरितमानस म कौशल्या का अदभुत अखड रूप का दशन इसी के समानान्तर वर्णित है।

आधार

नून मेतद्घरेदेव माया भवति नान्यथा। १० १२ ४२

श्रीकृष्ण की विचित्र घटनाओ को घटित करने वाली माया का कुछ न कुछ काम अवश्य रहता है—

विषय —ब्रह्माजी का मोह और उससे मुक्ति

विवरण इस प्रकार है कि एक दिन जब श्रीकृष्ण ग्वालों के साथ यमुना पुलिन पर बालक्रीडा करते हुए भोजन कर रह थे कि गो-वत्स कुल-हरित-तृण पर लोभ से घोर जगल म अति दूर निकल गया। इस पर ब्रह्मा श्रीकृष्ण की लीला के दर्शनाथ उन्ह (बछडा को) तथा श्रीकृष्ण के चले जाने पर ग्वालो को भी एक गुफा मे रखकर स्वय अन्तर्धान हो गए। चतुर्दिक बहुत ढूँढने पर कृष्ण को यह जानते देर नही लगी कि यह सब ब्रह्मा की ही करतूत है। अत उन्होने सद्य अपने को अनेक आत्मस्वरूप बछडो को अपने आत्मस्वरूप ग्वालबालो द्वारा घेरकर अनेक क्रीडा करते व्रज मे प्रविष्ट हुए। उनके दैनदिन जीवन चर्या मे किसी प्रकार का अन्तर अथवा कृत्रिमता का आभास किसी को नही मिली। इस प्रकार श्रीकृष्ण एक वर्ष तक वन और गोष्ठ मे क्रीडा करत रहे।

एक दिन जब श्रीकृष्ण बलरामजी के साथ वन म बछडो को चराते हुए गए कि गोवद्धन की चोटी स गायो न बछडो को देखकर अपने वात्सल्य के आग्रह स हुंकार करना आरभ कर दिया तथा दौडी आकर ग्वालो के लाख वजने पर भी वहा पहुच गई। जब उनक साथ विकट माग को पार करते हुए ग्वाल भी आए तो अपन बच्चो को पाकर उन्हे महान् खुशी हुई। और किसी तरह वहाँ से पुन विदा लिए। बलरामजी न देखा कि इन बालको और बछडों मे भी जिन्होंने अपनी माँ का दूध

१—१० ८ ४२।

पीना छोड दिया है प्रतिक्षण प्रेम की वृद्धि हो रही है। यह कौन-सी माया है ! कहाँ से आई है, यह देवता मनुष्य अथवा असुरो की माया है ? या प्रभु की ही माया है क्योकि किसी दूसरे की माया म ऐस मोहन की शक्ति नही है। ऐसा विचार कर ज्ञान दृष्टि म देखन पर उन्हे सब कुछ श्रीकृष्ण के रूप म दिखाई पडा और श्रीकृष्ण से समक्ष इसकी जिज्ञासा करने पर उन्ह ब्रह्मा की सारी करतूत स्पष्ट हो गई।

इधर ब्रह्मा की भी जिज्ञासा काफी बढी-चढी थी कि आखिर व्रज म क्या हुआ ! यहाँ आने पर श्रीकृष्ण को उन्होने बछडो के साथ एक वर्ष पूर्व की भाँति क्रीडा करते पाया। उन्ह यह बात समझ म नही आती थी कि माया से अचेत ग्वालबाल और बछडे नए रूप म कहा से आए गए। पुन वे दोनो स्थानो पर दोनो तरह के ग्वालबालो को देखकर पहले के सच्चे तथा बाद के कृत्रिम म कोई अतर स्थापित नही कर सके। वे अपनी जिस माया से भगवान् को मोहित करने चले थे स्वयमेव विमोहित हो गए। तदनन्तर इसी विचार म उलझे हुए थे कि सभी ग्वाल-बाल और बछडे श्रीकृष्ण रूप हो गए तथा समस्त चराचर का पूजन-अर्चन उनको निवेदित होते भी उन्होने देखा। अब ब्रह्मा अपनी समस्त इद्रियो से चकित हो बिल्कुल ज्ञान विमूढ हो गए और महिमामय रूप दर्शन म असमय उनकी आँखें मुद गईं। इस पर भगवान् न अपनी माया का परदा तुरत हटा लिया और कृष्ण का बालरूप वृदावन की भूमि पर रखकर वे उनके चरणों म गिर पडे। (स्क० १०, अ० १३, १—६४ तक)।

निष्कर्ष

भगवान् की माया का दर्शन मात्र करना चाहता है। भगवान् अपनी माया का विस्तार बहुरूपो म कर सकता है। उसकी माया पर किसी अपर असुर, देव और मनुष्य की माया का कोई प्रभाव नहीं पडता।

उसकी माया म निर्मित पदार्थ और वास्तविक पदार्थ म कोई अतर नही रहता।

जीव उनकी माया को समझ नहीं सकता।

माया से विमूढ होने पर आदमी असमर्थ हो जाता है। और उसकी इद्रियों मे ज्ञान सचेतना नही रह जाती। [उसम काम क्रोधादि षडरिपुओ का अवस्थान अनुक्षण विराजमान है।] अत जब तक ज्ञानोदय के द्वारा इस माया व्यापार का वह

तिरस्कार नही करता तब तक हरि चरण म प्रीति नही जमती ।[1] जिस प्रकार काम, क्रोधादि षडरिपु है उसी प्रकार मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियो ये छ जीव के अनुभव क द्वारा हैं। उनसे विवश होकर यह जीव समूह माग भ्रम से भयकर वन म भटकत हुए धन के लोभी बनिजारो क समान परमसमथ विष्णु के आश्रित रहन वाली माया का प्रेरणा से बीहड वन सदृश दुगम-पथ मे पडकर ससार वन मे जा पहुँचता है।[2] वहाँ कम-बधन मे बाँधनेवाली माया को तो कदाचित् वह जान भी लेता है, किन्तु उससे मुक्त होने का उपाय उस सुगमता से नही मालूम होता।[3] भक्तियोग के द्वारा इस निन्दनीय काय म माया के कारण बद्धमूल दुर्मिद अहता-ममता का सद्य काटा जा सकता है।[4] अन्यथा अपन ही मोह की माया म फसकर ससार के प्राणी मोहित रहत हैं और परस्पर वेर का गाठ बाँधे रहते हैं।[5] विशेषत असुर और मनुष्यादि जो सवदा रजागुणी और तमोगुणी कर्मों मे सलग्न हैं, और जिनका चित्त माया का वशवर्ती है, सृष्टि का रहस्य नही जान पाते। इनके (ब्रह्मा अतिरिक्त नारद, मार्कण्डेय तथा प्रहलादादि ऋषि मुनियो का मायोच्छेदन भगवान् की कृपाविभाति स पूण होता रहा है। इन महर्षियो न समय-समय पर भगवान् की योगमाया का रहस्योद्‌घाटन करन का प्रयत्न भी किया है।[6] नारद का विचार श्रीकृष्ण की योगमाया का अनक वभव दखकर यही रहा है कि यह ब्रह्मादि महान् मायावियो के लिए भी अगम्य है। यद्यपि उनका दावा है कि उनके जैसे लोगो के लिए जो नित्यश चरण कमलो की सेवा मे रत है, कुछ भी अगम्य नही। वे उस परमेश्वयपूण माया का देखकर कौतूहल और आश्चय प्रकट करत हैं।[7] इसी प्रकार मार्कण्डेय मुनि भी चिरकाल तक विष्णु भगवान् की माया के प्रभाव से भटक चुके है और इस सबध मे उनका गहरा, अनुभव है[8]— "अनुभूत भगवतो मायावैभवमद्भुतम् १२ १० ४० तदनन्तर नारद के उपदेश से प्रह्लाद न माया पर विजय प्राप्त का तथा ऋषियो

१—५ १२ १५।
२—५ १४ १।
३—५ १८ २४।
४—५ १९ १५।
५—८ ७ ३९।
६—१० ६९ १९।
७—१० ६९ ४२।
८—१२ १० २७।

म अग्रगण्य हुए।[१] राजा निमि भगवान् के समक्ष यह परिपृच्छा उपस्थित करते हैं कि विष्णु भगवान् की माया ने बड़े-बड़े मायावियों को भी मोहित कर लिया है, अत मैं उस माया का स्वरूप जानना चाहता हू।

इस प्रकार उपयुक्त कथन स यह स्पष्ट होता है कि माया के अज्ञान म पड़े हुए ऋषियों तथा जिन्होने माया के सबध म केवल जानकारी ही हासिल की है, दोनों न इसक रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है तथा इस पर विजय प्राप्त कर भगवान् के चरणों की महिमा का अनुगायन किया है।

अन्त म श्रीमद्भागवत म प्रयुक्त माया शब्द क विभिन्नार्थों तथा उसके पर्यायों का वर्णन भी इस प्रसग म अत्युक्ति सगत नहीं होगा, यद्यपि इसका आभास *पूर्व विवरण न* म *अनेकश आया है। श्रीमद्भागवतकार "अविद्या" अथवा* "विद्या" शब्द को माया की दो अनादि शक्तियों क रूप म स्वीकार करता है। भगवान् कहते हैं कि ह उद्धव शरीरधारियों का मुक्ति का अनुभव करानवाली आत्मविद्या और बधन का अनुभव करानवाली अविद्या य दोनो ही मेरी अनादि शक्तियाँ है। मेरी माया स इनकी रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

> विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्
> मोक्षबधकरी आद्य मायया म विनिर्मित ।। ११ ११ ३

इसी प्रकार—

> कमाशय हृदयग्रथ बधमविद्या सादितमप्रमत अविद्यया मन्तरे वतमानम्। ५ ५ १०
>
> अविद्याया मनसा कल्पितास्ते—८ १२ ६।

अनेक स्थानों म विद्या और अविद्या के माया जनित अस्तित्व का निरूपण किया गया है। माया के अनक पर्यायों म "विरज" शब्द भी आया है जिसका सबध औपनिषदिक साहित्य से है। तुलसी ने भी "जदपि विरज व्यापक अविनाशी" कहकर ब्रह्म की माया हीनता का परिचय दिया है। "माया" का कपटार्थ म प्रयोग क अतिरिक्त कलह, दम्भादि के अर्थ म भी व्यवहार हुआ है।—लाभो नृत चौर्यमनाय महो ज्यष्ठा च माया कलहश्च दम्भ ।

—१ १७ १२

इस प्रकार श्रीमद्भागवत म माया का सिद्धान्त तथा शब्द दोनो क्षेत्र म समन्तात् व्यवहार हुआ है। माया की उत्पत्ति, उसका कार्यक्षेत्र तथा उसम मुक्ति

१—श्री अ० २, श्लोक ८०।

इन सभी बातों को ओर इसका रचयिता अत्यन्त सतर्क है। इस पुराण का प्रस्तुत शोध प्रबंध की दृष्टि से पुष्कल महत्व है क्योंकि रामकाव्य के अप्रतिम उद्गाता तुलसी ने अपने माया संबंधी विचार उक्त रचना के आधार पर ही प्रस्तुत किए हैं।

निष्कर्ष

१—श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य है, विशेषतया वैष्णवजन और सामान्यतया मनुष्य मात्र का माया मोह से किस प्रकार निस्तार हो।

२—क्योंकि माया से मुक्ति देवगणों को भी दुष्कर, कठिन है।

३—जीव, माया से आक्रान्त होकर प्रकृत-आनन्द को खो बैठता है।

४—यह माया उस ज्ञान स्वरूप परमात्मा की ही है, यद्यपि उनके समक्ष यह फटक नहीं सकती।

५—सृष्टि की उत्पत्ति, सृजन और संहरण माया द्वारा ही संभव होता है।

६—एक नारायण को छोड़कर समृति मध्य कोई ऐसा पुरुष नहीं जिसकी बुद्धि स्त्रीरूपिणी माया से विमोहित न हो।

७—देवमाया का रूप स्त्री का बाहुपाश है।

८—ब्रह्मा, नारद, मार्कण्डेय, प्रह्लाद, तथा निमि आदि ऋषियों, राजाओं ने भगवान् की माया का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया है अथवा उनकी माया से विमोहित हुए हैं।

९—माया के अतिरिक्त विद्या और अविद्या शब्द का प्रयोग अनादि शक्तियों के रूप में किया गया है।

१०—भगवान की आराधना ही माया से मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। (नाराधन भगवतो वितरत्यमुष्य सम्मोहिता विषतया बतमायतान—३ १५ २४)।

पुराण-ग्रंथ

श्रीमदभागवत के प्रसंग में पुराणों की विशेषताओं का "सर्ववेदाय साराणि पुराणानि" (नारदीय) द्वारा हम सिद्ध कर आए हैं तथा श्रीमदभागवत की माया-भावना का विस्तार वर्णन इसलिए किया गया है कि अपने आलोच्य हिन्दी साहित्य

व मध्ययुग के भक्तो की उनकी विचारधारा म माया सबध है। अठारह पुराण[1] और १८ उप पुराणो व उक्त विचार को इस प्रबध के अलकाय म समाविष्ट करना असमव है साथ ही यह हमारा विवेच्य भी नही। हमारा अभीष्ट एव परपरा रूप म वर्णित भावना विशेष को सक्षेप म आत्मिक विचार धारा व साथ उसको तारतम दिखाते हुए अपने आराध्य को तत्तत् आलोक म प्रतिष्ठित कर, उसके परिष्कृतियो तथा विकृतियो पर विहगावलोकन प्रस्तुत करना है। अत हम कुछ प्रमुख पुराणो स उद्धरण देकर ही सतोष ग्रहण करेंगे।[2] काल-क्रम के पौर्वापर्य स हमारा किसी प्रसग म कदापि सम्बन्ध नही है अपितु भावना विशेष की समग्रता और परिवर्तना स ही।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण

> सर्वेषा सर्ववीजाना प्रवदन्ति मनीषिण ।
> मन्माया मोहित जना मा न जानन्ति पापिन ।
>
> —ब्र० वै० प्र० श्रीकृष्ण-जन्म (०३।८३-८८)

मनीषी पुरुष प्रभुको समस्त बीजो का परम कारण बताते हैं। उनकी माया से मोहित पापी जन उन्हें नही जान पाते।

इसी तरह वसुदेव जी की बात सुनकर श्रीहरि स्वय कहते हैं—

> यशोदाभवन शीघ्र मा गृहीत्वा व्रज व्रज ।
> सस्थापय्य तत्र मा तात मायामादाय स्थापय ॥
>
> —ब्र० वै० श्रीकृष्ण-जन्म (०।८-१००)

हे तात ! मुझे शीघ्र ही व्रज म ले चलकर यशोदा के गृह म रखकर वहाँ

१—१८ पुराणो की श्लोक-सख्या के साथ विवरण—ब्रह्मपुराण १३,०००, पद्म-पुराण ५५,०००, विष्णु पुराण २३,०००, वायु पुराण (शिव पुराण १४,०००, भागवत—१८,०००)।

२—नारदीय पुराण२५,०००, मार्कण्डेय पुराण—६,०००, अग्नि पुराण १६ ०००, भविष्य पुराण—१४,५०० । ब्रह्मवैवर्त पुराण—६,०००, लिंगपुराण—११,०००, वराह पुराण—२४,०००, स्कन्द पुराण—२१,०००, वामन पुराण १०, ०००, कूर्म पुराण—१८,०००, मत्स्य पुराण—१४,०००, गरुड पुराण—१६,०००,ब्रह्माड पुराण—१२,००० ।

उत्पन्न हुई माया को ले आइए तथा यहां अपने निकट उसे ही रख लें। ऐसा कहकर श्रीहरि शिशु रूप ग्रहण कर लेते हैं।

इसी प्रकार ससार के मिथ्यात्व के प्रति भी पुराणकार की दृष्टि रही है। उसके अनुसार पाच भौतिक शरीर एव ससार के निर्माण का हेतु भी मिथ्या एव अनित्य है। माया से ही मनुष्य इसे सत्य मान रहा है। वह समस्त कार्यों मे काम, क्रोध, लोभ और मोभ से वष्टित है और माया से सदा मोहित, ज्ञानहीन एव दुबल है।

> मिथ्याकृत्रिम निर्माण हेतुश्च पाचभौतिक ।
> मायया सत्यबुद्ध्या व प्रतीति जायते नर ॥
> काम क्रोध लोभ मोहे वेष्टित सवकमसु ।
> मायया मोहितु शश्वज्ञा न हीनश्च दुर्बल ॥
>
> —वही—१८।१६ २७)

स्कन्द पुराण

> त्वन्मायामोहिता सव न त्वा जानन्ति तत्वत -
> त्वद्दयाय विजानन्ति ब्रह्म कत्वामखडितम् ॥

सभी प्राणी भगवान की माया से मोहाच्छन्न हो रहे है, इसी कारण वे तत्वत-नही जान पाते।

> य त्वा भवाप्यय विमोक्षण लब्दीक्ष
> मयान्त चान्यसुखहतव आत्ममूलम्।
> नून विमुष्टमतयस्तव मायया ते
> देवेन शश्वदति भग्नमगा भ्रमन्ति ॥

आपने ससार का सहार तथा मोक्षरूप फल प्रदान करने के लिए दीक्षा ले रखी है, एस आत्मा के मूलभूत आपको जो लोग सासारिक सुखो को प्राप्ति के लिए उपासना करते है उनकी बुद्धि का निश्चय ही आपकी माया ने हर लिया है।

> अस्मिन्मेत्रे प्रकुर्वन्ति विष्णुमायाविमोहिता ।
> पारदाय महादुष्ट स्वर्णस्तेमादिक तथा ॥ स्क० ३८।४५
> सेय मायागुणमयी प्रपचा य मदात्मक ।
> तवेच्छात समुत्पन्ना यया विश्वविमोहने ॥

व मध्ययुग के भक्तों का उनकी विचारधारा म गाढ़ा सबध है । अग्ठारह पुराण[1] और १८ उप पुराणों व उक्त विचार का इस प्रबंध व अन्तराय म समाविष्ट करना असभव है साथ ही यह हमारा विवेच्य भी नहीं । हमारा अभीष्ट एव परपरा रूप म वर्णित भावना विशेष का सक्षेप म आदिम विचार धारा व साथ उसका क्रमगत विकास दिखाते हुए अपने आलोच्य को तत्तत् आधार म प्रतिष्ठित कर, उसक परिष्कृतियो तथा विकृतियो पर विहगावलोकन प्रस्तुत करना है । अत हम कुछ प्रमुख पुराणो स उद्धरण देकर ही सतोष ग्रहण करेंगे ।[2] काल-क्रम व पौर्वापर्य स हमारा किसी प्रसग म कदापि सम्बन्ध नहीं है अपितु भावना विशेष की सम्पूर्णता और परिपक्वता से ही ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण

सर्वेषा सर्वबीजाना प्रपदन्ति मनीषिए ।
मन्माया मोहित जना मा न जानन्ति पापिन ।

—ब्र० वै० प्र० श्रीकृष्ण-जन्म (०३।८३-८८)

मनीषी पुरुष प्रभुवा समस्त चीजो का परम कारण वताते हैं । उनकी माया से मोहित पापी जन उन्हें नहीं जान पाते ।

इसी तरह वसुदेव जी की बात सुनकर श्रीहरि स्वय कहते हैं—

यशोदाभवन शीघ्र मा गृहीत्वा व्रज व्रज ।
सस्थाप्यष्य तत्र मा तात मायामादाय स्थापय ॥

—ब्र० वै० श्रीकृष्ण-जन्म (०।८ -१००)

हे तात ! मुझे शीघ्र ही व्रज म ले चलकर यशोदा के गृह म रखकर वहाँ

१—१८ पुराणों की श्लोक-सख्या क साथ विवरण—ब्रह्मपुराण १३,०००, पद्म-पुराण ५५,०००, विष्णु पुराण २३,०००, वायु पुराण (शिव पुराण १४,०००, भागवत—१८,०००) ।

२—नारदीय पुराण२५,०००, मार्कण्डेय पुराण—६,०००, अग्नि पुराण १६ ०००, भविष्य पुराण—१४,५०० । ब्रह्मवैवर्त पुराण—६,०००, लिंगपुराण—११,०००, वराह पुराण—२४,०००, स्कन्द पुराण—२१,०००, वामन पुराण १०, ०००, कूर्म पुराण—१८,०००, मत्स्य पुराण—१४,०००, गरुड पुराण—१६,०००, ब्रह्माड पुराण—१२,००० ।

उत्पन्न हुई माया को ले आइए तथा यहीं अपने निकट उसे ही रख लें। ऐसा कहकर श्रीहरि शिशु रूप ग्रहण कर लेते हैं।

इसी प्रकार संसार के मिथ्यात्व के प्रति भी पुराणकार की दृष्टि रही है। उसके अनुसार पांच भौतिक शरीर एवं संसार के निर्माण का हेतु भी मिथ्या एवं अनित्य है। माया से ही मनुष्य इसे सत्य मान रहा है। वह समस्त कार्यों में काम, क्रोध, लोभ और मोह से वेष्टित है और माया से सदा मोहित, ज्ञानहीन एवं दुर्बल है।

> मिथ्याकृत्रिम निर्माण हेतुश्च पाञ्चभौतिक ।
> मायया सत्यबुद्ध्या च प्रतीति जायते नर ॥
> काम क्रोध लोभ मोहै वेष्टित सर्वकर्मसु ।
> मायया मोहितु शश्वज्ज्ञानहीनश्च दुर्बल ॥
>
> —वही—१८ । १६ २७)

स्कन्द पुराण

> त्वन्मायामोहिता सर्व न त्वा जानन्ति तत्वत -
> त्वद्यायप विजमनति ज्ञ्ह्ला कत्त्वामवड्तिम् ॥

सभी प्राणी भगवान की माया से मोहाच्छन्न हो रहे हैं, इसी कारण वे तत्वत नहीं जान पाते।

> य त्वा भवाप्यय विमोक्षण लब्दीक्ष
> मयात चात्यसुखहेतव आत्ममूलम् ।
> नून विमुष्टमतयस्तव मायया ते
> देवेन शश्वदति भग्नमगा भ्रमन्ति ॥

आपने संसार की सहार तथा मोक्षरूप फल प्रदान करने के लिए दाता स रखी है, एस आत्मा के मूलभूत आपको जो लोग सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए उपासना करते हैं उनकी बुद्धि को निश्चय ही आपकी माया ने हर लिया है।

> अस्मिन्क्षेत्रे प्रकुर्वा न विष्णुमायाविमोहिता ।
> पारदाय महादुष्ट स्वर्णास्तेमादिक तथा ॥ स्क० २।८।८।
> सेय मायागुणमयी प्रपचा य मदात्मक ।
> तवेच्छात समुत्पन्ना यया विश्वविमोहन ॥

तत्रापि वा सा चिद्‌गाना श्रवनात्स्वस्य दादर ।
भिन्नाइव प्रदृश्य त मायया परमायत ॥

यह विश्व प्रपंच जिसमें उत्पन्न हुआ है और जो विश्व पर विमोह का आवरण डालनेवाली है, वह यह त्रिगुणमयी माया आपकी इच्छा से उत्पन्न हुई है। यद्यपि परमार्थतः जीवात्मा रूप हमलोग आप चिन्मात्र के अंश हैं, तथापि आपकी माया के कारण भिन्न भिन्न दिखाई पड़ रहे हैं।

कल्याण-स्क० पु० अनुवाद रामाधारजी
शुक्ल, पृ० ३०८।

पद्म पुराण

नाथ जब जब दानवों शक्तियाँ हम दुख देने लगें, तब-तब आप इस पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करें, जैसे ' यद्यपि आप सबसे श्रेष्ठ, अपने भक्तों द्वारा पूजित, अजन्मा तथा अविकारी हैं, तथापि अपनी माया का आश्रय लेकर भिन्न रूप में प्रकट होते हैं।

यदा यदा नो दनुजा हि दु मदा
स्तदा तदा त्वं भुवि जन्मभाग्भव ।
अजो व्ययः पीश्वरो पि सन्विया
स्वभावमात्मयया निज निर्जादित ।

(पद्म पुराण—पातालखंड ५ ८ १०)

कल्याण श्रीरामवचनामृतांक, पृ० २८

मायया लोभयित्वानु विष्णु स्त्रीरूप मध्यय ।
अा गत्यदानवा प्राहृदीयना मेक मडलु ॥ ८।८।७३

पात्र मायामभूद्वत्स प्रह्लादिस्तु विरोचन ।
दोग्धा त्रिमूर्द्धा तत्रासी माया यन प्रवर्तिता ॥ १६।८।२१

रत्नस्तंभ समाकीर्ण दिव्यमाया विनिर्मितम् ।
इलावृतायमात्मान मनन्तद्भव नम्यिता ॥ १०।१।१०४

तया सहाव महद्‌व्या शतवर्पाणि भागव ।
अदृश्य सवभूताना मायया मन्निनव्रता । ३२।१३।७७

गनाम दान पश्चयति मायया सवृत गुरुम् ।
लक्षण तस्य चावुद्दानाद्यागच्छतिनोगुरु ॥ ३३।१३।२७६

नवैपधमजानानि शक्रादोना हितेरत ।
मायाविना दानवाय माययायेन विजिता । ६४।३०।५५
मायया ब्राह्मण रूप ग्रामब्रनच प्रदर्शितम् ।
अत्र कि बहुनोक्तन भाम्य दय तु विचन ॥ ६४।३०।५६

वाराह पुराण

तेन माया सहम्र तत् शबरस्या शुगामिना
बालम्य रमता देह एकैकम्येन सूचित
मेधो दयस्सागर सन्निवृत्ति
रिन्दाविभाग स्फुरितानि वायो

विद्युद्धिमगा गतसुष्णरश्मे वि णोर्विचित्रप्रभर्वात माया

इसी प्रकार महाश्चय म माया शब्द का प्रयोग किया गया है। यह माल अजा, और दुस्तरणीय ह। तभी तो भगवान न इमक अतर का विधान कहा है। यदि यह मिथ्या हो तो सतरण क्या है ?

(पुराण अक-कल्याण, पृ० ७३५।१४)

ददश राजा रक्ताक्ष कालानलसमुद्युतिम् ।
नेद्या भवति विश्वेषो मायेषा योगिना सदा वराह ॥४।४।२८
परमात्मा त्वय भूतै क्रीडते भगवान्स्वयम् ।
कृता मायावली मन्तैस्तद्वदे नन सशय ॥ ५।५।२३
मायाततयन जगनय कृत ययाग्नि नैकेतत चराचरम्
चराचरस्य स्वयमेव सवत स मेस्तुविष्णु शरण जगत्पति ।६।८।४७
अहकारो भवा देव त्वमादित्योष्टकागण ।
त्व माया पृथिवी दुर्गा त्व हिशस्त्व मरुत्पति ।२१।१७।६०
शरीरमाया दुर्गेषा कारणान्ते भविष्यति ।
दशकन्या भविष्यन्ति काष्ठास्त्वेतास्तु वारुणा ॥ २१।१७।७०
याश्च तन स्त्रिय काश्चित्सर्वाश्चयोत्पल गन्धिनी ।
मायया मतिम मुक्ता सर्वाश्चैव प्रियावृना ॥ ९०।१२२।११५

—वेंकटश्वर प्रेस, बबई ।

विमोहायस्वरूपाणि भूनाना निज मायया ॥
चरितायवताराणापि को वक्तुमर्हा त ॥ १६।५।१
स वेद धरतु पदवी परस्य दुरन्तवीयस्य रथागपाणे
यो मायया सन्ततया नुवृत्या तत्पादसरोजगन्धम् ॥ १८।५।३४
मोहा य पचधा प्रोक्तो बन्धनाथ नृणामिह
मायागुणे प्रतीकार तस्य वद्य द्विजोत्तमा ॥ २३।७।३४

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

चकार विधिना ध्यान भक्त भक्तानुकम्पया ।
श्रीमाया कामबीजाद्य ददा मन्त्रम दशाक्षरम् ॥ ६।६।६६।

प्रतिविश्वेषु दिक्पाला ब्रम्मविष्णु महेश्वरा ।
सुरा नरादय सर्वे सन्ति कृष्णम्य मायया ॥
यश्च धम सदा रक्षेद्धमस्त पररक्षति ।
धम वेदेश्वर त्व च किं मा प्रहि स्वमयया ॥ १३ ।६ ।८ ६२
माया नारायणी ज्ञाना परितुष्टा च य भवेत् ।
तस्मै ददाति श्रीकृष्णो भक्ति तन्मन्त्रमीप्सितम ॥ १५।१०७६
पत्यकएच बाधवा सर्वे विलप्य रूदुमृ शम् ।
जग्मु क्रमेण शोका र्ता मोहिता विष्णुमायया ॥ २१।१३।२३

वाल्मीकि-रामायण

रामायण और महाभारत ही एस दो ग्रथ हैं जिनका भारतीय चिन्ताधारा के अव्याहत विकास म अपूर्व योगदान है। रामायण तो आदि काव्य के रूप मे अपने यहाँ प्रतिष्ठित हो चुका है। इसीलिए सस्कृत तथा हिन्दी के प्राय सभी कवियो न एक स्वर स इसे अपना उत्तमण माना है। वस्तुत रामकाव्य को भारत तथा उसके निकटवर्ती देशा के साहित्य म एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाने तथा भारतीय सस्कृत के उज्जवलतम प्रकाशस्तम्भ के रूप म वाल्मीकि का स्थान निर्विवाद अक्षुण्ण है।

रामायण म "माया" शब्द का प्रयोग दर्शाधिक स्थलो पर हुआ है। कहीं-कहीं "मायावी" आदि शब्द भी माया स ही निर्मित कर लिए गए हैं। बालकांड के प्रथम सग म जहाँ रामायण का कथा सक्षेप म कही गई है, मारीच राक्षस को "मायावी" का विशेषण दिया गया है। "रावण न मायावी मारीच के द्वारा

श्रीमद्देवीभागवत पुराण

करोत्यणा महामाया विश्व मदमन्तात्मकम् ।
ब्रह्माविष्णुमहेशाद्य सूर्यचन्द्र गचीपति । पृ० ॥ १०८, प० ३।३५

दु माध्य महिमा राजन् मर्त्ये सर्वात्मना किल ।
माया बलवनी भूप त्रिगुणा बहुरूपिणी ॥ १७१ ४ २४

सब ओर से मत्य का पालन करना कठिन होता है । हे राजन ! माया बडी प्रबल होती है । यह त्रिगुणात्मिका और बहुरूपिणी है ।

यमेद निर्मित विश्व गुणै नर्वलित त्रिभि ।
तस्मा छनरला मत्य कुतो स्थिर भवन्तूय ॥ १३।१४ ।

हे जनमजय ! जिस माया ने अपने निर्मित तीन गुणों के द्वारा इस विश्व की रचना की है उसके करते सत्य की रक्षा कैसे हो सकती है ।

देवीभागवत

इसमें एक स्थान पर भगवान महेश्वर से शक्ति प्रश्न करती है—

भगवान् दवदेवेश मिथ्यामायेति विधुना
तस्या कथमुपास्यत्व भवेन्मुक्तावनन्यात्
श्रद्धा न जायते कापि मिथ्यावस्तुनि कुत्रचित्
दव्या उपासना चैव श्रुता मायाश्रिता प्रभो ॥

भगवान महेश्वर इसका उत्तर में कहते हैं—

नाह सुमुखि मायया उपास्यत्व ब्रुवे क्वचित् ।
मायाधिष्ठान चैतन्य उपास्यत्वेन कीर्तितम् ॥

समाज शवागम में जो शिव है वही में जो शक्ति है वही भागवत मे राधाकृष्ण और रामायण में सीताराम हैं ।

(कल्याण शिवयोग शिव और शक्ति—
प० रामदयाल मजुमदार, पृ० २०१)

आदि पुराण

विष्णोर्माया स्वरूप तु दुर्ज्ञेय ब्रम्हादिभि ।
तत्वत वदितु को हि क्षम स्यान्मुनिसत्तमा ॥ १६।५।११

विग्राहायस्वरुपाणि भूताना निज मायया ॥
चरितायवताराणापि को वक्तुमर्हा त ॥ १६।५।१२
स वेद धरतु पदवी परस्य दुरन्तवीयस्य रथागपाणे
यो मायया सन्ततया नुवृत्या तत्पादसरोजगघम् ॥ १८।५।३४
मोहा य पचधा प्रोक्तो बधनाथ नृणामिह
मायागुणे प्रतीकार तस्य वद्ये द्विजोत्तमा ॥ २३।७।३४

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

चकार विधिना ध्यान भक्त भक्तानुकम्पया ।
श्रीमाया कामबीजाद्य ददा मन्त्म दशाक्षरम् ॥ ६।६।६६।
प्रतिविश्वयु दिक्पाला ब्रस्मविष्णु महश्वरा ।
सुरा नरादय सर्वे स ति कृष्णस्य मायया ॥
यश्च धम सदा रक्षेद्धमस्त पररक्षति ।
धम वेदेश्वर त्व च किं मा प्रहि स्वमयया ॥ १२ ।१६ ।६ ६२
माया नारायणी ज्ञाना परितुष्ट च य भवेत् ।
तस्मै ददाति श्रीकृष्णो भक्ति तन्मन्त्रभीप्मितम ॥ १५।१०।७६
पर्यकएच बाधरा सर्वे विलप्य रूदुमृ शम् ।
जमु क्रमेण शाका र्ता मोहिता विष्मायया ॥ २१।१३।२३

वाल्मीकि-रामायण

रामायण और महाभारत ही ऐसे दो ग्रथ हैं जिनका भारतीय चिन्ताधारा के अन्याहत विकास म अपूव योगदान है। रामायण तो आदि काव्य के रूप मे अपने यहा प्रतिष्ठित हो चुका है। इसीलिए सस्कृत तथा हिंदी के प्राय सभी कवियो ने एक स्वर से इसे अपना उत्तमण माना है। वस्तुत रामकाव्य को भारत तथा उसके निकटवर्ती देशो के साहित्य म एक महत्वपूण स्थान दिलाने तथा भारतीय सस्कृत के उज्जवलतम प्रकाशस्तम्भ के रूप म वाल्मीकि का स्थान निर्विवादत अक्षुण्ण है।

रामायण म "माया" शब्द का प्रयोग दशाधिक स्थलो पर हुआ है। कही-कही "मायावी" आदि शब्द भी माया स ही निर्मित कर लिए गए हैं। बालकांड के प्रथम सग म जहा रामायण का कथा सक्षेप मे कही गई है, मारीच राक्षस को "मायावी" का विशेषण दिया गया है। "रावण न मायावी मारीच के द्वारा

श्रीमद्देवीभागवत पुराण

करोत्यपा महामाया विश्व मदमदात्मकम ।
ब्रह्माविष्णुम्नथरुद्र सूयश्चन्द्र शचीपति । पृ० ॥ १०८, प्र० ३।३।
दु माध्य दहिना राजन् मन्त्र सर्वात्मना किल ।
माया बलवती भूप त्रिगुणा बहुरूपिणी ॥ १३१ ४ २४

सब ओर मे सत्य को पालन करना कठिन होता है। हे राजन ! माया बडी प्रबल होती है। यह त्रिगुणात्मिका और बहुरूपिणी है।

ययेदं निर्मित विश्व गुणै त्रबलित त्रिभि ।
तस्मात्छन्नबला सत्य कुतो विद्य भवन्नृप ॥ १३।४। ४

हे जनमेजय ! जिस माया ने अपने निर्मित तीन गुणों के द्वारा इस विश्व की रचना की है, सो उन गुणों के वश में सत्य का रहना कैसे हो सकता है।

देवीभागवत

इसमें एक स्थान पर भगवान महेश्वर से शक्ति प्रश्न करती है—

भगवान् देवदेवेश मिथ्यामायेति विश्रुता
तस्या वधमुपास्यत्व भवेन्मुक्तावनन्दशन्
श्रद्धा न जायते क्वापि मिथ्यावस्तुनि कुत्रचित्
देव्या उपासना चैव श्रुता मायाश्रिता प्रभो ॥

भगवान महेश्वर इसके उत्तर में कहते हैं—

नाहं सुमुखि मायया उपास्यत्व श्रुवं क्वचित् ।
मायाधिष्ठान चैतन्य उपास्यत्वेन कीर्तितम् ॥

सम्प्रति शैवागम में जो शिव है वही में जो शक्ति है वही भागवत में राधाकृष्ण और रामायण में सीताराम हैं।

(कल्याण शिवयोग शिव और शक्ति—
पं० रामश्याम मजुमदार, पृ० २०१)

आदि पुराण

विष्णोर्माया स्वरूप तु दुर्ज्ञेयं ब्रह्मणादिभि ।
तत्वत कथितु को हि क्षम स्यान्मुनिसत्तमा ॥ १६।५।११

विमोहायस्वरूपाणि भूताना निज मायया ॥
चरितान्यवताराणापि को वक्तुमर्हा त ॥ १६।५।१२
स वद धरतु पदवी परस्य दुरन्तवीमस्य रथागपाणे
यो मायया सन्ततया नुवृत्या तत्पादसरोजग‌धम् ॥ १८।५।३४
मोहा य पचधा प्रोक्तो ब‌धनाथ नृणामिह
मायागुणे प्रतीकार तस्य वद्यद्विजात्तमा ॥ २३।७।३४

ब्रह्मवेवर्त्त पुराण

चकार विधिना ध्यान भक्त भक्तानुकम्पया ।
श्रीमाया कामवीजाद्य ददा मन्त्रम दशाक्षरम् ॥ ६।६।६६।

प्रतिविश्वेषु दिक्पाला ब्रम्मविष्णु महश्वरा ।
सुरा नरादय सर्वे स ति कृष्णस्य मायया ॥
यश्च धम सदा रक्षेद्धमस्त पररक्षति ।
धर्म वेदेश्वर त्व च कि मा प्रहि स्वमयया ॥ १२ ।६ ।६ ६२
माया नारायणी ज्ञाना परितुष्ग च य भवत् ।
तस्मै ददाति श्रीकृष्णो भक्ति त‌मन्त्रभीप्सितम् ॥ १५।१०।७६
पत्यकएच वाघश्च सर्वे विलप्य स्कन्दुमु शम् ।
ज‌मु क्रमेण नाका र्गा मोहिता निष्मायया ॥ २१।१३।२३

वाल्मीकि-रामायण

रामायण और महाभारत ही एमे दो ग्रथ हैं जिनका भारतीय चिन्ताधारा के अव्याहत विकास म अपूर्व योगदान है। रामायण ता आदि काव्य के रूप में अपने यहाँ प्रतिष्ठित हो चुका है। इसीलिए सस्कृत तथा हिंदी के प्राय सभी कवियो न एक स्वर से इसे अपना उत्तमण माना है। वस्तुत रामकाव्य को भारत तथा उसके निकटवर्ती देशो के साहित्य म एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाने तथा भारतीय सस्कृत के उज्ज्वलतम प्रकाशस्तम्भ के रूप म वाल्मीकि का स्थान निर्विवादत अक्षुण्ण है।

रामायण म "माया" शब्द का प्रयोग कतिपय स्थलो पर हुआ है। कहा कहा "मायावी" आदि शब्द भी माया स ही निर्मित कर लिए गए है। बालकाड के प्रथम सर्ग म जहाँ रामायण का कथा सक्षेप म कही गई है, मारीच राक्षस को "मायावी" का विशेषण दिया गया है। "रावण न मायावी मारीच के द्वारा

?ोना राजकुमारा को आश्रम म दूर हटा दिया।"[1] पुन कवि ?शरथ-यज्ञ के अग्निकुण्ड स निर्गत (प्रादुर्भूत पावकतुल्य प्रभा से समायुक्त विशालकाय पुरुष के युगभुजावलम्बित पायसमय-परात (बडी थाली) को "मायामयी" बतलाता है।[2] वाल्मीकि न जहाँ कहा राक्षस राक्षसी युद्धा का वणन किया है वहाँ उन्होंने माया सवलित युद्ध को ही प्रस्तार दिया है। ताटका प्रसग म जब वह राक्षसी क्रोध म विकराल रूप धारण करती है तो राम अपने अनुज स कहते है "माया बल से सम्पन्न होने के कारण यह अत्यन्त दुजय हो रही है।"[3] इसी समय वह दोना भाइया के समीप आकर "माया का आश्रय लेकर वह उन पर दुवह शिला स्रवषण करती है।[4] इस पर राम उसकी शिला दृष्टि रोक कर उसके दोना हाथ काट डालते हैं। परन्तु वह "कामरूपधरा" अपनी माया स बहुभावरूप धारण कर लक्ष्मण और राम दोना को मोह मे डालती हुई अदृश्य हो जाती है। पुन प्रलमन से अश्य वषण करने पर विश्वामित्र द्वारा आदिष्ट होकर राम अपन शब्दवेधी सायक से उसकी सारी माया शक्ति को अवरुद्ध कर देते हैं, क्योंकि "यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरावधते माया" पुन दुधव घोषित हो सकती है। बाण समूह मे आबद्ध मायाबलसमन्वित वह राक्षसी प्रमययुक्त होकर भी भयकर गजना करती हुई युगल भ्राताओ पर टूट पडती है किन्तु राम का एक ही बाण उसके प्रमापण के लिए अलम् प्रमाणित होता है।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि राक्षस जाति ही कूट युद्ध के लिए अर्थात् माया स छल कपट से युद्ध के लिए कुख्यात् है। स्पष्ट ही दशरथ विश्वामित्र से इसकी चचा करते हैं। इसी से जब विश्वामित्र जनक प्रभृति दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं उसम सवत्त, दुजय, मामल और सत्य के साथ "मायामय उत्तमास्त्र"[6] भी सम्मिलित है। मायावी राक्षसो के साथ युद्ध करने के लिए मायामय अस्त्रा की अनिवार्यता स्वत स्वीकृत है।

बालकाँड के २६ वें सग म पूववत्तात के कथा प्रसग म यह कहा गया है कि माया द्वारा वामन अवतार ग्रहण कर विष्णु देवताओ की रक्षा कर।[7]

१—वा० रा० भा० स १, श्लोक ५२।
२—वा० रा०, भा० १६ १५।
३—वही २६ ११।
४—वही २६ १६।
५—वा० रा०, दा० १६ १६।
६—वही १६ २४।
७—वही १६ २५।
८—वही २० ८, वही २० १४।
९—वही २० १६।
१०—? ? २६ ६।

मारीच और सुबाहु के यज्ञ विध्वंस के लिए उद्यत अनेक प्रकार के माया-युक्त कार्य, राक्षसों की शक्ति के विविध रूप, उपस्थित करते हैं। जिस समय वेदमन्त्रों के विमलोच्चारण से यज्ञारम्भ होता है उसी समय आकाश में घोर रव में चतुर्दिक् कम्प होने लगता है। मारीच और सुबाहु अब अपनी माया फैलाते हुए[1] यज्ञमंडप की ओर लक्ष्य करके दौड़ने लगते हैं तथा अनुचर रुधिर वर्षण कार्य करने लगते हैं। इस पर श्रीराम को उन्हें अपने मानवास्त्र के हवाले करना पड़ता है।

इसी प्रकार समुद्रमथन के पश्चात् अमृत और विष को लेकर जो देवा-सुर-संग्राम हुआ उसमें महाबली भगवान् विष्णु ने मोहिनी माया का आश्रय लेकर सद्यः अमृत का अपहरण कर लिया।[2]

अहल्योद्धार प्रसंग में उसका रूप वर्णन करते समय कवि कहता है— 'विधाता ने बड़े ही यत्न से अहल्या के अंगों का निर्माण किया था। वह मायामयी-सी प्रतीत होती थी।[3] यहाँ मायामयी शब्द रूप की असाधारणता का ही द्योतित करता है।

अरण्यकांड में रावण, शूर्पणखा का प्रतिशोध राम से लेने के लिए मारीच को मायामय कांचन-मृग बनने का आदेश देता है,[4] जिससे सीता आश्चर्यवती होकर उसकी माँग अपने पति राम से करें। उस मायामृग का प्रभाव भी सीता पर तद्रूप हो पड़ता है। उधर वह मायामृग जनक किशोरी की ओर देखता है।[5] और उधर जनक किशोरी उस पर ललचाती है। अन्त में जब राम उस मृगचर्म की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होते हैं तो लक्ष्मण उस हरिण को पहचानकर कि यह अनेक आखेटक नरेशों का वध-कर्त्ता मारीच ही है, कहते हैं "यह अनेक प्रकार की मायाएँ जानता है। इसकी जो माया सुनी गई है वही इस प्रकाशमान मृगरूप में परिणत हो गई है। यह गंधर्व नगर के सदृश सत्याभास मात्र है। इस भूतल पर कभी एतादृश विचित्र रत्नमय मृग दृष्टि में नहीं आया। अतः निस्संदेह यह माया ही है।"[6] इस पर राम का कथन है "लक्ष्मण, तुम जैसा कह रहे हो यदि

१—वा० रा०, बा० ३०–११।
२—वही, ४५ ४२।
३—वही, ४६-१४।
४—वा० रा०, अर० ४० १६।
५—वही, ४२ ३४।
६—वा० रा०, ४३ ७।

वैसा यह मृग हो, अर्थात् यदि यह राक्षस की माया हो तो भी मुझे उसका वध अवश्य करणीय है।[1] और अंत में उसका मर्म विदीर्ण करने पर राम को स्वीकार करना पड़ता है कि यह वास्तव में मारीच की माया ही थी। इसका स्पष्टीकरण लक्ष्मण भी सीता से राम के प्रयाण के पश्चात् करते हैं।[3] सीता-हरण के पश्चात् जब रावण उन्हें लंका में ले जाकर अपने अन्तःपुर में रखता है। उसके लिए कवि कहता है, "मानो, मयासुर ने मूर्तिमती आसुरी माया को वहाँ स्थापित कर दिया हो।" रामायण तिलक नामक व्याख्या के विद्वान् लेखक ने यह बताया है कि यहाँ सीता से उपमा दिया जाना मायामयी सीता के लिए आने की ओर संकेतित है। जटायु से भेंट होने पर वह राम को राक्षसराज रावण की विपुल माया का समस्त विवरण प्रस्तुत करता है। "उस दुरात्मा रावण ने विपुल माया का आश्रय ले आँधी-पानी की सृष्टि करके सीता का हरण किया था।

किष्किन्धाकाण्ड में भ्रातृ-रिपुता के कारण मध्यान्ह में सुग्रीव श्रीराम से कहता है कि मायावी नामक एक तेजस्वी राक्षस के यहाँ आने के फलस्वरूप ही यह सब हुआ है।[4]

पुनः उसी काण्ड में हनुमान की वृद्धा से इस जिज्ञासा पर कि यहाँ के निर्मल जल में सोने के कमल कहाँ उत्पन्न हुए, उस वृद्धा का उत्तर है—"वानर श्रेष्ठ! मायाविशारद महातेजस्वी मय का नाम कौन नहीं जानता? उसी ने अपनी माया के प्रभाव से इस समस्त स्वर्णमय वन का निर्माण किया है।"[5] ध्यातव्य है कि इसी मायानिर्मित पर्वत की दुर्गम गुफा में वानर कुल-मास पर्यन्त सीता के अनुसंधान में बिना किसी शुभ परिणाम के रह गया।[6] यह वानरों के लिए मृत्यु का हेतुक सिद्ध था। क्योंकि उन्हें महीने भर में ही पता लगाकर आना था। अतः उनमें विषाद का वातावरण उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। इस विषय में तार की उक्ति बड़ी सटीक है—यह गुफा माया से निर्मित होने के कारण अत्यन्त दुर्गम है। यहाँ फल-फूल, जल और खान-पान की दूसरी वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।[8] अतः इसके उप-

---

१—वा० रा० अर० ४३ ३८ ।
२—वही, ४६ २३ ।
३—वही, ४५ १७ ।
४—वा० रा० सु०, ६८-९ ।
५—वही, कि० ९ ४ ।
६—वही, ५२ १० ।
७—वही, ५३ २ ।
८—वही, ५३ २८ ।

याग करने में हिचकिचाहट नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। फिर वे सम्पाती से उस विवर का वर्णन करते हुए कहते हैं, "वह विवर मायासुर की माया से निर्मित हुआ है। उसमें खोजते-खोजते हमारा एक मास बीत गया।"[१]

सुन्दरकाड में जब हनुमान सीता के अनुसंधान-कार्य हेतु लंका जाते हैं तो उनसे मिलने पर सीता के मन में बार-बार यही शंका उत्पन्न होती है कि कहीं यह रावण ही अपनी माया से मुझे वंचित न कर रहा हो। वह कहती है, "माया प्रविश्य॰॰॰" यदि तुम स्वयं मायावी रावण हो और मायामय शरीर में प्रवेश करके फिर मुझे कष्ट दे रहे हो।" सीता रावण की बहुरूपधारी माया से बिल्कुल आक्रांत है। किन्तु मात्र देवी-देवताओं की ओर से ही राक्षसी माया के प्रति यह भयावजक स्वर निनादित नहीं होता, वरन् राक्षस कुल भी देवताओं की दुर्वयी माया से उसी रूप में दुराक्रांत है।

लंकादहन के प्रसंग में हनुमान द्वारा पावक-परिस्तरण से समस्त पुरी को दग्ध होने देख अनेक प्रकार की शंकाओं के मध्य एक देवी माया भी उनके सहार का विस्मय पक्ष है। राक्षसों का एकत्रित समूह कहता है "यह विष्णु का महान् तेज, जो अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अद्वितीय है, अपनी माया से वानर का शरीर ग्रहण करके राक्षसों के विनाश के लिए तो इस समय नहीं आया है।"[२]

युद्धकांडांतर्गत रावण की मुख प्रशंसा में उसके सभासद उसके पराक्रम तथा विजित वस्तुओं का अनेकविध वर्णन करने के क्रम में यह भी कहते हैं कि "हे राक्षस-राज! पहले दानव अद्भुत शक्ति सम्पन्न थे किंतु आपने समरभूमि में वर्णांत तक युद्ध करके अपने बल से उन सबको अपने अधीन कर लिया और वहाँ उनसे बहुत सी मायाएं भी प्राप्त की।[३] यही कारण है कि रामायण के युद्धकांड में रावण समरांगण में माया-पुंषित बहुश: कौतुक दिखलाता है। उसके अनेक दुर्धष सेनापति माया शक्ति की विशिष्ट उपाधियों से युक्त हैं। उदाहरणार्थ, विद्युज्जिह्वको, जो सीता को मोह जाल में आबद्ध करने में रावण की प्रभूत साहाय्य प्रदान करता है, "महामायावी", "मायाविशारद"[४] आदि उपाधियों से अभिषिक्त किया गया है। यह राक्षस महाबली तथा अपूर्व मायावी है। राक्षसराज रावण इससे कहता है कि हम दोनों माया द्वारा

१—वा० रा०, कि० ५७ १७।

२—वा०, स० ५४ ३८।

३—वही, यु० ८ ११।

४—वा० रा० यु० ३१ ६

जनकनन्दिनी सीता को मोहित करने का उपक्रम करें।[1] इसके लिए श्री रामचन्द्रजी का मायानिर्मित मस्तक लेकर एक महान धनुष-बाण के साथ मेरे पास आना होगा। रावण से आदिष्ट असुर विद्युज्जिह्व पुनः आश्रमपार्श्व में प्रकट कर अपूर्व माया निर्मित कराता है।[2] अब रावण की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं। तैंतीसवें सर्ग में "सरमा" की सान्त्वना से रावण की माया का रहस्योद्घाटन होता है।[3] वह कहती है "सीते! रावण की बुद्धि और कर्म दोनों ही बुरे हैं। वह समस्त प्राणियों का विरोधी, क्रूर और मायावी है, उसने राम का मस्तक और धनुष माया द्वारा रचकर, तुम पर माया का प्रयोग किया है।[4]" सचमुच वह रावण शत्रुओं को रुलानेवाला तथा मायाबल से सम्पन्न था।[5] उसका पुत्र मेघनाद भी इस क्षेत्र में उसका समकक्ष ही जान पड़ता है। युद्ध में राम लक्ष्मण को वह घोर सर्पमय बाणों से क्षत विक्षत कर स्तब्ध कर देता है।[6] पुनः माया से आवृत हो समस्त प्राणियों के लिए अदृश्य होकर उन दोनों भाइयों को मार्ग में डालते हुए सर्पाकार बाणों के बंधन में आबद्ध कर देता है।[7] वस्तुतः समक्ष समर नहीं होने के कारण माया का प्रयोग करने को उतारू रावणराजकुमार भ्राता-द्वय के साथ उक्त प्रकार से पेश आता है।[8] उसकी माया निश्चित रूप से दुर्गम्य है। तभी तो समस्त वानर सम्पूर्ण दिशाओं तथा आकाश में बारम्बार दृष्टिपात करने पर भी मायाच्छन्न इन्द्रजित को नहीं पाते। यह कार्य रावण कुलप्रसूत ही कर सकता है। तब विभीषण अपनी माया शक्ति से रचना आरम्भ करते हैं और वे सद्य अपने भ्रातृपुत्र के वश में प्रवेश हो जाते हैं।[10] उस महामायावी[11] की मायाशक्ति अवश्यमेव असाधारण थी। इसीलिए सीता को भी यह विश्वास हो गया है कि अतुलित पराक्रमी श्रीराम और लक्ष्मण को इन्द्रजित् ने स्वयं माया से अदृश्य होकर रणभूमि में मार डाला है।[12] निस्सन्देह क्रूर कर्मा उस इन्द्रजित्

१—वा० रा० यु० ३१ ७
२—वही, ३१ ८।
३—वही, ३१ ९।
४—वही, ३३ १३।
५—वही ३४ ८।
६—वही, ४४ ३८।
७—वही, ३७।
८—वही, ३९।
९—वही, ४५ ८।
१०—वही, ९।
११—वही, ४५ ५।
१२—वही, ४८ १७।

न मायावत म नागरूपी वाणो का बधन तयार किया था। य नाग राक्षम की माया प्रभाव स शरीर म आश्लिष्ट हो जाते थे।[1] अत सीता का सप्रमोह अनावश्यक नही था। और उस पर भी "मायाधीश" राम क समक्ष आसुरी माया कब तक चल सकती थी? राक्षसो का सहार अब निश्चित हो गया। अतिकाय की मृत्यु सुनकर रावण उद्विग्न मन स राम की माया की प्रशसा करता है। न जाने कौन सा प्रभाव था, कसी माया थी, जिसम व उस बधन म छूट गय।[2]

रामायण म युद्ध क समय इन्द्रजित की माया का जहाँ कहीं वणन आया है, वहाँ अदृश्यता और वाणो का मायापूणता अवश्यमव सप्रकाशित है। युद्धकाड के ७३वें सग म कवि कहता है कि इन्द्रजित क वाणो द्वारा छन्न म मार जाकर पवताकार वानर रणभूमि म चीखत चिल्लात गिर पडत थे।[3] इसम नि-त-वर्त्ती का शरीर, उसक शास्त्र विम का भी दृष्टिगत नही होते थे। यह अपने आप म समग्रत माया का ही प्रभाव था, जिसकी अदृश्यता, और वञ्चना, दो सर्वाधिक प्रसृत विशिष्टताए हैं। राम स्वय अपन अनुज स कहत है कि "यह मायावी राक्षस इन्द्रजित बडा नीच है। इसन 'अन्तधान शक्ति' (अन्तर्हितस्यबलात्) स अपना रथ छिपा लिया है। समस्त रामायण म इन्द्रजित की माया ही अद्भुत अनक काय करने स समय राम को पग-पग पर परेशान करनेवाली सिद्ध हुई है। आखिरी दम तक वह माया-प्रसारी राम लक्ष्मण का युद्धोद्यत देख मायामयी सीता का निमाण कर, अपन रथ पर स्थापित करक विशाल सना क समक्ष उसका वध करन को प्रस्तुत होता है। वह नन्यात मायोत्पन्न साता भी विचित्र थी। माया द्वारा वह रथ पर बैठाई हुई राम हा राम, कहकर चिल्लाती था तथा राक्षस कुमार उसे निदयता स पीटता चला जाता था। पश्चात् हनुमान क इस नीतियुक्त वचन पर कि स्त्रियो को मारना उचित नही, वह इन्द्रजित अपन तीक्ष्ण तलवार क घातक प्रहार स उस रुदती मायामयी सीता को दो टुकडे कर देता ह। यहा राम द्वारा दी गई दोना पूवकथित उपाधियाँ उस पर साथक सिद्ध होती हैं। स्त्री को भरी सभा म पीटना तथा अनत उसका प्राणापहरण, नीचता क चरम बिन्दु का उजागर करता है तथा मिथ्या सीता म वास्तविक सीता का समारोपण, उसकी अद्भुत मायाशक्ति क लिए उपादलन-काय करता है। यद्यपि

१—वा० रा० यु०५० ४८ ८६।

२—वही, ७२ ७।

३—वही, ७३ ५५।

अन्त में उनके माया प्रयोग का रहस्योद्घाटन विभीषण यह कहकर करते हैं कि राक्षस इन्द्रजित वानरों को मोह में डालकर चला गया। वस्तुतः जिसका उसने वध किया था, वह तो मायामयी जानकी थी। वानरों के पराक्रम से दुखात होकर ही उसने इस प्रकार की माया का प्रयोग किया है। इस पर श्रीराम कहते हैं "सत्य पराक्रमी विभीषण उस भयंकर राक्षस की माया को मैं जानता हूँ। वह ब्रह्मास्त्र का ज्ञाता, बुद्धिमान, बहुत बड़ा मायावी और महान बलवान है।' इसी हेतु से वे उस मायावी से सम्पृक्त इन्द्रजित से युद्ध करने के लिए लक्ष्मण के साथ तत्मायान (तमायान) राक्षसराज विभीषण को भी पीछे से भेजते हैं।

माया शक्ति प्रदर्शन में रावण भी अपने आत्मज इन्द्रजित से कम नहीं हो सकता है। राम रावण द्वारा विभीषण पर किए गए प्रहार को लक्ष्मण ने अपने प्रयास से उसे समाप्त कर उनका प्राण बचा लिया था। इस पर रावण अत्यन्त कुपित होकर मयासुर की माया से निर्मित आठ घण्टों से विभूषित तथा महाभयंकर शब्द करने वाली अमोघ एवं सर्वावधि शत्रुघातिनी शक्ति जो क्षण-क्षण अपने तेज से प्रज्वलित हो रही थी, से लक्ष्मण को लक्ष्य बनाता है। यह शक्ति निर्विघ्न अमोघ है जिसके फलस्वरूप लक्ष्मण का हृदय विदीर्ण हो जाता है और वे गिर पड़ते हैं। यद्यपि राम उन्हें अंत में बचा ले जाते हैं।

इस प्रकार समग्र रामायण में असुरों की माया शक्ति और उनके अनन्त प्रयोगों का उल्लेख हो चुका हुआ है। उत्तरकाण्ड के छठे सर्ग में कवि सभी राक्षसों को "बहुमाय" अथवा 'मायाविद" मानता है। माया का ज्ञान उनका पैतृक-संस्कार जान पड़ता है। स्वयं रावण की पत्नी "मय" नामक असुर की दुहिता थी और उसकी लंका मय की माया से निर्मित। "मय" के पुत्र का नाम यथानाम तथा गुण "मायावी" था। ये राक्षस अपने मयाबल के भरोसे ही यक्षों को अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए थे। रावण उनका राजा बना था। और राक्षसी माया में निपुणता प्राप्त करने लगे थे बाद राक्षसी माया के आश्रय से कुबेर का विनाश करने के लिए लाखों रूप धारण किया था। फिर बाद में उसने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान पूर्ण कर पशुपति से दिव्य आकाशचारी रथ तथा तामसी नाम की माया, जिससे अंधकार उत्पन्न किया जाता है, प्राप्त की। इस माया का संग्राम में प्रयोग करने पर देवासुर शक्तियों में से किसी को भी प्रयोक्ता की उपस्थिति का पता नहीं लग सकता था। उस तामसमाया महामाया ने देवों के साथ संग्राम में रावण तनय मेघनाद ने दलदल में प्रवेश कर अपने को छिपा लिया था तथा क्रोधयुक्त होकर शत्रुसेना को खदेड़ दिया था। पुनः देवराज इन्द्र से भी वह अपनी माया के कारण वह न प्रबल हो रहा था। उसने इन्द्र को माया से व्याकुल करके बाणों से उनपर आक्रमण किया। फिर उन्हें माया से बाँधकर अपनी

सेना मे नाया। यद्यपि इन्द्र भी राक्षसी माया सहार करने की कला म अत्यन्त निपुण थे। दवो म भी माया का अश काफी माना गया है। इन्द्र के अतिरिक्त स्वय विष्णु के सबध मे काल का कथन है कि "पूर्वकाल म समस्त लोको को माया के द्वारा स्वय ही अपने मे लीन करके आप महायुद्ध के जल म शयन किया था तथा विशाल फण और शरीर स युक्त उस जल म शयन करनेवाले "अनन्त" सज्ञक नाग को माया द्वारा प्रकट करके आपने दो महाबली जीवो को जन्म दिया, जो "मधु" तथा "कटभ' क नाम से प्रसिद्ध हुए।" ब्रह्मा अपनी प्रार्थना मे कहते हैं "देव! आपही सपूर्ण लोको के आश्रय है। आपकी पुरातन पत्नी योगमाया स्वरूपा जो विशाल लोचना सीता देवी है। उनको छोडकर दूसरे कोई आपके यथार्थरूप को नही जानते है।"

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण म राक्षसी माया तथा मायास्त्रो द्वारा सपादित कौतुक-युद्धो का भूरिश वर्णन आया है। कीथ ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास म परम्परा के प्रमुख प्राक स्वरूप की निन्दा की है, क्योकि इसके चलते समस्त सस्कृत साहित्य का युद्ध वर्णन माया का मिथ्यात्मक स्वरूप धारण कर लिया और उसकी स्वाभाविकता जाती रही। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य मे तुलसी के मानस-स्थित राम भगवान युद्ध तथा खर-दूषण राम युद्ध मे इस वाल्मीकि रामायण के प्रसग की छाया द्रष्टव्य है।

महाभारत की माया-भावना

रामायण के प्रसग म हम कह आए है कि भारतीय चिन्ताधारा पर महाभारत और रामायण का जितना पुष्कल प्रभाव है उतना किसी अन्य ग्रन्थ का नही। इन दोनो ग्रन्थों ने धर्म, काव्य और दर्शन, इन तीनो क्षेत्रो में अभूतपूर्व मथन प्रोत्पन्न किया है। महाभारत मे कुछ तत्कालीन प्रत्यात मतो का उल्लेख हुआ है,[1] जिससे उपनिषद् काल से सूत्रकाल तक के सपूर्ण दार्शनिक विचार धारा की विकास-सरणि पाठगायित होती है, तथापि इस प्रसग मे मेरा अभीष्ट माया शब्द के विभिन्न स्थलो पर विशिष्ट प्रयोग दृष्टिनिक्षेप मे ही है। डा० विनय ने अपने शोध प्रबध के पृ० ४३४ पर लिखा है—"महाभारत" म शकर मायावाद का व्यापक रूप तो अप्राप्त है किंतु उसके स्रोत अवश्य उपलब्ध है। "महाभारत' म माया के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और सहार के साथ जगत् की अनित्यता का जिस रूप मे वर्णन किया गया है उसे मायावाद का स्रोत मानने मे अवरोध नही।[2] महाभारत के

१—महाभारत का आधुनिक हि० प्र० का० पर प्रभाव डा० विनय, पृ० ४०८।
२—महाभरत का आधुनिक हिंदी प्रबधकाव्यो पर प्रभाव डा० विनय, पृ० ४३४।

दार्शनिक चिंतन के अन्तर्गत माया का विभाजन, ब्रह्म, जीवात्मा, जगत् आदि के सदृश विस्तार से नहीं किया गया है।[1] तात्पर्य यह कि महाभारतकार ने जिस प्रकार ब्रह्म, आत्मा और सृष्टि की उत्पत्ति संसार आदि का विवेचन अनेक उपाख्यानों द्वारा करके तद्युगीन अनेक सम्प्रदायों के तत्वचिंतन में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है, उसी रूप में "माया" का उसने स्वतन्त्र विवेचन का विषय नहीं बनाया। चार पांच स्थलों पर भी माया की चर्चा हुई है। किन्तु महाभारत के सांगोपांग अध्ययन से उक्त कथन के सांतत्य में वक्तव्य उत्पन्न हो जाता है। "माया" शब्द का उल्लेख महाभारत के युद्ध प्रसंग में शतशः बार हुआ है। "कूटयुद्ध" की चर्चा वाद के प्रबंधकाव्यों में हम पाते हैं और जिसके लिए कोष आदि संस्कृत साहित्येतिहासकार भारतीय युद्धों में कृत्रिमता का आभास पाकर उसे विगर्हणा की दृष्टि से देखते हैं, उस मायायुद्ध का प्राकृत रूप हम इन्हीं ग्रंथों में सर्वप्रथम पाते हैं। इस प्रकार "माया" को लेकर परवर्ती दार्शनिकों में जितना ऊहापोह हुआ उसका मूलाधार अवश्य महाभारत में उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता किन्तु कूटयुद्धों की परम्परा का आधार तो हम यहीं मान हो सकते हैं।

शांतिपर्व में श्वेतकेतु सुवर्चला के संवाद में, गीता के "सर्व मिदं प्रमयम्" की भांति, श्वेतकेतु, ईश्वर की अनेक मायाओं की चर्चा करते हैं —

यावत् पांसव उद्दिष्टास्तावत्यो ह्यस्य विभूतयः
तावत्यश्चैव मायास्तु तावत्यः स्याश्च शक्तयः ॥

म० शान्ति० २२०। द० भा० का ६० वां श्लोक।

सुवर्चला श्वेतकेतु से संसार, जन्म आदि अनेक प्रकार के विरोधों का प्रयोजन पूछती है, तो उसका उत्तर "परमेश्वर समीडा लोक सृष्टियिय शुभे" के रूप में मिलता है। तदुपरांत वे कहते हैं कि धूलि के जितने कण हैं, परमेश्वर श्रीहरि की उतनी ही विभूतियां हैं उतनी ही उनकी मायाएं हैं और उनकी माया की उतनी शक्तियां भी हैं। इस कथन से परिस्पष्ट है की माया को परमेश्वर की शक्ति के रूप में मानना और उसमें संसार की स्थिति की स्थापना महाभारत-काल में पूर्णरूप से मान्य थी।[3]

अब हम कुछ अन्य स्थलों का परीक्षण करेंगे जिनमें माया शब्द का विभिन्नार्थों में प्रयोग हुआ है। विशेषतया छल-कपट, मिथ्याचार, अथवा अनेक कूट युद्धों के

१—महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध काव्यों पर प्रभाव डा० विनय, पृ० ८३८।

२—महाभारत का आधुनिक प्रबंध काव्यों पर प्रभाव, पृ० ४३८।

३—वही, पृ० ४३६।

संबंध में "माया" शब्द का व्यवहार हुआ है। इसके लिए हमने समस्त महाभारत के कतिपय अध्यायों (पर्वों) के उद्धरण योग्य श्लोकों के प्रतिनिधि रूप का ही लिया है। कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

विदुर जी कहते हैं —"जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, नीत्या-नुसारेण, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए। कपट का आचरण करनेवाले के साथ कपटपूर्ण बर्ताव करें और अच्छा बर्ताव करनेवाले के साथ साधुभाव ही रहना चाहिए।"

यस्मिन यथा वर्तते यो मनुष्य स्तस्मिंस्तथ वर्तितव्य स धर्म।
म याचारो मायया वर्तितव्य साध्वाचार साधुना प्रत्येपेय ॥

—सप्तत्रिंशो अध्याय । ८, पृ० २१५५।

अकर्मशील च महाश च लोकद्विष्ट बहुमाय नृशंसम्
अदेशकालज्ञम निष्ट वेष मेतान् गृहेन प्रतिवासयन्त ॥

—सप्त० ।३५, पृ० २१५७।

सनत्सुजात का धृतराष्ट्र से कथन—"इस संसार में अधम में निपुण, छल कपट में चतुर और मानवीय पुरुषों के अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य, पूज्यश्चद जनों को भी आदर नहीं देते।"

अधम निपुणा मूढा लोके मायाविशारदा
न मा य मानयिष्यति मान्यानामवमानिन ।

—द्विचत्वारिंशो ध्याय । ४३ ॥, पृ० २१७

पुनः—"जो कपटपूर्वक धर्म का आचरण करता है, उस मिथ्याचारी का वेद पापों से उद्धार नहीं करते।"

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ॥[1]

उसी प्रकार संजय की उक्ति "मायोपध प्रणिपाताजव स्या" में उसी कपट मिथ्याचारिता की ध्वनि है।

माया द्वारा भयंकर अथवा सूक्ष्म रूप धारण की बात महाभारत में आई है। संजय, धृतराष्ट्र से कहता है —

अयं सोभ योग्यथाभास शस्य विभीषण मायया शल्वराजस।[3]

1—महाभारत उद्योगपर्व पृ० २१७८।
2—महाभारत उद्योगपर्व, पृ० २१६५।
3—वही, पृ० २२॥३ ७६।

इन्होने सोम नामक विमान पर बैठ हुए तथा माया क द्वारा भ षण रूप धारण करक आए हुए आकाश म स्थित शल्वराज के साथ युद्ध किया।

विश्वकर्मा की माया एव अन्तरन् म भी ध्वज का अजेय अनवरुद्धता - दुर्योधन से सजय का कथन-

सर्वादिशोयोजनमात्रमन्तरम नियगूध्व चशरोध वे ध्वज
न सजते सौ तरुभि सन्नतो थि तदा हि माया विहिता भा मनेन।
१० श्लो०, पृ० २२ ८।

वह विश्वकर्मा की माया स वृक्षा म आवृत अथव अवरुद्ध होने पर भी कभी अटकता नही है।

दिव्या माया विहिता भीमसेन समुच्छिना इन्द्रकेतु प्रकाशा
द्विचत्वारिशदधिक शततमो ध्याया।

परशुराम दम्भोद्भव से कहते हैं 'लक्ष्यवेध करनेवाले नरमुनि ने माया द्वारा सीक के बाणो से ही दम्भोद्भव क सैनिको के आँख, कान, और नाक बेध डाल।

तेक्षामक्षीणि कणाश्च नासिकाश्चैव मायया।
सप्तनवतितमो ध्याय । ३१, पृ० २३२७

हिरण्यपुर[1] क वणन मे नारद दैत्यो की सहस्र मायाओ का वणन मुक्त कठ स कहते हैं—इस हिरण्यपुर नामक विशाल नगर म सैकडो मायाओं के साथ विचरने वाल तथा सहस्रो मायाओ का प्रयोग करने वाल देत्य निवास करत हैं—

हिरण्यपुरमित्यतत् त्यात पुरवर महत्
दैत्याना दानवना च मायाशत विचारिणाम।
अत्र माया सहस्राणि विकुर्वाणा महौजस। ३
—शततमो अध्याय १ ३

भगवान कृष्ण के सबध मे उनकी महिमाविति के वणन-क्रम में सजय धृतराष्ट से कहता है कि भगवान वासुदेव का सुदशन नामक चक्र उनकी माया स अलक्षित होकर उनके पास रहता है—

व्यामा तर समा स्थाय यथामुक्त मनस्विन
चक्र तद् वासुदेवस्य मायया वतते विभो।
—म० अष्टषष्टि।
तमो ध्याय श्लोक २, पृ० २२५२।

१—महाभारत—उद्योगपर्व, पृ० २३३२, श्लो० १ ३ तक।

पुन सुपर्ण के द्वारा यह कहलाया गया है कि यहाँ सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरणों और सहस्रों मस्तकों वाले अविनाशी भगवान विष्णु हा इन मायाविशिष्ट महेश्वर का साक्षात्कार करते हैं—

अत्र विष्णु सहस्राक्ष सहस्रचरणो व्यय
सहस्रशिरस श्रीमानेक पश्यति मायया ॥७॥

—शततमो ध्याय पृ० ^^/१

माया द्वारा विकट रूप धारण करना

दुर्योधन का उलूक को दौत्य-कार्य देकर पाण्डवों के पास भेजकर रहने के लिए आदेश देने के अन्तर्गत हम इस उक्त विकट रूप धारण को ले सकते हैं—

सभामध्य च यद् रूप मायया कृत वानसि ।
तत् तथैव पुन कृत्वा सार्जुनोऽमभिद्रव ॥

श्लोक ५४, पृ० २४६३

इस स्थल पर माया के पर्याय के रूप में "इन्द्रजाल" और "कुहक" का एकार्थीय प्रयोग हुआ है जिनका परिणाम रूप कार्य एक ही बतलाया गया है किन्तु इसका प्रभाव सार्वकालिक न होकर क्षणिक होता है।

इन्द्रजाल च माया वै कुहका वापि भीषण ।
आत्तशस्त्रस्य सग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जना   ॥ श्लोक० ५५

माया से ये लोग आकाश में उड़ सकते हैं। अन्तरिक्ष में जा सकते है तथा रसातल या इन्द्रपुरी में भी प्रवेश पा सकते हैं,[1] तथा माया द्वारा अनेक विध युद्धों का निर्माण कर सकते हैं।[2] इस प्रकार अस्त्र की लक्ष्यहीनता, उसकी असमर्थता और निरंकुशता का सारा भार माया पर ही डाल दिया जाता है। देवी माया का श्रीकृष्ण द्वारा विस्तार इसी परिच्छेद की सफलतम भूमिका है। दुर्योधन का जलान्तमध्य वास और माया द्वारा सरोवर की वीचियों का स्तम्भन कुछ तज्जातिक उपलब्धि की हा विशिष्टतम सामग्री है। "मायामप्सु प्रयोजिताम्" दुर्योधन के इस जलावरोधन कार्य का उच्छन्न श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर को नैमित्तिक महत्व प्रदान करने के व्याज से

१—म० श्लोक ५६।
२—पृ० २४६२।

भूतपुत्र वण के अस्त्र की माया उससे कम नहीं थी।[1] इसीलिए दोनों के बीच जिस माया युद्ध का अकन महाभारतकार ने किया है वह अपने आप में अद्भुत, प्रचड और अलौकिक सा दिखाई पड़ता है। अदृश्य शक्ति का शरीर में सचरण और स्वशरीर का अदृश्यत्व इन माया युद्धों की सवमान्य और सबल प्राप्त विशिष्टतायें हैं। इसके अतिरिक्त रक्त की वर्षा।[2], अस्थियों से युद्ध क्षेत्र को पाट देना, पत्थरों की वर्षा, सर्वत्र अंधकार का साम्राज्य फैला देना रक्तिम पुञ्ज कुल के मध्य भयकर अग्नि के विस्फुलिंगों की सृष्टि[3], अस्त्रशस्त्रों का परस्पर अपहरण काय, एक स्थान से दूसरी जगह उड़कर जाना और इसी तरह की अघटित घटनायें इस माया युद्ध (कूटयुद्ध) में देखने को मिलती हैं।

दार्शनिक दृष्टि से महाभारत में 'माया" शब्द के लिए "विकार" और प्रकृति दोनों शब्दों का व्यवहार हुआ है।[4] उद्योग पर्व का सनत्सुजात पर्व इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस पर्व में ब्रह्म और माया का स्वरूपात्मक सबध स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। धृतराष्ट्र प्रश्न करते हैं कि यदि परमात्मा ही क्रमश सम्पूर्ण जगत् रूप में प्रगट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुष पर कौन शासन करता है, अथवा उसे इस रूप में आने की क्या आवश्यकता है?

> को सौ नियुङ्क्ते तमज पुराण सचेदिद सर्व मनुक्रमेण
> कि वास्य कार्यमथवा सुख च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्व यथावत्।
>
> —म०, उद्योग ४२।१९

धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर में सनत्सुजात जीवात्मा की महत्ता और माया के सबध का विवेचना करते हैं कि "अनादिमाया" के सम्बन्ध में जीवों का काम सुख आदि से सबध होता रहता है, ऐसा होने पर भी जीव की महत्ता नष्ट नहीं होती, क्योंकि माया के सम्बन्ध में जीव के देहादि पुन उत्पन्न होते हैं (म० उद्योग ४२।२०) जो नित्य स्वरूप भगवान् है, वे ही पर ब्रह्म की शक्ति है। महात्मा पुरुष इस मानते हैं—

> यएतद्वा भगवान् सनित्यो विकार योगेन करोति विश्वम्
> च तच्छक्तिरिति स्यम मन नाथाय योगे चमर्वा त वदा।
>
> —म० उ० ४२।२१

१—म०, पृ० २४६८।
२—म०, पृ० ३६४७।
३—म०, पृ० ३६५०।
४—महाभारत का आ० हि० प्रबंध काव्यों पर प्रभाव, पृ० ४३६।

रूप में महाभारत में "विकार" का प्रयोग किया। "विकार" शब्द का कोई प्रश्न नहीं दार्शनिकों में नहीं अतः टीकाकार का "माया" अर्थ उचित ही जान पड़ता है।[1] चिंतामणि विनायक वैद्य ने इसे इसी रूप में स्वीकार किया है। (महाभारतमीमांसा, पृ० ५,६) इसी तरह शांतिपर्व में भी एक स्थान पर कहा गया है कि माया के कारण ही परमेश्वर का रूप छोटा अथवा बड़ा होता है (म० शा० १८२।३४) यहाँ भी टीकाकार ने "माया" शब्द का प्रयोग किया है। पुनः वहाँ यह कहा गया है कि "हे नारद, जो तुम देखते हो वह माया है, जिसे मैंने उत्पन्न किया है। यह मत समझो कि मेरे रचे हुए संसार में जो गुण पाए जाते हैं वे मुझमें विद्यमान हैं। प्रस्तुत प्रसंग गीता और नारद पांचरात्र की माया भावना से तुलना करने पर पृथक् नहीं लगता। गीता की भाँति यहाँ भी माया शब्द के लिए "प्रकृति" का पर्याय प्रयुक्त हुआ है। भगवान् कहते हैं यद्यपि मैं अजन्मा नाशरहित स्वभाववाला हूँ और ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त संपूर्ण भूतों का नियमन करनेवाला ईश्वर हूँ तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया को जिसके वश में समस्त संसार रहता है, और जिससे मुग्ध हुआ मनुष्य अपने वासुदेव स्वरूप को नहीं जानता, ऐसी अपनी प्रकृति माया को अपने वश में रखकर अपनी लीला से ही शरीरवाला सा जन्म लिया होता हूँ। यहाँ निष्कर्ष रूप में माया विषयक दो चीजें प्राप्त होती हैं। प्रथम यह कि माया परमेश्वर की शक्ति है और परमेश्वर उसको अपने वश में रखता है, अर्थात् माया द्वारा प्रतिभासित तत्व ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध नहीं हो सकता। माया सर्वथा ब्रह्म के आधीन है। द्वितीयतः यह कि जीव माया के कारण ही अपने मूल रूप को नहीं जान पाता। "महाभारत" में "माया" को इन्द्रजाल की शक्ति" (म० उ० १६०।५४ ५७) रहस्ययुक्त देवी शक्ति (म० वन० ९। ७) योगशक्ति (म० उ० १६०।५५।५६) और मोहित करनेवाला (म० वन० ३० ३२) शक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

गीता की माया-भावना

"दोग्धा गोपालनन्दन" के "मुखपद्याद्विनिःसृत" श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रन्थों[1] में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। यह वैष्णवागमों में प्रस्थानत्रयी[2] स्मृतिरूप में भी सुप्रतिष्ठित है। उसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका से

१—महाभारत का आधुनिक हिंदी प्रबंध काव्यों पर प्रभाव डा० विनय, पृ० ४३६।

१—भगवद्गीता डा० राधाकृष्णन, पृ० १।

२—गीता रहस्य-बा० ग० तिलक, पृ० १।

३—भारतीय दर्शन-उमेश मिश्र पृ० ८१।

४—ब्रह्मसूत्र २।३।४५ पर शंकरभाष्य।

प्रमाणित होता है कि वह उपनिषद् भी है।[1] इस तरह प्रस्थानत्रयी[2] की भूमिका में अधिष्ठित इस गीता ग्रन्थ ने भारतीय मनीषा के विचार मंथन और आध्यात्मिक जीवन के पुनर्नवीकरण में समन्तात सहयोग प्रदान किया है। यही कारण है कि विश्वभर के प्राचीन अर्वाचीन प्राय समस्त विचारकों ने एक स्वर से इसकी महाघता का उच्च स्वर उद्घोष किया है।[3] गीता में अनेक विध दार्शनिक विचारों का पुष्कल स्रोत विद्यमान है जिसमें हमारे आलोच्य, माया धारणा का भी अन्यतम स्थान है। गीता के अनुसार भगवान् की दैवी शक्ति का नाम "माया" है। वह गुणमयी और दुरत्यया है। भगवत्प्रपन्न जन ही उसे पार कर सकते हैं। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में भगवान् का श्रीमुखवक्तव्य भी कुछ इसी प्रकार का है, "हे नारद, तुम जिसे अखि प्रत्यक्ष कर रहे हो, यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। यह मत समझो कि मेरे रचे हुए संसार में जो गुण पाए जाते हैं वे मुझमें विद्यमान हैं।' नारद पंचरात्र से भी उपयुक्त कथन तुलनीय है —"वह एक ही भगवान् सदा सबसे और प्रत्येक में रहता है। सब प्राणी उसके कर्म से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे उसकी माया द्वारा ठगे जाते हैं। गीता में की गई माया की परिकल्पना

१—गीता डा० राधाकृष्णन पृ० १५।

२—गीता रहस्य-बा० ग० तिलक, पृ० १२।

३—तुलनीय—

क—समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतम् समस्तपुरुषार्थसिद्धिम भगवद्गीता पर शंकराचार्य की टीका की भूमिका।

ख—"मुझे भगवद्गीता में ऐसी सान्त्वना मिलती है, जो मुझे 'सर्मन आन द माउन्ट'' तक में नहीं मिलती।

—महात्मा गांधी, यंग इंडिया (१९२५), पृ० १०७८ १०७९।

ग—जर्मन धर्म के प्रथितृत भाष्यकार जे० डबल्यू० होग्रर ने जर्मन धर्म में गीता को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने गीता को एक अनश्वर महत्व का ग्रंथ बताया है।

घ—"गीता शाश्वत दर्शन के कभी भी रचे गए सबसे स्पष्ट और सबसे सर्वांग संपूर्ण सारांशों में से एक है। इसीलिए न केवल भारतीयों के लिए अपितु संपूर्ण मानवजाति के लिए इसका इतना स्थायी मूल्य है।

—ऐल्डस हक्सले श्रीमद्भागवद्गीता डा० राधाकृष्णन से उद्धृत, पृ० १५।

ङ—गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

छ—विनोबा जी का कथन—समग्र महाभारत का नवनीत व्यासजी ने भगवद्गीता में निकालकर रख दिया है। गीता धर्मज्ञान का एक कोष है।

—गीता प्रवचन, पृ० १० ११।

प्रकृति का कारण है, "माया" शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं करता, भले ही उसके विचार में यह अर्थ कितना ही निहित क्यों न रहा हो। (२) माया वह शक्ति है जो अविकारी तथा विकारयुक्त ब्रह्म रूप व्यक्तिगत ईश्वर को परिवर्तनशील प्रकृति उत्पन्न करने में समर्थ बनाती है। यह ईश्वर की शक्ति या ऊर्जा या आत्मविभूति है, अपने आपको अस्तित्वमान बनाने की शक्ति। तत्पश्चात् अर्थ में ईश्वर और माया परस्पराश्रित हैं। गीता में भगवान् की इस शक्ति को 'माया'[1] कहा गया है।

(३) क्योंकि परमात्मा अपने अस्तित्व के दो तत्त्वों प्रकृति और पुरुष भौतिक तत्त्व और चेतना द्वारा संसार को उत्पन्न कर सकता है, इसलिए ये दोनों तत्त्व भी परमात्मा की (उच्चतर और निम्नतर) माया कहे जाते हैं।

(४) माया का अर्थ, क्रमशः, निम्नतर प्रकृति हो जाता है, क्योंकि पुरुष को वह बीज बताया गया है, जिसे भगवान् संसार की सृष्टि के लिए प्रकृति के गर्भ में डालता है।

(५) यह व्यक्त जगत् वास्तविकता को मर्त्य प्राणियों की दृष्टि से छिपाता है, इसलिए इसे भ्रामक ढंग का बताया गया है। यद्यपि यह संसार कोई भ्रान्ति है नहीं, यद्यपि इसे परमात्मा से असम्बद्ध केवल प्रकृति का यान्त्रिक निर्धारण समझ लेने के कारण हम इसके दैवीय तत्त्व को समझने में असमर्थ रहते हैं। देखिये माया यहाँ अविद्या माया बन जाती है। परन्तु यह सत्य तक नहीं पहुँचने वाले मर्त्य जगत् के लिए ही है, सब जानने वाला परमात्मा जो इसका नियन्त्रण करता है, उसके लिए यह विद्या माया है। ऐसा लगता है कि परमात्मा माया के विशाल आवरण में लिपटा हुआ है।

(६) इस संसार को परमात्मा के कार्य मात्र होने के कारण उसे कारण माना गया है और *अपनी सापेक्षिक स्थिति में कारण कार्य की अपेक्षा अधिक वास्तविक होता है*, कार्यरूप संसार कारण रूप परमात्मा से कम वास्तविक कहा जाता है। यह अपेक्षिक अवास्तविकता विरोधी वस्तुओं में संघर्ष का कारण बनती है। किन्तु वास्तविक (ब्रह्म) सब विरोधों से ऊपर है।[2] उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि माया का ब्रह्म जीव, जगत् और सब भाँति के संबंध से उसके औचित्य-नौचित्य और परस्पर कार्य-कारण स्वरूप अन्योन्य पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में श्री अरविन्द द्वारा उल्लिखित व्यापक माया की चर्चा अपेक्षित दृष्टिगत होता है। श्री अरविन्द ने इस कथा के माध्यम से प्राप्त किया है जो गीता में अपने क्षाण-रूप

1—गीता—अ० १८ श्लोक, ६१।

2—गीता—अ० २, श्लोक ४५। अ० ७, श्लोक ८।

में विद्यमान है। "वैष्णवी माया का आक्रमण" शीर्षक से उन्होंने एक अव्याख्यात सत्य को विवृत करने का उपक्रम किया है। महा-पराक्रमी अर्जुन का सारा वीर स्नेह और कृपा के अकस्मात् ग्राह में आच्छन्न और परास्त हो गया है। वैसे उसने अनेक युद्धों में असंख्य वीरों का संहार किया था किन्तु "गाण्डीव स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते" की स्थिति उस कभी नहीं आई थी। इस अहिंसा वृत्ति का उदय तथा स्वजनासक्ति की भावना, एक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को स्वधर्म से विच्युत कराने के पृष्ठाधार रूप में प्रयत्न होती है। श्रीकृष्ण अर्जुन का अज्ञान दूर करके सुप्त विवेक को जाग्रत कर चित्त को शांति प्रदान करने के अभिलाषी हैं। श्री अरविन्द के अनुसार अर्जुन को भगवान् की वैष्णवी माया ने अखंड बल से एक क्षण में घेर लिया था, इसी से यह प्रबल विकार अर्जुन में उत्पन्न हुआ। जब अधर्म दया, और प्रेम आदि कोमल धर्म का स्वरूप धारण कर ले अज्ञान अपना असली रूप छिपाकर ज्ञान के बनावटी रूप में उपस्थित हो तब समझ लेना होगा कि भगवान् की वैष्णवी माया का बुद्धि में प्रकाश हो गया है।[1] पुनः वैष्णवी माया का लक्षण स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि इस वैष्णवी माया के मुखस्थ कृपा और स्नेह हैं। यद्यपि मानव जाति की शुद्ध वृत्ति कृपा और स्नेह नहीं। इससे शरीर और प्राण में युगपत् कालुष्य का प्रादुर्भाव होता है। चित्त की वृत्ति का निवास-स्थान, प्राण ही भोग का गेह, शरीर ही कर्म की शासन प्रणाली और बुद्धि ही चिन्ता का राज्य है। पवित्रावस्था में इन सबों का स्वतंत्र एवं एक दूसरे की अविरोधी प्रवृत्ति होती है। चित्त शुद्धि ही उन्नति की पहली सीढ़ी है। अशुद्ध प्रेम के कारण एक ऐसी बलवती अपना धर्म को जलांजलि दे देना भी श्रेयस्कर प्रतीत होता है। अन्त में इस कृपा पर आघात पहुँचने से धर्म को अधर्म समझ कर अपनी दुर्बलता का समर्थन करते हैं, बस इसी प्रकार वैष्णवी माया का प्रणाम अर्जुन के प्रत्येक वाक्य में पाया जाता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह मायावाद, श्रीशंकराचार्य द्वारा मौलिक प्रवर्त्तन का परिणाम नहीं अपितु वैदिक युग से अप्रतिहत गति से प्रवाहमान एक प्रकट विचार धारा का अनेक विसंगतियों के उन्मोचन स्वरूप स्वानुकूल परिष्कृति का परिणाम है। जिसके उपजीव्य स्वरूप हम गीता का भी अनिवार्यतया उल्लेख्य महत्त्व का अधिकारी मानते हैं क्योंकि इसका विषय ही है—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' में भगवान् के चरण-कमलों में सिर रखकर पार कर जाना इस महान् ग्रंथ का हिन्दी साहित्य के भक्ति-काव्य पर पुष्कल प्रभाव है।

१—गीता की भूमिका—श्री अरविन्द, अनु० देवनारायण द्विवेदी, पृ० ४६।
२—गीता की भूमिका—श्री अरविन्द, अनु० देवनारायण द्विवेदी, पृ० ५०।

स्तोत्र-साहित्य मे माया

विष्णुसहस्रनाम

इसमे भगवान् का एक नाम "नैकमाय" आया है। इसम स्पष्ट है कि भगवान् अनन्त अचिन्तनीय आश्चर्यवती मायाओं का विग्रह है। यद्यपि यह "माया" शब्द मिथ्यावाचक नही लगता।

युगादि कृद्युगावर्ती नैकम या महाशन ।
अदृश्यो व्यक्त रूपश्च सहस्र जिदनन्तजित ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार एक स्थान पर भगवान् को "महामाया" भी कहा गया है—

अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबल

—विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र

एकदन्त स्तोत्र

गणेश को प्रथना म कहा गया है कि अपनी लीला स अपन प्रतिरूप का तरह विम्बरूप वाला माया की जिसने रचना की, हम एकदत का शरण जाते हैं—

"स्वय जिवभावेन विना मदुक्तविबस्वरूपा रचिता स्वमाया।
तस्या स्वज्ञाम प्रददाति या व नमेक दन्त शरणम्रजाम् ॥

पुन कवि कहता है—"तुम्हार सामय्य स समथ बनकर अपन ही स्पनाम माया न विश्व की रचना का—

त्वदीय वीयण समथभूता माया तया सरचितच विश्वम् ।
दादात्मक आत्मनया प्रतीत तमन्द न शरण व्रजाम् ॥

तदन्तर उनके शरार का ही माया रूप माना गया है—"मायाशरीरी मधुरो स्वभाव ।[1]

१—भारतीय प्रतीक विद्या डा० जनार्दन मिश्र, बि० रा० प०, पटना । पृ० ३६ ।

संस्कृत के काव्य और नाटकों में वर्णित माया का स्वरूप विभावन

श्रीभोजराज विरचित चम्पूरामायण में माया का प्रयोग

रामचरित पर आधारित प्रस्तुत ग्रंथ चंपू की परिभाषा से मंडित श्री भोजराज प्रणीत माया शब्द के पारम्परिक प्रयोग से पूर्ण है। योगराज का स्थिति-काल ८०० से ८२५ ई० माना जाता है। ये मालवा के अधिशासक रूप में इतिहास में विश्रुत हैं।

इस ग्रंथ के बालकांड में भगीरथ द्वारा गंगा को पृथ्वी पर लाने के प्रसंग में यह कहा गया है कि पुराकाल में अमृत के लिए देवासुर विरोध की वृद्धि पर भगवान् विष्णु ने अपनी विश्वमोहिनी मायारूप स्त्री की आकृति दिखलाकर इन्द्र के हाथों से राक्षस का वध कराया था।[1] अरण्यकांड में रावण माया संन्यासी का वेष ग्रहण कर सीता के समीपस्थ आता है एवं मायावी राक्षस का वर्णन किष्किंधाकांड में बाली और सुग्रीव की रिपुता के हेतु स्वरूप वर्णन है। "हेमा नामक अप्सरा ने जो ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त मेरुसावर्णिकी कन्या स्वयं प्रभा द्वारा सुरक्षित थी वन में प्रवेश किया। वह वन मय की माया से विनिर्मित था। ऐसा कथन आया है। मायामृग की कथा भी इस रामायण में मिलती है। हनुमान सीता से कहते हैं "हे मैथिलि! मायामृग द्वारा वंचित आप शाखामृग द्वारा यहाँ से ले जाई जाय, यह बात अनुचित होगी। युद्धकांड में माया द्वारा अनेक प्रकार के कौतुक दिखलाए गए हैं। विद्युज्जिह्व राक्षस रावण की आज्ञा से राम का शिर धनुष बाण सहित सीता के समक्ष ले आकर रखता है जिससे सीता विह्वल हो जाती है।[2] किंतु "सरमा" (राक्षसी विशेष) उसे आश्वासन देती है कि यह निश्चित रावण की माया है। रावण का माया-युद्ध तो सभी वानर दल को संत्रसित कर देता है और वे श्रीराम के पास आते हैं। उसका आत्मज मेघनाद आसुरी माया के बल से ही सब कार्य करता है उसका आकाश में छिपना, युद्ध में सर्परूपधारी बाणों की वर्षा करना, सब इसी के द्वारा संभव बनता है। वह मायावी वानर श्रेष्ठ हनुमानादि को व्याकुल बनाने के लिए माया सीता का शिर तीक्ष्ण कृपाण से काट देता है जिससे सभी हताश हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में लाभ

१—चंपू रामायण—टीकाकार श्रीरामचंद्र मिश्र, पृ० ७३।

२—युद्धकांड, पृ० ४१२।

उठाकर वह वानरा का तितर बितर कर देता ह।

उक्त विवचन स स्पष्ट है कि माया-युद्ध और माया द्वारा अनक रूप धारण की जा रामकाव्य म परपरा रही है उमी क अनुसार ही प्रस्तुत ग्रथ म उसका प्रयाग हुआ है। राम, रावण, मघनाद तथा हनुमानादि क कायकलापा का उसी आलोक म वणन हुआ है।

किरातार्जुनीयम् मे "माया" शब्द का प्रयोग—

महाकवि भारवि विरचित किरातार्जुनीयम् का स्थान संस्कृत महाकाव्यो म अक्षुण्ण है। श्री बलदेव उपाध्याय न इनका समय पष्ठशती का उत्तरार्द्ध माना है। *हरमन याकोबी ने षष्ठ शती का पूर्व भाग और दुर्विनीत न ५०० ६०० ई० का माना* है इसम अठारह सग हैं।

प्रथम सग म यह कहा गया है कि व अविवकी पुरुष सवदा पराजित होत हैं जा मायावियों क समक्ष मायावी नहीं बनत। मायावी (वचक) मरदचित्त व्यक्तियो क अन्तःकरण की बातें जानकर इस प्रकार गना घात हैं जस तीक्ष्ण धारवाल कवचरहित शरीर म प्रवेश कर घातक बन जाता है।[1] पुन १३ वें सग म अर्जुन शूकर का दखकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करत हैं। "इस आश्रम म सप और हिंसक जन्तु निडर होकर तपस्विया के प्रति शत्रुता का व्यवहार छाड दत हैं। परन्तु यह उसी वृत्ति का अवलम्बन कर रहा है। यह किसी प्रकार की मेरी न्यूनता है अथवा किसी दैत्य दानव की माया है। उक्त सग म पुन उस शूकर क सम्बन्ध म जिज्ञासा की गई है। "यह सूअर ही आनेट भूमि का अभिलाषा स शमावलम्बी मुझ पर माया के द्वारा प्रहार करने की इच्छा करता हुआ अपनी विशाल मना के कलकल ध्वनि से वनो के पशु पक्षियो को भयाक्रान्त कर उन्ह भागन क लिए विवश कर रहा है।"[2] चतुर्दशसग म अर्जुन के हस्तकौशल का दखकर किरातवाहिनी अनक प्रकार क सशय रूप झूल म झूल रही है। क्या यह तपस्वी अपन तपोबल से अलक्ष्य अनक शरीर निर्माण करके, बाणप्रक्षेप कर रहा है? अथवा हम लागा क ही बाण इसकी माया स प्रतिकूल होकर हमलागों पर प्रहार तो नहीं कर रहा है?[3] सोलहवें सग म अर्जुन अपन विषय में कहता है कि यह शक्ति ह्रास रूपात्मिका माया तो नहीं है, अथवा मेरा बुद्धि म ही पत्थर ता नहीं पड गया है अथवा मरा सार बल ही क्षीण हो गया है।[4] इस तरह किरात और अर्जुन मायावी शस्त्रा स युद्ध करते हैं और अन्तत अर्जुन हार जाता है। मायावी शस्त्रा के परस्पर सचालन

१—कि० प्र० स० श्लोक ३०, पृ० १९,

२—कि० १३ सग श्लोक ९ पृ० २८०।

३—कि० १४ सग श्लो० ६०, पृ० ३३३।

४—किराते॥—कि० १६सर्ग श्लो० १८, पृ० ३६३।

को ध्यान म रखते हुए श्रीष का निष्कष है कि कवि के कौशल न उनका उसकी सीमा से अधिक गुजरकर प्रदशन करने के लिए प्रेरित किया है। मायावी शस्त्रो का ममावश हम तनिक भी प्रभावित हुआ करता। इस सबध म वाल्मीकि का संस्कृत काव्य पर प्रभाव साघातिक हुआ है। राम कथा की पौराणिक पृष्ठभूमि न उनके युद्धो को अवास्तविक बना दिया जिसका अनुसरण महाकाव्य लिखनेवाले प्रत्येक कवि को करना पडा।[१]

नेपधकाव्य में 'माया' शब्द का प्रयोग—

महाकवि श्री हष विरचित नैषध महाकाव्य अपने पद लालित्य के लिए विद्वज्जन वग मध्य विश्रुत रहा है। इस ग्रथ में भी जो विशुद्ध काव्य के अन्तगत परिगणित है, माया शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थानो पर हुआ है। एक स्थान पर मगध नरेश के सबध मे यह कहा गया है कि इसकी कीर्तियो के समूह रूप चन्द्रा क द्वारा युद्ध के लिए ललकारा जाता हुआ राहुमय मे भूगोल की छाया के कपटमय शरीरवाला हो गया, जिसे गणित् लोग अनुमान द्वारा जानते हैं। दमयन्ती के स्वयवर म इन्द्र के कपट शरीर धारण द्वारा नल के रूप म उपस्थित होने पर सरस्वती द्वारा वास्तविकता को लक्षित करा दिया जाता है। उनसे बचकर असत्य नल बन हुए अतएव कपटी वे देव बचकर भला कस जा सकते थे। इन्द्र व नैल सो मायाकार नल के गुप्त रूप त्यागकर शोभा निरखने के लिए अपनी वास्तविकता में आ गए हैं। उधर कपट करनेवाले ने पहले अपने सखियो के साथ दमयती को पारस्परिक कराकर पुन उन्हें सखियों को कही अन्यत्र नियुक्त कर उसके (दमयती के) साथ केवल स्वय ही रह गये। एक स्थान पर प्रकृति वणन क व्याज से रामकाव्य के प्रसग का उल्लेख हुआ है। "जिस प्रकार रावणात्मज मेघनाद ने मायामयी सीता को अधकार तुल्य कृष्ण वण केशा को पकडकर मारा था उसी प्रकार प्रमापति रात्रि को अधकार रूपी केशों को पकडकर मार रहा है।

२० वें सग म यह कहा गया है कि "तमने इस नल को किस चिह्न से निर्धारित किया है ? यह माया करके स्वय इन्द्र आया हुआ है "ऐसी शका मैं करती हूं। पुन यह कहा जाता है कि इन्द्र के नलकांति (को माया स धारण करने के कपट का अनुमान कर लिया) उस समय तुम्हें कुमारी रहन स उक्त माया द्वारा इन्द्र का तुम्हें प्राप्त करन की चेष्टा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। बीसवें सग म यह कहा गया है कि यह जल वस्त्राच्छादित भी इन दोनों क अक को कहता है जल की शम्बर होने से "माया" ही प्रकट हो गया है। (शम्बर को महामायावी होने से शाम्बरी माया ही प्रकट हो गई है इसी से बिना जल के भी इन दोनों के वस्त्र भीग गए हैं। पुन कवि इसी सग म कहता है कि मुझस विरोध की हुई इन दोनो की बातो

१—किराते ॥—कि १६ सग श्लो० १८ पृ० ३६३।

पर विश्वास मत करना और ब्रह्मा ने इन रावणों को माया तथा असत्य के निमित्त पर अभिषिक्त किया है अर्थात् ये माया करने तथा असत्य बोलने में सक्षम बने रहते हैं। इस कथा में माया शब्द का "कपट" छल के अर्थ में प्रयोग हुआ है, साथ ही माया का पारस्परिक काव्य ग्रन्थों के अनुसार ही वर्णन हुआ है।

आनन्दरामायण—

"राक्षसों की माया द्वारा सीताराम रूप"[1] शीर्षक से प० भागवत जी द्विवेदी लिखते हैं कि रावण ने मय की माया से राम का सिर बनवा लिया और वह सीता को दिखाने के लिए अशोक वन को प्रस्थान किया।

विधाय कृत्रिमां सीतां मयात् स दशानन
पश्यतां वानरं रावणस्य स्वरथे तजि द्यान्ते
दिव्ये नसित खगन तरद्मत स्वद्य गमा
हाहत्वा दु खिता स्त्र य पुराम निवेदितम्

(आनन्दरामायण सार का अ० ११

ध्यातव्य है कि राक्षसों की माया का यह परम्परया प्राप्त रूप है जिसका अनुसरण प्रायः परवर्ती रामकाव्य के लेखकों ने किया है।

हनुमन्नाटक

प्रस्तुत ग्रन्थ में एक प्रसंग ऐसा आया है जिसमें रावण ने माया से सीता का सम्पूर्ण रूप बनाकर अपने दिव्य खड्ग से माया-सीता का शिरश्छेदन कर देता है। यह देखकर वानर वाहिनी हाहाकार करती हुई रामचन्द्र जी के पास जाती है, किन्तु ब्रह्मा इसी बीच सारा रहस्य खोल देते हैं।

पापा विम्य समरे जनकस्य पुत्रा
हा राम राम रमवे तिगर गिरन्ति
खड्गेन पश्यतव दान्तरे प्रवीरा
यामय शिव शिवेन्द्र जिदापधान
दृष्टा माया जनकतनया खडनम् रामचन्द्रो
गुर्वी मुर्वी तलमुपगतो दीर्घ मासाद्य मूर्च्छाम्

१—मानसमणि वर्ष ७, अंक १२, जनवरी १९४८।

इसी प्रकार राम से युद्ध करने के लिए कुम्भकर्ण को नींद से जगाने पर वह रावण को माया रूपी रामचन्द्र बनाने को कहता है।

अद्भुतरामायण की रामगीता मे उल्लिखित माया शब्द

अद्भुत रामायण की रामगीता में श्रीराम ने अपने निगुण-सगुण सर्वात्मक, सर्वेश्वर परात्पर स्वरूप का बडा ही सुदर उपदेश किया है, ऋष्यमूक पर्वत पर सदेह निवारणाय हनुमान् की पृच्छा पर श्रीराम अपना विराट् रूप दिखलाते हैं। वह मायापति परमात्मा अपने को माया से आवृत करके नाना प्रकार के शरीरो की रचना करता है। वह प्रभु न तो स्वय ससार बधन मे पडता है और न किसी और को ही ससार चक्र मे डालता है।[१] वह न कर्ता है, न भोक्ता, न प्रकृति है और न पुरुष, न माया है न प्राण वास्तव मे वह चैतन्यमात्र है। इसीलिए ऋषि मुनियो म अद्वैत को ही पारमार्थिक सिद्धान्त बताया है। भेद अव्यक्त स्वभाव मे होता है। वह अव्यक्त स्वभाव आत्मा के आश्रित रहनेवाली माया है। जब वह आत्मा को वस्तुत एकमात्र (अद्वितीय) देखता है और सपूर्ण ससृति को मायामात्र मानने लगता है, तब वह परमानन्द को प्राप्त होता है। पुन भगवान् कहते हैं कि मेरा स्वरूप निगुण और निर्मल है उसका तो परमोत्तम ऐश्वर्य है उसे देवता भी माया विमोहित होने के कारण नही मानते। यह मेरा गुह्यतम सर्वव्यापी, चिन्मय स्वरूप है, उसमे प्रविष्ट होकर योगी मेरा सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं, जिन्हे विश्वरूपिणी माया ने अक्रान्त नहीं किया है, वे मेरे साथ एकीभूत होकर परमशुद्ध निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् स्वय स्वीकार करते हैं कि मैं ही सदा सृष्टि की उत्पत्ति, और सहार का एक मात्र कारण हूं। माया, जो समस्त लोको एव सपूर्ण देहधारियो को मोह मे डालनेवाली है, वह ईश्वर के आदेश से ही सारे व्यवहार को चलाती है। इसके आगे श्री रामचन्द्र ने माया का मनोविज्ञानिक रूप उपस्थित किया है। मन और माया का सम्बन्ध अविच्छिन्न है, यदि भगवान् की कृपा न हो। मन की दुर्वृत्तियो का खडन, मन के आवेग पर आघात और माया के योग सपूर्वसस्कार का दमन आवश्यक होता है। बुद्धि मे दूषणात्मक भाव आने से आत्मा को भटकना पडता है। क्रोध लोभ मोहादि शत्रुओं के एकान्तिक अभाव से सात्विक माया का आश्रय प्राप्त होता है। इस समय हृदय मे विवेक उत्पन्न होता है और भक्ति का भी उद्रेक होता है। मद, मत्सर और अहकार का निग्रह भी इस सदर्भ मे आवश्यक है। जिस समय साधक लिंगनिग्रही हो जाता है उसी समय माया को परास्त होने का समय आता है। जब माया का त्याग हो जाता है उस समय सात्विकी माया बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। उस सात्विकी

१—भुत अद्रामायण की राम गीता उत्त (६१०)

२—अद्भुतरामायण की रामगीता उत्तरकाड।

माया के साथ प्राणी उत्तम हृदयाकाश का सुख अनुभव करने लगता है ।[१]

प्रस्तुत ग्रथ म माया का दाशनिक तथा मनोविज्ञानिक रूप उपस्थित किया गया है जिसका निर्वाह परवर्ती सस्कृत अथवा हि दी काव्य ग्रथो म दाशनिक तथ्यों क उद्घाटन क्रम मे हुआ है ।

श्रीमभट्टि विरचित काव्यम् मे माया शब्द का प्रयोग—

प्रस्तुक ग्रथ का नामकरण रचयिता क नाम से स्वसपृक्त है इसम रामचन्द्र क जीवनचरित की अनक झाकियाँ प्रस्तुत का गई हैं । यहाँ हम कुछ विशेष स्थल का निर्देश करेंग जहाँ "माया" शब्द का प्रयोग हुआ है । द्वितीय सग म यह कहा गया है कि "*अस्त्रप्रसिद्ध था रामचन्द्र न मदहास्यकर विश्वामित्र स निर्दिष्ट कठोर गजन* करनेवाल, माया म प्रसिद्ध और रण म स्थिर होनेवाल मारीच नामक रा स को उच्चस्वर से विशिष्ट अपपूण वचन कहा ।[२] मायाचण—प्रख्यात मायाविन । इसी प्रकार तृतीय सग म भरत की माया और ककेया की शाठ्यता का वणन है ।[३] यहाँ भरत का माया म तात्पय भरत क कपट स है । आठवें सग म हनुमान जी का राक्षसो को मोहित करना तथा राक्षसो को माया वचना का वणन है । सीता जी के दखने की इच्छा करनेवाले हनुमान जी ने प्रच्छन्न होकर राक्षसो को विमोहित किया और उनकी माया की वचना की । नवें सग म राक्षसो का मायाश्रो क ईश्वर रूप म स्मरण किया गया है । यहा "मायानामीश्वरास्ते पि' का अथ "कपटानाम" ही किया गया है । पश्चात् रावण कहता है हे वत्स । शत्रु के सामने उपताप करनेवाले होते हुए युद्ध म मायाश्रो से कुटिल आचरण करनेवाले बनो" वह अपने आत्मज *अक्षयकुमार को निभय होकर शत्रु को प्रपाडित करन का आदेश दता है ।* वह अक्षयकुमार अनक मायाओ को उत्पन्न करनवाले हैं । उधर कपि का माया भा उसस कम नहा जान पडता —"कपिर्मायाभिवाज्काप छिश य विनम रण" (६ स० ३५ श्लो०) । युद्धक्षेत्र म वीरा द्वारा मायाओ का स्मरण करना तो लगता है जैस कोई पराक्रमी पहलवान कुश्ती का दावपेंच याद कर रहा हो इस प्रकार राक्षसो माया के वृतात से सारा काय भरा पडा है । इन्द्राजित, मारीच, रावण अक्षय और इसी प्रकार सभी इस माया के प्राश्रय से अपने पराक्रम का तौलते तथा शत्रु-वाहिनी पर

१—आनन्दरामायण विलास० ७।१६ ।

२—द्वि० भट्टि० स० ३२ श्लो० ।

३—वही तृ० स० १० ।

४—भट्टि काव्य पृ० २६० ।

कतिपय क्षणों के लिए विजय वैजयन्ती फहराते हैं। इसी तरह कुछ अन्य स्थान अपने मौलिक रूप में द्रष्टव्य हैं —

तम प्रनुप्त मग्ना सुख नु मूर्छा नु माया नु मनोभवस्य
किं तत्कय वेद्यु पलवसज्ञा विकल्पय तो पि न सम्प्रनीय ।
मायाविभिस्त्रास करेर्जना मात्ने रुपादान परेङ्गेन ।११ मग
यच्चापि यत्ना इत मन्त्रशक्तिर्गुल्य मायाति मराभियोग।
अहिमो रविकिरण गणो माया ससार कारण ते परमा ।।१२।६
ततो दशा स्य स्मरविह्वलात्मना चार प्रकाशोकृत शत्रुशक्ति
विमोह्य मायामय रामसूत्रना सीतामनीक प्रजिगाय यादृधुम ।।
— १४।१

उभो माया व्यातायेना वीरो नाश्राम्यताश्रमा।
मण्डलानि विचित्राणि विभ्रमाक्रामतामुभो ।।१०।१६८
ततो माया मयात्मूर्ध्नो राक्षसो प्रथमद्रली
रामेण कशन तेषा प्रावृश्यन धिलोपुवे ।।१०।१००

इस प्रकार निष्कर्ष रूप मे रामकाव्य के बिना पूर्ववर्ती ग्रन्थों में मायायुद्ध के सबध में अल्प बातें उल्लिखित हुई थी। उनका पालन बाद के प्रबध काव्यों में खुलकर हुआ, ऐसा सिद्ध होता है।

अनघराघव मे माया प्रयोग

रामायण की कथा पर आधृत सात अंकों का कवि मुरारि विरचित यह एक सुप्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता का काल कविविभूति भवभूति के पश्चात् ८५५ ८८४ ए० डी० माना जाता है। "माया" शब्द का व्यवहार इस नाटक मे दो तीन स्थानों पर हुआ है। जाम्बवान कहता है कि महाराज राक्षस जाति बडी मायाविनी होती है।[1] पुन चतुर्थ अक मे शूर्पणखा की उक्ति है "मैंने यद्यपि कपट से यह मानुष रूप धारण किया है जो मेरे लिए घृणित है, फिर भी इससे मुझे बडा लाभ हुआ है कि सुन्दर विवाह वेष से वर्धित कान्ति समुदायधारी इन रघुकुमार मुख पुण्डरीकों के दर्शन मन मे धन्य हो गई।[2] दशरथ का उल्लेख करते हुए माल्यवान्

१—अनर्घ, पृ० ६७।
२—अ० चतुर्थ अक, पृ० १६६।

बतलाता है कि हमारी माया दशरथ के समीप नहीं चल सकती है क्योंकि दशरथ ने सुरासुर युद्ध में प्रथम पंक्ति में रहकर इन्द्र का प्रमन्न करके मायाहरण मन्त्र सीख लिया है। इस सदर्भ में राक्षसी माया तथा देवी माया दोनों का पुनराख्यान हुआ है। शूर्पणखा का कपट रूप से मानुष रूप धारण करने की हेतु माया का बताया जाना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचित यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य में माया का प्रयोग

संस्कृत गद्य-साहित्य के अनेक कथा-ग्रन्थों में बाण की कादम्बरी सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू और धनपाल की तिलकमंजरी का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। सोमदेव ने आलोच्य ग्रंथ की रचना ६५६ ई० में की थी। इसमें उज्जयिनी के सम्राट दशोधर का चरित्र वर्णित है। प्रस्तुत ग्रंथ में दो स्थानों पर माया शब्द का उल्लेख है।

> माया साम्राज्यवर्मा कवि जन वचन स्यद्विर्धमाधुर्या
> स्वप्नाप्तद्रव्य शोभा कुहकनय मयारामरम्योत्तरामा ।
> पर्जन्यागारमारास्त्रि दिवपति धनुर्वन्धुराश्च
> स्वभा वादायुर्लाविण्य लक्ष्म्यस्तदोप जगदिद चित्रमेतत्वमक्नम ॥
>
> १२४

संसार में प्राणियों का आयु (जीवन) शारीरिक कान्ति और लक्ष्मी स्वभाव से ही क्षणिक है और उस प्रकार ऊपरी मनोहर मालूम पड़ता है जिस प्रकार विद्याधरादि की माया से उत्पन्न हुआ चक्रवर्तित्व मनोहर मालूम पड़ता है, जिस प्रकार विद्वान् कविमंडल के शृंगार रस को भरे हुए वचनों में श्रेष्ठ मधुरता होता है। इनकी शोभा उस प्रकार की है जिस प्रकार स्वप्न में मन द्वारा प्राप्त किए हुए राज्य की शोभा होती है और कांति उस प्रकार अत्यन्त मनोहर उत्कृष्ट मालूम पड़ती है एवं इनकी रमणीयता उस प्रकार झूठी है जिस प्रकार मेघपटल के महल की रमणीयता झूठी होती है एवं वे उस प्रकार मिथ्या मनोहर प्रतीत होते हैं जिस प्रकार इन्द्रधनुष रमणीक मालूम पड़ता है तथापि यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुआ। पृथ्वी का जन-समूह इनमें लावण्य और धनादि में आसक्ति करता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।[1] उक्त श्लोक में "माया" "स्वप्न" और "कुहक" आदि एक

१—यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य अनुवादक-सुन्दरलाल शास्त्री, पृ० ६८।

साथ अनेक माया के पर्याय प्रयुक्त हुए हैं। आलोच्य के एक स्थान पर ऐसा कहा गया है कि दुष्ट कुल गरुड के चंचपुर की चढता से प्रकट हुआ है। दुष्टकुल नरक से प्रकट हुआ है। इसी प्रकार दुष्टकुल श्रीनारायण की माया से और दुष्टकुल यमराज के दाढरूप अंकुर से उत्पन्न हुआ है।[1]

कालिदास के काव्य-नाटकों में माया का प्रयोग

संस्कृत साहित्य के सौष्ठव और सौरभ के रक्षक में अनन्य, कविकुल तिलक कालिदास की रचनाओं में "माया" शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर हुआ है। कालिदास के विषय में मल्लिनाथ का यह कहना सर्वथा सत्य है कि कालिदास के ग्रंथों में ऐसी कौन बात है जिस पर सभी दार्शनिक, तान्त्रिक कवि तथा अन्य विद्वान् मुग्ध हैं। इस "ऐसी कौन बात" वाक्य में ही सारी विशेषताएँ सन्निहित हैं और उनमें उसका विधेयात्मक उत्तर भी प्राप्त हो जाता है कि उसमें "ऐसी कौन बात नहीं है।"

रघुवंशम्,

प्रस्तुत ग्रंथ के द्वितीय सर्ग में जब सिंह के बहुत समझाने पर भी राजा उस गाय के बदले में अपने शरीर को उसको (सिंह की) बुभुक्षा के शान्त्यर्थ अर्पित कर देता है उसी समय उस पर पुष्प वृष्टि विद्याधरों द्वारा होने लगती है। तब नन्दिनी मां मनुष्यवाचा में कहती है—"हे साधु मैंने माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। वशिष्ट ऋषि के प्रभाव से यमराज भी मेरा कुछ नहीं बिगाड सकते। फिर अन्य हिंसक जीवों की तो शक्ति ही क्या है।[2] सुबोधिनी टीकाकार ने इस स्थल पर माया का इस प्रकट अर्थ इस प्रकार प्रकार प्रकट किया है—माया-शाम्बरी, "कपट मित्यर्थ" (इन्द्रजाल स्यान्माया शम्बरी, माया-करस्तु प्रतिहारक "इत्यमर। इसी प्रकार एकादश सर्ग में सुबाहु की माया का वर्णन है जो इसी के बल पर इधर उधर घूमता है और अन्त में राम के बाणों से टुकडे-टुकडे में विखण्डित होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।[3]

द्वादश सर्ग में त्रिजटा सीता को राक्षसों का माया में अवगत कराती है। होता यह है कि कोई राक्षस-माया से राम का सिर बनाकर सीता के समक्ष ला पटकता है, जिसे देखते ही सीता मूर्छित होकर गिर पडती है। फिर त्रिजटा के

१—प० व० म०/अनु० सुन्दरलाल शर्मा, पृ० २२६।

२—रघु० २ स० ६२।

३—रघु० ११ स० २६ श्लो०।

रहस्यमय्न पर उसके जान में जान आती है।[1] इस बध में माया का वचकत्व विश्वसनीय है। इसके पूर्व तो मारीच के माया मृग बनने के कार्य को "माया" नहीं कहकर "रामाया मृगरूपेण वचयित्वा स राघवम्", "वचयित्वा" से ही काम चला लिया गया है।

कुमारसम्भवम्

कुमारसम्भवम् के पन्द्रहवें सर्ग में तारक अपने ववम्रों और मायामय अग्नि से कुमार पर आक्रमण करता है परन्तु वह अपना उद्देश्य कुमार की शक्ति के समक्ष पूरा नहीं कर पाता और विफल होकर अन्त में वह मर जाता है। सत्रहवें सर्ग में उक्त राक्षस के माया युद्ध का सांगोपांग वर्णन कालिदास ने किया है। युद्ध में कार्तिकेय के प्रबल प्रताप की वृद्धि देखकर छल विद्या में निष्णात तारक ने सद्य माया-युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। इसकी माया से उनचास हवन में समन्वित झंझा का प्रादुर्भाव हुआ। समस्त दिशाएं धूल में लैस हुव गई फिर उसने अग्नि वर्षा से दिशाओं को धूम्रमिवत बना दिया। इसी प्रकार अनेक तरह के मायको का वर्णन इस प्रसंग में कवि ने किया है। जिसमें केवल अघटित का घटत्व ही आभासित होता है—।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

शकुन्तला के दुष्यन्त द्वारा स्मृति भ्रंश के फलस्वरूप अस्वीकार किए जाने के पश्चात् अगूठी प्राप्त होने पर पुन स्मृति प्राप्त करने पर विरह में कातर विदूषक से राजा की उक्ति है, 'मित्र। मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तला से मेरा मिलन स्वप्न था अथवा माया, या मतिभ्रम, या किसी एक पुण्य का फल था जिसका भोगपूरा हो चला था।[3] अचिन्तनीय है उसी को माया कहते हैं इसके। निम्नलिखित पर्याय हैं—

विचित्रकार्यकरण अचिन्तितफलप्रदा।
स्वप्नेन्द्रजालवल्लोके माया तेन प्रकीर्तिता॥

प्रकृति, अविद्या, अज्ञान, प्रधान, शक्ति और अजा भी इसी को कहते हैं।

उक्त कथन के आलोक में कालिदास की माया भावना को आसानी से समझा जा सकता है।

१—रघु० १२।७४

२—कुमार० सर्ग १७। श्लोक २४।

३—का० अभि० ६ अ० श्लोक १०।

भास प्रणीत नाटको मे "माया" के अनेक प्रयोग

संस्कृत के पुरा-नाटककारो म भास का स्थान अन्यतम है। परवर्ती रचनाकारो न इसका नाम बडे आदर के साथ लिया है। भास ने अपने नाटको मे "माया" शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। "अविमारक" के छठ अक म सौवीराज, अविमारक के सम्बन्ध मे गुप्तचरो से पूछते हैं। इस पर भूनिक कहता है जहाँ तक जाया जा सकता है, मैंने वहाँ तक अच्छी तरह खोज करवा ली है। कही भी गुप्तचरो ने कुमार को नहीं पाया, उन्हें अब मन ही खोज सकता है। निश्चय ही इन दिनो वह माया का आश्रय ले रहे हैं।[1] पुन नारद अविमारक के कन्यापुर म प्रविष्ट होने के सम्बन्ध मे माया द्वारा ही यह काय सम्पन्न मानते है। व कहत है "ब्रह्म न पहले ही कुरगी का दान अविकारक को दिया था, हस्तिकृत उपद्रव के दिन उसे देखा, पहली बार तो पराक्रम से उसन कन्यापुर मे प्रवेश किया था, इस बार माया स प्रवेश किया है। सस्कृत टीका म "मायया विद्याप्रदत्तागुलीयक प्रभावत प्रविष्ट" अथ किया गया है। प्रस्तुत वध म माया शब्द का प्रयोग असम्भव काय हेतु हुआ है।

प्रतिमा नाटक

प्रस्तुत नाटक के पचम अक म रावण राम द्वारा आज्ञापित सीता की शुश्रूषा को भेद खुलने के डर से हुआ ऐसा कहकर निषेध की दृष्टि स देखता है।

यहाँ "माया" शब्द का "कपट" अथवा "भेद" अथ मे प्रयोग हुआ है। रावण महात्मा के वेष म है और तद्भेदेछेदन होने स सलक्षित है। पुन रावण अपनी माया द्वारा राम से सीता को विमुक्त कराकर उसे निजन प्रदेश म स्थापित कर देता है।[2] यहाँ "माया" का अथ वचना मे है। छठे अक म सुमन्त, रावण क सम्बन्ध में अपना उद्गार प्रकट करता है। मुनियो की रक्षा के कारण बलवान राक्षसों स शत्रुता हो गई थी। इसी कारण रावण न अपर वेष धारण कर लिया और सीता का हरण कर लिया।[3] यहाँ भी "माया" का कपट अथ म ही प्रयुक्ति हुई है। सस्कृत की टीकाओं म इसी प्रकार की व्याख्या की गई है।[4]

१—।१० अवि० । भा०
२—६।१४ अवि० भा०
३—५ अ० १५ पृ०
४—६ अ० ११ श्लो०
५—पृ० १२६ ।

न मायाविमोहित हो राम के राज्या मिषेक मे विघ्न डाल दिया यद्यपि यह भी उनकी माया की ही प्रेरणा थी।

माया विमोहित होकर ही मनुष्य पुत्र-कलत्र और गृहादि के अधकूप में पड़ जाया करता है। भगवान् का साक्षात् दर्शन ही उसे सद्य मुक्त है अथवा मन्त्रजाप के द्वारा भी जीव की माया दूर हो जाती है। यह माया वस्तुत भगवान् में ही आश्रित है, जिस समय नि निर्गुण ब्रह्म को आवृत कर लेती है, वेदान्ती उसे "अव्याकृत" कहता है। इसी तरह "मुडे मुडे मतिर्भिन्ना" के अनुसार उसे लोग माया अविद्या, संसृति और बन्धनादि अनेक नामो से पुकारते हैं। इस उक्त राम की माया के दो भेद हैं– विद्या और अविद्या। प्रवृत्ति मार्गी जीव अविद्या के वशवर्ती रहते हैं और निवृत्ति, परायण भगवद्भक्ति में निरत विद्यामय समझे जाते हैं।

माया का स्वरूप

आधार

अतो माया स्वरूप ते वदयामि तदन तरम्

सर्वप्रथम में या का स्वरूप विभावन बताऊ गा।

शरीरादि अनात्मपदार्थों में जो आत्मबुद्धि होती है उसी को माया कहते हैं।[1] इस ससार की कल्पना उसी के द्वारा हुई है। इसके दो रूप माने गए हैं[2]—पहल विक्षेप और दूसरा आवरण। विक्षेप शक्ति समस्त ससार की स्थूल और सूक्ष्म भेद म कल्पना करती है और अपर आवरणशक्ति सपूर्ण ज्ञान को आवरण करके स्थिति रहती ह। यह समस्त ससार 'रज्जुसर्पवत' शुद्ध परमात्मा म माया स कल्पित है। माया अपने आप म जड है किन्तु भगवान दृष्टि पडने स ही वह सपूर्ण जगत् का रचना करता है। इस सरचना म वह अपने अहकारादि गुणाकी सहायता लेती है और सपूर्ण लोकों की रचना करती है।[3] मनुष्य जो कुछ सवण सुनता, देखता तथा स्मरण करता है वह स्वप्न अथवा मनोरथों के सदृश असत्य

१—अ०रा० ४-२१।
२—वही ४ २२।
३—वही ४ २३। ४ २४। १४ २८। १४ २६।

हैं। ससार का मूल यह शरीर ही है जिससे पुत्र कलत्रादि या बधन मनुष्य को आशिष्ट करता है। यह बधन ज्ञान अथवा भक्ति के विन्यास से विशिष्ट हो जाता है। सक्षेप मे यहा अध्यात्मरामायण में माया के स्वरूप के सबध मे बतलाया गया है।

वाल्मीकि अथवा अन्य पूर्ववर्ती या परवर्ती रामायणों की भाँति इसमे भी मायामृग का ही विवचन हुआ है। रावण मारीच को यही आदिष्ट करता है कि 'तुम माया से मृग होकर राम और लक्ष्मण को आश्रम से दूर ले जाना।' और वह बधक अन्त में सीता पर विमोहन जाल डालने के लिए आश्रम के निकट विचरण करने लगता है। माया सीता पर भला मायामृग का प्रभाव कैसे नहीं पड़ता, फलस्वरूप जिसकी कृपा पर जगन्मोहिनी माया जीवन-यापन करती है वही राम माया मृग का पीछा करना आरम्भ करते हैं।

इस प्रकार सीता के अपहरणजनित जितने भी बाधा, विवाद आगे चलकर आते हैं प्राकृत राम उसे नर की भाँति ग्रहण तथा सहन करते हैं।

वस्तुत भगवान राम मायातीत होते हुए भी मायिक रूप में ही जागतिक लीलाओं का अनेकविध सजन करते हैं। इसी से जीव उनके मायागुणों से वशीभूत होकर उनके स्वरूप मातत्य को पहचानने मे व्यतिरिक्त हो जाता है। भगवती सीता स्वय जगन्मोहिनी माया हैं और लक्ष्मण जी साक्षात् नागनाथ शेषजी हैं। इन सबो ने माया मानव रूप से कण्टक कुल नाश के लिए अवतार धारण किया है। उन्हीं परमात्मा की माया शक्ति से य वानर भी सहायताथ उत्पन्न हुए हैं।[1] अपनी माया के गुणों से आवृत होकर भगवान अपने शरणागत भक्तों को मार्ग दिखाने के लिए देव मनुष्यादि नाना प्रकार के अवतार लेकर विचित्र लीलाएं करते हैं। यह लीला, मात्र ज्ञानी जनों को ही प्रतीयमान होती है।[2] इस प्रकार यह सम्पूर्ण ससार मायामय है क्योंकि वह ब्रह्म राम से पृथकता प्राप्त नहीं। अत उनके गुण कीतन से ही इस माया अन्धकार का नाश प्रनष्ट हो सकता है।[3]

प्रस्तुत रामायण में राक्षसी माया का भी विस्तार से वणन किया गया है। सीता को तो वानररूप हनुमान भी रावण की राक्षसी माया के परिणाम सदृश दृष्टिगोचर होते हैं।[4] राक्षसी माया पर विश्वास करना खतरे से खाली नहीं भासता।[5]

१—कि० ७ २०।
२—यु० १५ ५३।
३—उ० २ ६४।
४—सु० ३ २१।
५—यु० ३ ७।

अविद्या मे भेद स्थापित करते हुए उत्तर वेदात ग्रथों मे अनेक चर्चायें मिलती हैं। पचदशी इसका ज्वलत उदाहरण है। पचदशी म यह बतलाया गया है कि आत्मा और परब्रह्म दोनों ब्रह्मस्वरूप हैं, और वह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब माया मे प्रतिबिंबित होता है तब सत्व, रज-तम गुणमयी प्रकृति का निर्माण होता है। परन्तु आगे चलकर इस माया के ही दो भेद—'माया' और 'अविद्या'—किए गए हैं और यह बतलाया गया है कि जब माया के तीन गुणों मे से शुद्ध सत्वगुण का उत्कर्ष होता है तब उसे केवल माया कहते हैं, और इस माया में प्रतिबिंबित होने वाले ब्रह्म को सगुण यानी व्यक्त ईश्वर (हिरण्यगर्भ) कहते हैं, और यदि यही सत्वगुण 'अशुद्ध' हो तो उसे 'अविद्या' कहते हैं। इसी प्रकार उस अविद्या मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म को जीव कहते हैं। (पच० १। १५–१७) इस दृष्टि से एक ही माया के स्वरूपत दो भेद करने पडते हैं—अर्थात् परब्रह्म से "व्यक्त ईश्वर" के निर्माण होने का कारण माया और 'जीव' के निर्माण होने का कारण अविद्या मानना पडता है।[२] १५ प्रकरणों मे समाप्त प्रस्तुत ग्रथ म माया के स्वरूप और गुणादि से सबधित प्रभूत विचार अनुस्यूत हैं। यहाँ हम प्रत्येक प्रकरण से एक एक प्रतिनिधि श्लोक उद्धृत करना चाहेंगे।

प्रकरण (१)

सत्व शुद्ध विशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ये मते
मायाबिंबो वशीकृत्य तास्य स्सर्वज्ञ ईश्वर ॥१६॥[३]

प्रकरण (२)

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पते
शून्यस्य द्यमरूपे च तथा चेज्जीवंयतां चिरम् ॥३४॥

प्रकरण (४)

मायावृत्यात्मको हीश संकल्प साधन मनो
मनोवृत्यात्मको जीव सकल्पो योगसाधनम् ॥१९९॥

प्रकरण (६)

अह मोहात्मक तथ्येत्यनुभावयति श्रुति ।
आबालगोप स्पष्टत्वा दानत्य तस्य सा ब्रवीत ॥

१—सस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृ० ६८२।
२—गीता रहस्य—बालगगाधर तिलक, पृ० ११०।
३—पचदशी—श्री विद्यारण्य, राम कृष्णकृत व्याख्या पृ० ६।

प्रकरण (७)

मायिनो य विश्नाम श्रुतेरनु मवाग्दपि
इन्द्रजाल जगत्प्रोक्त तदन   पायय मत ॥१७॥

प्रकरण (८)

मायाभासेन जीवेनो करोतीति श्रुतत्वत
मायिश्रावेव जीवनो स्वच्छो तो   का कु मत ॥६०॥
मायामय प्रपचो य मा मा चेतयत्यपक
इति बोधे विरोध को लौकिक व्यवहारिण ॥८॥

प्रकरण (१३)

श्रव्याकृत पुरा सृष्टे ते स्म स्याञ्छि द्विधा ।
श्रचिरयनिर्मियता श्रहमत्य व्याक्रतामिया ॥६५॥

निद्रा शक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वानकारिणो ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टि स्थित्यत कारिणी ॥८६॥

इस प्रकार, यद्यपि उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग 'अनृत शब्द के साथ हुआ है और श्वेताश्वतर म भी इनका प्रयोग अद्वैतवादियों के अर्थ का साम्य जरूर रखता है, तथापि जो पद वेदान्तियों ने दिया वह उपनिषत्कारों द्वारा प्रदान नहीं किया गया। वेदान्तियों ने कहीं माया को, 'मायाख्याया कामधेनो वत्सा जीवेश्वरा वुभौ। यथेच्छ पिबता स्वत अद्वैतमर्थ' ईश्वर और जीव का जननी बनाया और कहीं दोनों पर आधिपत्य वाली कहा तथा आनन्द वितान यत्र माया विलासिनी का भी अभिधान दिया। इस प्रकार कहीं उसको दुर्घटत्व सिद्ध किया—'मायाया दुर्घटत्व च स्वत सिद्धयति नान्यत ' तथा कहीं उस पर तर्क करने के दुस्साहस को भी बन्द किया।

१—ईश्वरवाद—साहित्याचार्य प० रामावतार शर्मा, पृ० ११५।

अपभ्रंश साहित्य की माया विषयक धारणा

दोहाकोश

वज्रयान और महायान जिस जाति की साधना का प्राधान्य है उन्हें सिद्ध कहा जाता है। इन वज्रयानी सिद्धों की संख्या लगभग ८४ है।[1] इसमें प्रथा रतो के सरहपा का स्थान अक्षुण्ण है। 'सरहपा' की रचनाओं मे माया का उल्लेख विस्तार म हुआ है। य परमपद को मायामय बतलाते हैं। माया उनके सामने बिल्कुल सतुष्ट नही मालूम पड़ती। बुद्धि और मन की पहुँच से बाहर वह परमपद मायामय हैं।[2] सरह की दृष्टि में मुक्ति स्वत सिद्ध वस्तु है। उसने ब्रह्म या किसी सनातन एक रस तत्व को नही माना, न जगत् की क्षणिक किन्तु मूल्यवान स्थिति को स्वीकार करते हुए उन्होने जगत के महत्व को बतलाया।[3] जब चित्त का प्रसार निरन्तर होता दृष्टिगत होने लगे और लोभ, मोह अतिक्रमण करने लगे तो मायाजाल प्रतिभासित मानना चाहिये। मायाजाल से निर्गत होने के लिए यह आवश्यक है कि ध्यान किया जाय। ध्यान और मार्ग के समक्ष माया के विस्तार मे अथवा मायाजाल मे पड़ना कौन चाहेगा।[4]

इसी तरह अनेक उद्धरणो मे माया से मुक्ति की प्रशसा मे इन्होंने शब्द कहे हैं। मायाजाल से सावधान रहना अथवा उससे बिल्कुल विलग रहने का उपदेश देना ही इनको अभीष्ट है।

पउमचरिउ

हिन्दी साहित्य के अध्ययन में और विशेषकर तुलसी-सूर आदि को समझने के लिए जन अपभ्रंश साहित्य की सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। स्वयं

१—हिंदी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २३।

२—दोहाकोश—ग्रथकार सिद्ध सरहपाद पा-पुर्नानुवादक- महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३४।

३—पूर्ववत्, पृ० ३५।

४—उपरिवत्, पृ० ८१।

५— „ „ ८१।

प्रस्तुत हम ग्रंथ के रचयिता, अपभ्रंश के उन सबसे पुराने कवियों में हैं जिनकी रचना उपलब्ध है। इनकी अन्य चार रचनाओं में पउमचिरउ (रामायण) वस्तुत इनकी सर्वोत्तम रचना है [1] यहाँ हम 'माया' शब्द के प्रयोग की दृष्टि से कुछ अंश उद्धृत करेंगे।

विग्रग्रो संधि

सयथ जणहो उवसोवणिए दोप्पिए
मणए माया-बालु मवेप्पिव ॥७॥ पृ० १४

ग्रवट्ठमो संधि

सा विकराल वयण उद्धाइय
परिवाड्यगयणडिय्यले ण माम्य ॥ पृ० ७४।

णवमो संधि

बहरिहिं मिलीवि मुहमलिण किय
मायरि व समागम सकहिय ॥ पृ० ८०

णवमो संधि

णवि चलिउ तोविनहो नाणुग्रिस।
माया रावणउ करेवि गिम ॥पृ० ८२

एगुणवीसमो संधि

दूवत्तए पत्तए गोकुमय हणुवन्तहो मायरि मुच्छ गय।
अहिं सिंचिय सीयल चन्दणेण पच्चाइय यर यामिणि जले
पृ० १६१।

अग्रु चरिउ[2] (नवीं शती लगभग)

गुणपाल मुनि कृत प्रस्तुत ग्रंथ में माया शब्द अनेक स्थानों पर आया है।
कुछ अंश नीचे उद्धृत हैं।

तइया उद्देशो

ग्रइ छिन मयइ पर माया गिलम्भि सइ व विरमारमे
नय्यो जइवि न ल्पायइ तहा विदिट्ठे भय कुणई ॥पृ० १३

१—हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६।

२—मुनिवर गुणपाल रचित ग्रगुचरिउ। स मुनि जिनविजय सिंघी जैनग्रन्थ विद्यापीठ, भारतीय विद्या भवन, बंबई।

मामा वि होइ, जाया जाया वि, पसे भवे माया

मइणी वि होइ जाया, सा वि य मरिऊण श्रह भये माया ॥

पृ० १४

चउत्थो उद्देशो

कोहो माणे माया, लोभो तह चेव पचमो मोहो

निज्जिऊण य ए ए, वच्चसु मयरामय थाणं ॥पृ० २६

पचमो उद्देशो

किमायापरा टणिसु परियणधन तेह
लोह नियलेहि ।

ऽडबघरोहि बघसि बधव बुद्धी ये श्रत्ताणं ॥३३

पचमो उद्देशो

कोहस्स य मापस्स य माया लोभस्स मेयमिच्छत्त ।

सभ्र विफलीकरणं । एरोविजश्रो कसा पाणं ॥ पृ० ४६

श्रट्ठमो उद्देशा

जो होइ इत्थ माया महणी होऊण सा भवे जाया

जणश्रो वि होइ पुत्तो सत्त मित्तो पुणे माया ॥८६

माया वि तुरभ्र बालय । मम जणणी सासुया सवक्कीश्र ।

माउज्जाया य तहा बहुया इहनेव नाम वा ॥पृ० ६०

गोरखवानी—"सबदी"

हिन्दी साहित्य के इतिहास म गुरु गोरखनाथ या उनके पचवालों की रचनाओ को एक विशेष महत्व का स्थान प्राप्त है । सन्तों के शब्दो एव साखियो के बहुत पहले इन्होने पदा और सबदियो की रचना की । उन्हीं की विचारधारा-और परपरा का क्रमिक विकास हिंदी साहित्य के मध्ययुगीन सत भक्ता मे देखने को मिलता है । नाथ पथ के प्राय प्रमुख सिद्धान्तो को बानगी के अतिरिक्त इनमे कबीरादि से लेकर प्रेम-मार्गी सूफी कवियो की पृष्ठभूमि भी हम यहाँ पाते हैं । उपयु क्त 'सबदी' में 'माया' भावना का पुट प्रकृष्टतया प्राप्त होता है जिसे हम सन्त कवियों की रचनाओं में पूरो तरह से अवलोकन करते हैं । अब हम उनके कुछ मुख्य विचारो को यहाँ उद्धृत करेंगे ।

गोरख के अनुसार काम को भस्म कर कामिनी के चंगुल से विलग रहने वाला ब्रह्मरेतस पुरुष विष्णु द्वारा भी नमस्कृत होता है। क्योंकि बिना ऐसा किए माया को नाश नहीं जा सकता।[1] इस माया से आखिर कैसे बचा जाय समझ में नहीं आता— वनखंड जाने से क्षुधा व्यापती है नगर जाने से माया का आकर्षण जोर पकड़ता है। और भर पेट खाने से शुक्रवृद्धि से कामवासना सताती है। कोई कैसे सिद्ध बने! जिसे अपने घर बार का पूरा ज्ञान है उसे सब कुछ छोड़कर माया को काट देना चाहिए।[3] यानी कभी भी गृही नहीं। यदि वह गृही है तो ऐसा जो अपने शरीर को पकड़े हुए, वश में किए रहता है। अन्तःकरण से सर्वथा माया को त्याग देता है।[4]

इस माया ने किसे नहीं नचाया! अठासी हजार कमासरों को भी नहीं छोड़ा यह विष्णु की माया असाध्य है जिसने सर्वेश्वर महादेव को भी नचाया।[5] गोरख गुरु कहता है कि हे गुरु! लोभ और माया को अलग से अर्थात बिना स्पर्श किए हुए छोड़ दो। आत्मा का परिचय रखना ही आवश्यक है जिससे सुन्दर काया रह जाय विनष्ट न हो।[6] आगे कवि माया की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह बतलाता है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा विष्णु से भी पहले इसी का जन्म हुआ। विश ज्योतिषियों यह विचारो कि पहले पुरुष हुआ कि स्त्री परमेश्वर या माया। जहाँ न वायु है, न बादल, वहाँ जो बिना खम्भों के मंडप रचा हुआ है, वहाँ उत्पत्ति करने वाली वही माया ही है। जब बाप नहीं तब भी यह बैठी थी यह माता (माया) बालकुँवारी है। इसने अपने स्वामी को पालन पावाया तथा झुलाया है। (माया कहती है कि) ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर ये तीनों मेरे पैदा किए हुए हैं और मैं ही इन तीनों के घर में गृहिणी भी हूँ। (इनके) दोनों हाथों में मेरी माया ही है। ये जो काम करते हैं सो सब मेरी माया से। यद्यपि सतगुरु की कृपा से इस बालकुमारी माया से छुटकारा मिलना सहज है। माया का भय तृष्णा के खंडन से शीघ्र हो जाता है। वही माया अहीर के घर में भैंस है देवालय में लिंग है और दूकान में हींग है। एक ही सूत्र से नाना रूप बने हुए हैं जो बहुत

१—पृ० ७।१७।

२—१२।३०।

३—१६।४४।

४—पृ० १७।

५—पृ० ६७।

६—पृ० ८०।

प्रकार मे देखने मे आते है गोरखनाथ गुणरहित माया का वणन करत हैं ।[1] अब गोरख ने आशा, तृष्णा और इच्छा रूप माया को छोड दिया है । उसने माया को मार दिया है, घरवार छोड दिया है । भाई बन्धु त्याग दिया है सयाग स तो शरीर दिन दिन क्षीण होता चला जाता है उसके द्वारा माया ओठ कठ और तालू का शाख लेती है और मज्जा तक को निकालकर खा लेती है ।[2]

इसके अतिरिक्त रूपको तथा प्रतीको के माध्यम स भी गोरख ने माया का समझाने का प्रयास किया है । कवि न माया के लिए बाघनी का प्रयोग किया है। "सव कमाई खाई गुरु, बाघनी कराय । इसके अतिरिक्त माया को "बाझ" के रूपक से समझान का प्रयत्न किया गया है । कवि क अनुसार बांझने (माया) पुरुष (ब्रह्म) स सग करना तो दूर रहा नजर स भी देख बिना पुत (ब्रह्मानुभव) पैदा किया है । जब माया-धीन पुरुष (जीव) माया स अलग कर दिया है तभी उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है । लकड़ डूब जाते हैं (जो भवसागर के जल से चचल हो जाते हैं और पत्थर जो उमसे प्रभावित नहीं होते) स्थिर रहते हैं । इस प्रकार देखते-देखते ससार नष्ट हो जाता है । स्थूल माया (ऊट) जब इस प्रकार नहर म बह जाती है तब फिर सूक्ष्म माया (खरहाशशा) भी प्रवेश क द्वार म नही प्रविष्ट कर सकता । अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल दोनो प्रकार की माया के प्रभाव स दूर हो जाता हैं । इसी प्रकार मछली (मन) पहाड (डूगर) पर ऊची दशा पर पहुँच जाती है । शशा (खरहा माया जल में (भवसागर अर्थात् माया म मिल जाता है । जीवात्मा पर उसका असर नही रहता ।[3] स्त्री के साथ रहने वाली पुरुष की अवस्था कूल-द्रुम के समान होती है । माया नारी रूप मन को मोहती है और रात्रि को गुप्त स्खलन द्वारा अमृत सरोवर को सोखती है । इस प्रकार मूख लोग जान-बूझकर घर-घर म बाघिन को पोसते हैं ज्यों ही मन म स्त्री के सम्बन्ध मे ममत्व भाव उत्पन्न हुआ त्योंही अमृत निम्मतल मे स्खलित होने लगता है । मन का मथन करन वाली, आंखो से युक्त बाघिन जब महारस अमृत को सोख लेती है तो पैर डगमग होन लगत हु और सिर के बाल बगुले के पखों की भांति सफेद हो जाते हैं ।[4] माया को कवि ने सर्पिणी भी कहा है । उसका

१—पृ० १३७ ।
२—पृ० १४० ।
३—पृ० १४५ ।
४—पृ० १९२ ।
५—पृ० १३८ ।

विचार है कि निमल जल (अमृत सरोवर) में प्रवेश कर सर्पिणी माया को मारा। गोरखनाथ ने इस त्रिभुवन को डसते देखा है। जैसे जल में सांप का विष नहीं चढ़ता वैसे ही अमृत सरोवर में प्रविष्ट साधक पर भी माया का प्रभाव नहीं हो सकता।[1]

कुछ स्थानों पर "अवधू" और गोरख की प्रश्नोत्तरी भी उल्लिखित है[2] इस प्रकार हम पाते हैं कि गोरखवानी में माया के संबंध में जो बातें

कही गई हैं उसका पारम्परिक विकास हम हिन्दी साहित्य के सन्त काव्य में पाते हैं। इनके कुछ अंश तो बिल्कुल स्पष्ट उच्छिष्ट जान पड़ते हैं साथ ही वर्ण्य विषय माया मुक्ति, जो गुरुकृपा से ही संभव है, तथा प्रतीक तथा रूपकों के माध्यम से जो माया के स्वरूप तथा लक्षण पर विचार किया गया है उसका पूर्णतया निदर्शन हम सन्तकाव्य में पाते हैं।

जलध्री पाव जी की सबदी

गोपी चन्द कहे स्वामी बस्ती रहूं तो कहूंगे व्यापै।
जगलि रहूं पुध्रासतावे। ग्रामगि रहूं त व्यापे माया।
पंथि चलूं ता छीज काया। पृ० ५२।

दत्तात्रे (दत्तात्रेय)—

नादा नविदा कनपाना न काया।
मनोरथो न माया आगमा न नगमो॥ पृ० ६१

घूघलीमल—

हम तो जोगी निरतर रहिया।
तजिया माया जल॥ १०॥ ४२३॥ पृ० ६५

प्रिथीनाथ—

गले पाच दे जोररा जीरा
जीनिवा प्रबल माया॥ ६॥ ४४५। पृ० ७१

१—पृ० १३६।
२—पृ० २४१।

बालनाथ जी—

माया सो माता माता सो माया ।
कल्पते काया कठिन जोग पाया ॥ पृ० ६४

भरथरोजी—

पहला सख निरजनदेव । पाया ब्रह्मज्ञान का मेव ।
तीजा सख विचारह पाया । पैचरो मुद्रा त्यागत माया ॥
माया त्यागो रायो काल । इा उपदेस वंचिवे जम काल ॥३॥
५६१ । पृ० ७०

जस्य माया तस्य जाया ।
तस्यस्यू के विषे मुचाते काया ॥

लषमण के पद—

कैसा सबद कहो महाराजा
बाई सबद हो तेरा
इद्रया बीज आदि लू माया ॥
तीनो लोक अधारा ॥

सतवती—

हम भी माया तुम भी माया
माया रावन राधा
ओ तू बाता बूझ करत हो
तो सुसवेद सू लाओ ॥
इछा बीज आदि लू माया
यू सति-भापे रसवती ॥ ६ ॥ पृ० १२१ ।

हणवतजी—

वाथी भीनी जिन जिन त्यागी
ताका अजे सरोर लो ॥ पृ० १२७

कतिपय प्रतिनिधि नाथसिद्धो की वानियाँ—

नवी म लकर १२ वीं शता-ी तक विस्तृत नाथ सम्प्रदाय के इन नाथ सिद्धो का अपना महत्व है। इनके पदो म भी "माया" श-ब का प्राचुय है। जो निम्नलिखित प्रमुख उ-ाहरणों म सिद्ध है।

सत काणेरीजी का पद—

कबहुक मनत्री म्हारो माया त्यागे
कबहुक बहुरि मगावे रेना ॥ २।५५ ।पृ० ६।

गोपीचन्दजी की सबदी—

जोग न होनो के पूता भोग न होसी
नसो कसो (किसो) जलबिब की माया।
सति-मति भापत माता केणावती पूता।
भरमि न भूलो रे माया ॥ ७ ॥ पृ० ८०,

काम विसारि जरा क्रोध तजीला
मोह छाडि निरवद।
माया ममिता विना गुरु सरने
निरमे गोपीच-द ॥ १४ ॥ पृ० १८

घोडा चोली जी की सबदी—

काम क्रोध मेटे विघ्न की माया।
ते गोपालननाथ की काया ॥ ६ ॥ १३४, पृ० २६
गोरख ते जे कापे गोई
माया मनसा करे न मोही ॥
सदा अकल्पत रहे उदासा
चरचे जोगी सिम निवासा ॥ १२ ॥ १३७ ॥ पृ० २३

श्री चटपटनाथ की सबदी—

पगे माऊ माथे टोये
गल में बागा मन में कोय
माया देवि पसारा करे
चटपट कहे अणछूटी मरे

अबतक हमने वेदिक-युग मे लेकर हि्न्दी साहित्य के आदि युग तक के वाग्मय म प्रयुक्त माया के विभिन्न अर्थ, स्वरूप, क्षेत्र, परिवार, उसकी प्रकृति, अनिर्वचनीयता का बोध, आदि विषयो का विवेचन एक विस्तृत धरातल पर सम्पन्न किया है, जिसके पुष्कल प्रमाणो के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि माया की परपरा वेदिक काल से लेकर गोस्वमी तुलसीदास के समय तक अविच्छिन्न गति से, किंचित् सशोधनो, परिवर्दधनो द्वारा सवर्दिधत कभी दर्शन और कभी साहित्य (काव्य) के उभयकगारो को सस्पर्शित करती हुई तथा भिन्न-भिन्न उपमाओ तथा रूपको द्वारा स्पष्टीकृत होती हुई आ रही है। इतना ही नही तुलसीदास के परवर्ती-काल से लेकर अबतक भी प्रसाद, पन्त निराला, मैथिलीशरण, महादेवी, नरेन्द्र शर्मा आदि हिंदी साहित्य के विशिष्ट स्तभो की रचनाओ म, चाहे वह केवल शब्द-मात्र के प्रयोग से विशिष्ट अर्थ निष्पादन हेतु प्रयुक्त हो अथवा वयक्तिक सिद्धात रूप में ग्रहीत, उसकी तद्वत स्थिति बनी हुई है। जहाँ तक मध्ययुग के भक्त कवियो की माया भावना का सबध है, इन पर अपने पूर्ववर्ती दर्शनो तथा अनेक विध वर्णित धारणाओ का प्रभाव अपने प्रभूत रूप म विदयमान है। यद्यपि उन्होंने माया का, केवल उन्ही दार्शनिक अथवा साहित्यिक परपराओ के सन्दर्भ म ही देखने का प्रयत्न नही किया, अपितु उसे वैयक्तिक सबध मानकर भी एक नवीन सरणि प्रदान की। वस्तुत माया एक ऐसा जटिल विभावन है, जिसके सबध म यह कहना कदाचित् बड़ा ही त्रुटिपूर्ण होता कि "यही है" अथवा "यही इसका तात्पर्य है" वह एक जिज्ञासा की वस्तु रही है और "मति अनुरूप" उसकी अकथ-कथा, काल विशेष के विचारकों कवियो द्वारा कही गई हैं। भला वह मायानाथ की आश्रिता है, उसे जान ही कौन सकता है!

माया मायानाथ की को जग जाननहार?

—तुलसी।

—००—

यह ठीक ही कहा है कि उपासना मार्ग में सगुण प्रतीक के स्थान पर क्रमशः परमेश्वर का व्यक्त मानव रूप धारी प्रतीक ग्रहण ही भक्ति मार्ग का आरम्भ है रुद्र, विष्णु इत्यादि वैदिक देवताओं अथवा आकाशादि सगुण व्यक्त ब्रह्म प्रतीक की उपासना प्रारम्भ होकर अन्तर में इसी हेतु ब्रह्म प्राप्त्यर्थ रामकृष्ण, नृसिंह आदि की भक्ति के रूप में प्रारम्भ हुई।[1] उपासना के लिए ब्रह्म का सगुण और व्यक्त होना आवश्यक है जिसका विनियोग उसकी विभूति, ऐश्वर्यादि की अभिव्यक्ति से सबद्ध होता है। इस दृष्टि से ब्राह्मणकाल में विष्णु की श्रेष्ठता स्थापित हो गई है। जो इस वैष्णव भक्ति के विकासोन्मुख मार्ग का प्रथम सोपान जान पड़ता है। शतपथ में विष्णु का देवताओं में सर्वश्रेष्ठ (देवताओं का मुख) कहा गया है।

रामायण काल में वैष्णव प्रधान भक्ति सिद्धान्तों का यथेष्ट मात्रा में उत्कर्ष दिखाई देता है। वाल्मीकि के राम सपूर्ण लोकों के आश्रय है, इसीलिए वन्दों के प्रतिपाद्य था।[2] महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में नारायण, स्वायम्भुव मन्वन्तर के सतयुग में उत्पन्न हुई भगवान् की चार अवतारमयी विभूतियों में से एक कहे गए हैं। गीता के चौथे अध्याय में भगवान् भक्त अर्जुन को उक्त परपरा से सम्बधित धर्म का ही विश्लेषण करते हैं।—"एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः॥"

विष्णु के भक्ति निरूपण में यह कहा गया है कि जिस प्रकार अविवेकी जनों की प्रीति विषयों में होती है, उसी प्रकार आशक्तिपूर्ण प्रीति जब भगवान् में होती है, तब उसे भक्ति की सज्ञा दी जाती है।[3]

गीता और भागवतपुराण, भक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों में धुरिकीर्तनीय हैं। गीता अपने रूप में प्राचीन है और भक्ति के वर्तमान सर्वाङ्गते व्यापक रूप के परिदर्शन कराती है। वासुदेव भक्ति का तात्त्विक निरूपण जितना यहाँ हुआ है उतना तद्युगीन किसी अपर ग्रन्थ में नहीं। हाँ, भागवत में भगवान् का माधुर्य युक्त जिस विभूति का अकन हुआ है, उसमें ऐश्वर्यादि शील शक्ति का अपत्यग गौण रूप प्राप्त

१—गीता रहस्य-बाल गगाधर तिलक, पृ० ५३८।

२—भक्ति का विकास, मूरदास—प्रा० नन्ददुलारे वाजपेयी।

३—तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ० २६०।

होन पर भी भक्ति की वात्सल्य और रति विषयक माधुय पूण मूर्ति की दिव्यता भक्ता के मध्य पूण प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। इस प्रकार ये दोनों ग्रंथ वैष्णव भक्तिमाग के प्रतिस्थापक सिद्ध होते हैं। भागवत-पुराण तो परवर्ती भक्ति सम्प्रदायों के प्रमाण रूप म अनेकधा उद्धृत हुआ तथा उस पर बहुश टीकाएँ भी लिखी गई। इसमे वेदविहित कम म लग हुए जनों की भगवान् के प्रति अनाय भावपूवक स्वाभाविकी सात्विक प्रवृत्ति को भक्ति का अभिधान दिया गया है। उनके रूप गुण के श्रवणमात्र से प्रादुर्भूत उनके प्रति अविच्छिन्न मनोगति इसकी पहली शत है। जिसे "अहेतुकी" भक्ति भी कहा गया है।

शाण्डिल्य न अपने भक्तिसूत्र म भक्ति की शास्त्रीय तथा सर्वांगीण किंतु सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है।[1] इसके अनुसार ईश्वर विषयक परानुरक्ति को भक्ति कहते हैं। प्रीति और भक्ति म अभेद है, पराष्ठा पर पहुँची हुई भगवत्प्रीति ही भक्ति है। शाण्डिल्य द्वारा प्रतिस्थापित भक्ति की विशेषता यह है कि उसके द्वारा उसे ज्ञान से भिन्न बताया गया और भक्ति के उदय से ज्ञान का क्षय होता है, यह भी निष्पादित है। नारदभक्ति सूत्र के अनुसार भी ईश्वर के प्रति परमप्रेम "भक्ति" है। कण्ठावरोध, रोमाच, अश्रु आदि इस परमभाव के अनुभाव हैं। नारद पाचरात्र म भक्ति की तत्परता और उसकी अनयता पर अधिक बल दिया गया है। योगसूत्र मे "प्रणिधान"—"ईश्वर के समक्ष सभी कर्मों का समपण" का भक्ति का समशीलता प्राप्त है।

आगे चलकर शकराचाय के अद्वैतवाद के प्रतिवत्तन स्वरूप वैष्णवाचार्यों के द्वारा उनके अपने सिद्धान्तो के अनुसार भक्ति की विस्तृत व्याख्या की गई जिसमे ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ प्रतिपादित करने का स्तुत्य प्रयास हुआ। रामानुज ने "स्नेहपूर्वमनुध्यान भक्तिरित्युच्यते बुधे" कहकर स्नेहपूर्वक किये गए अनवरत ध्यान को भक्ति माना तथा उसके स्वरूप का दाशनिक व्याख्या प्रस्तुत की। श्री भाष्य म उनकी यह स्थापना है कि ध्रुवानुस्मति ही भक्ति है। रामानन्द के अनुसार, जिन्हे रामानुज दशन का अनुयायी होने का भी सौभाग्य प्राप्त है, मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवत्परायण होकर की गई उपाधि निर्मुक्त परमात्मसेवा भक्ति है।[2] मध्व ने भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से उद्भूत परमानुरक्ति को भक्ति की सज्ञा दी है। वल्लभ की भी मान्यता है कि भगवान् के महात्म्य ज्ञानपूवक उनके प्रति जो सुदृढ सर्वाधिक

१—तुलसी दर्शन मीमासा—डा० उदय भानुसिंह, पृ० २६१।

२—गीता पर रामानुज भाष्य, अध्याय ७ की अवतरणिका।

३—तुलसी दशन-मीमासा, पृ० २६३।

दूर, प्रतिपादन किया था, कबीर ने उसे अपनाकर एक सच्चे शिष्य होन का परिचय दिया। इसमे मूर्तिपूजा, पूजा के विविधाडम्बर, अनेक प्रकार की गतानुगतिकता से परे, हृदय की भाव भूमि पर भवत्साक्षात्कार किया गया। कबीर कहते हैं—

क्या जप क्या तप सयम। क्या तीरथ व्रत अमनान
जो पै जुगुति न जानिए, भाव भगति भगवान।

पूर्व के निवेदन म यह कहा गया है कि भक्ति भगवत्‌विषयक प्रेम या रति का नाम है। यह भक्ति आरम्भ स प्रभु को सगुण मानकर चली है। कबीर का निर्गुण राम भी सगुण है। उसके प्रभु के अनक गुण हैं। उसके पास पौराणिक पद्धति के अनुकूल शेषनाग हैं, गरुडि है और लक्ष्मी भी है। कमला तो सदैव उसके चरण कमलों की सवा करती रहती है, यद्यपि उनकी अविगति स अवगत नही हो पाती।[1] इस प्रकार लीला, धाम, नाम इत्यादि, जिस पर वैष्णव-भक्ति सम्पूर्ण रूप से आधृत है, उनस सम्बन्धित अनक उदाहरण कबीर की रचनाओ में प्राप्त हैं।[2] इसके अतिरिक्त नवधा भक्ति, प्रमलक्षणा भक्ति, आदि का विस्तृत रूप इनकी रचनाओ मे मिलता है।[3] प्रेम पथ की कतिपय मनोदशाओं तथा उसके विभिन्न सचारियो का वर्णन भी कवि का अभीष्ट है।[4] कबीर न आध्यात्मिक पक्ष को प्रधानता देकर उस ज्ञान की निन्दा की है, जो भक्ति निरपेक्ष है। भगवद्‌भक्ति म अनुरक्त करने वाले ज्ञान की तो वे अभिशंसा करत हैं।

"जा जन जानि जपे जग जीवन, तिनका ग्यान न नासा"[5]

पूर्वनिर्दिष्ट तथ्यों से यह सहज अनुमेय है कि मध्ययुगीन भक्ति के आद्य उद्‌गाता कबीर की रचनाओ मे भगवद् भक्ति का अकन बड़े ही समारोह के साथ हुआ है। जनश्रुति भी द्रविड से लाने वाले रामानन्द की भक्ति को कबीर द्वारा ही "सप्त द्वीप नवखड" प्रकट की गई मानती है।

कालक्रम से प्रेमपथ के पथिक जायसी का विवेचन भी यहाँ अप्रासगिक नही क्योंकि वैष्णव भक्ति मे जो "प्रमतत्व" का आविर्भाव हुआ वह 'सूफियों' की देन हो समझी जाती है यद्यपि श्रीमद्‌भागवतादि पुराणो म प्रभु के रजनात्मक स्वरूप की

१— „ „ —डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ४८६।
२—वही, पृ० ४७६।
३— „ „ ४८४, ४८५।
४— „ „ ५०१।
५—भक्ति का विकास—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ५५३।

निर्गत हुई है और इसे ही "प्रेमलक्षणा भक्ति कीजे" का साक्षात् स्रोत माना जाता है। जायसी की रचनाओं में वैष्णव भक्ति के विशिष्ट लक्षणों का पुष्कल प्रमाण प्रकारान्तर अथवा प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त हो जाता है। उदाहरणस्वरूप हरि लीला के अन्तर्गत सृजन, ध्वंस और इसकी मध्यम कड़ी प्रतिपालन के उल्लेख्य संदर्भ में प्रायः सभी वैष्णवाचार्य एकमत हैं। जायसी को भी यह स्वीकार है—भजन गढ़न सवारन जिन खेला सब खेल—२१ आखिरीकलाम" दूसरे वैष्णव भक्ति में प्रभु दर्शन के आगे बैकुण्ठ का महत्व नगण्य है। जायसी ने—

तौ लै मेउ बैकुंठ न जाई। जो ले तुम्हारा दरस न पाई।
चार फिरिस्ते बडे औतारउ। सात खंड बैकुंठ सवारेउ॥[1]

इसे भी इन पंक्तियों में स्पष्ट किया है। बैकुंठ के कई भागों का वर्णन पद्मपुराण में भी आया है, यद्यपि कवि ने कुरान के आधार पर इस सात भागों में वर्गीकृत किया है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के रूप वर्णन, नाम वर्णन, गुण वर्णन, धाम वर्णन, आदि का विवेचन इनकी रचनाओं में हुआ है। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने उपरिनिर्दिष्ट बातों को एक विस्तृत धरातल पर, प्रभूत उदाहरणों द्वारा प्रमाणित किया है।

कृष्णभक्ति शाखा में कवियों ने भक्ति की महिमा का बहुविध वर्णन किया। इस क्षेत्र में श्रीमद्वल्लभ तथा भक्ति मार्ग के अन्य प्रपन्न जनों द्वारा निर्धारित मार्ग का ही इनके द्वारा समर्थन प्राप्त हुआ। इन कवियों ने भगवान से उनकी प्रेम भक्ति की ही याचना की। महाकवि सूर "भक्ति बिना भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि" ऐसा निर्देश करते हैं। आचार्य वल्लभ ने अष्टछाप भक्ति के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय देते हुए यह लक्षित किया है—"भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ और सर्वाधिक स्नेह हो उसे भक्ति कहते हैं।" नवधा भक्ति में भगवान् के चरणकमलों में प्रणत होकर शीतलता का अनुभव करना प्रयोजन माना जाता है, पुष्टिमार्गीय भक्ति में प्रेमपूर्ण प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर मस्त रहना ही भक्ति का लक्ष्य है। इनकी मर्यादा भक्ति भगवत् चरणारविन्दों की भक्ति है, और पुष्टि भक्ति के मुखारविन्दों से सम्बन्ध है। गोपिकाओं की भक्ति इसी कोटि में रखी जा सकती है। सिद्धान्त मुक्तावली में व्यक्त मतों के आधार पर आचार्य

२—भक्ति का विकास में "जायसी का प्रेमपथ" विशेष के लिए द्रष्टव्य।

का यह निश्चय है—"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप । स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य क्वापि कदाचन ।" इसी सर्व समर्पण के आधार पर कदाचित् अष्टछाप भक्ति में रामानन्द की भाँति समस्त वर्णवालों के लिए उन्मुक्त सुलभता प्राप्त है तथा स्थान-२ पर श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति के साधन अंगों की सराहना है। भक्ति विरहित कर्म, धर्म, तीर्थादि का महत्व नगण्य है। इस प्रकार कृष्णभक्ति शाखा के कवियों द्वारा "प्रीतम प्रीत ही तें पैये" की प्रेम माधुरी पूर्ण भक्ति की अनुगूंज सर्वत्र व्याप्त है।

रामभक्ति के सुरसरि प्रवाहित करने वाले तुलसीदास ने भक्तिभाव की वह भूमिका उपस्थित की जिसमें लोकादर्श और मनोभूमि पर अधिष्ठित राम के धर्मस्वरूप का रक्षक एवं रंजनकारी रूप सदा के लिए प्रतिष्ठित हो गया। तुलसीदास के अनुसार रागादि से मुक्त चित्त में ही भक्ति का उदय संभव है। रामभक्ति के लिए उनके चरणों में निश्चल स्नेह का होना अनिवार्य और उनके माहात्म्य ज्ञान से आवेष्टित की गई दास्यभक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में भक्त के हृदय में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का, बड़ा ही स्पष्ट चित्र दिखाई देता है।[1] उस समय दंभ, कपट, पाखंड, अभिमान किसी किसी का भी वश नहीं चलता और सारा अग-जग "राममय" ही दिखता है। प्रभु से बड़ा इस संसार में दूसरा कोई नहीं उसी प्रकार तुलसी से छोटा भी दूसरा नहीं होगा। इसी महत्व की अनुभूति से दैन्य भाव, किन्तु भक्ति के लिए अनन्य भाव, जागृत होता है। अब तुलसी केवल राम के चरणों में अनन्त प्रेम की ही लालसा रखते हैं—"बार-बार मागौं कर जोरे। मनु परिहरै चरन जनि मोरे ॥"

सब करि मागहि एक फलु, राम चरन रति होउ ॥

यहाँ भक्तिमार्ग के उद्भव, विकास और उसके स्वरूप के निरूपण से हमारा विशिष्ट प्रयोजन था हिंदी साहित्य के भक्ति काव्य को उसकी आलोचना में उदाहृत करना। वस्तुतः भक्ति का सारा पूर्वकालिक वैशिष्ट्य अपनी सम्पूर्णता में अनेक लघु गुरु स्रोतों में समाविष्ट होकर यहाँ विद्यमान है। श्रीमद्भागवत के उपरान्त भक्ति ने, रामानुज, मध्व 'निम्बार्क और वल्लभ इन चार आचार्यों द्वारा उनकी अपनी अभिरुचि और भावना के अनुसार वाह्यान्तर पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। यह मार्ग हिंदी के भक्त कवियों द्वारा सर्व स्वीकृत भाव से अपनाया जाकर तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियों द्वारा एकान्त विश्वराग बनकर जन-जन के मानस को आप्लावित करता रहा। अब हमें देखना है कि इस भक्ति-संपादन में मध्ययुगीन

१—चिंतामणि—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०४।

भक्त कवियों द्वारा माया का उपयोग किस प्रकार हुआ है।

माया अपने आप में एक विचित्र वस्तु-समवाय रही है। यह वास्तव में विचित्र सगकरी तथा अघटन घटना पटीयसी है। इसका निम्नलिखित ढग से और भी स्पष्ट किया जा सकता है—"ससार में माया है, इसीलिए हम हैं। माया के नहीं रहने पर हम कोई नहीं रहते"—सबते ममता ताग बटोरी।" कुछ भी नहीं होता—नायत्किंचनमिपत्।" किन्तु यह भी ठीक है कि माया के रहने से ही यह ससार अनाचार-दुराचार का क्रीड़ा स्थल बना हुआ है। हम अपने प्रभु से वियुक्त होकर "मोह निशा" में सोए हुए अनेक प्रकार के स्वप्न देख रहे हैं। उपर्युक्त कथन को भक्ति के संदर्भ उसी प्रकार नि सकोच कहा जा सकता है—"माया है, इसी लिए भगवच्चर्चा से हम दूर रहते हैं, और प्रभु को नहीं जानते। परन्तु यदि माया नहीं होती, तो भी हम भगवान को नहीं जान सकते थे क्योंकि यह ससार नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में एकत्व आ जाता।" इस प्रकार माया की परवर्ती स्थिति ही भक्ति ठहरती है। सर्वप्रथम माया है और तत्पश्चात् भक्ति। तुलसीजी ने इस "पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी, माया खलु नर्तकी बिचारी" के रूपक से दोनों की अवान्तर स्थिति को मानते हुए विश्लेषण किया है। उन्होंने माया और भक्ति का पृथक वर्णन करते हुए भी दोनों को कोई विरुद्ध शक्ति के रूप में नहीं देखा है। वे माया को नर्तकी तथा भक्ति को प्रियतमा कहते हैं। भक्ति के तत्तत् विशेषण से "अतिशय प्रिय करुणानिधान की" सीताजी ही भक्ति का प्रतिरूप ठहरती हैं। भक्ति की पृष्ठभूमि में माया का स्थान निरूपण हमारे वाङमय में पुराकाल से ही होता रहा है। *उपनिषदों में यह विचार प्रतिपादित है कि ध्यान के द्वारा जब तक* परम ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो जाती, उससे एकाकार नहीं हुआ जाता, तब तक विश्व-माया से निवृत्ति नहीं होती।[1] प्रश्नोपनिषद् के अनुसार कुटिलता अनृत तथा माया त्याग के बिना ब्रह्मलोक की प्राप्ति संभव नहीं है।[2] यहां ब्रह्मलोक की प्राप्ति का अर्थ है परमात्मा की प्राप्ति। इसे ही मुक्ति, "पदनिर्वाण" अथवा भक्ति की चरम स्थिति कहा जाता है। इसी भावना का मसृण रूप आगे चलकर भक्ति के लिए माया त्याग की बात करता है। श्रीमद्भागवतकार का यह उपस्थापन है "माया द्वारा जीव तीनों गुणों से अतीत होने पर भी अपने को त्रिगुणात्मक मान लेता है और तज्जनित अनेक अनर्थों को भोगता है। इसकी एकमात्र औषधि भगवान की भक्ति ही है।[3]

१—श्वेताश्वतर १।१०।

२—प्रश्नो० १।१६।

३—श्रीमद्भागवत प्र० ७।स्क० १।५६।

इसी प्रकार नवम स्कंध में यह कहा गया है माया से समूढ़ जन भगवान की सेवा करना भूल जाते हैं। यह संसार उन्हीं की माया की करामात है। इसके मत्य ममत्कर क्रोध, लोभ, ईर्ष्या और मोह में चित्त को भटकाना ठीक नहीं है।[1] निश्चय रूप में जो लोग भगवान की आराधना नहीं करते, वे वास्तव में उनकी सबल विस्तारण माया से ही मोहित है,[2] अत "मयि भक्ति परा कुवन् कर्ममिनसवध्यत"।

भक्ति की भूमिका में शरणागति का महत्व अनन्य भाव से स्वीकृत है। सभी धर्मों को छोडकर एक भगवान् की शरणागति सभी तरह के पापों से मुक्ति दिलाने के लिए अलम् है। गीताकार ने माया को जीत पाने के लिए प्रभु की शरणागति की अक्षुण्णता मुक्त कंठ से प्रतिपादित की है।[3] वस्तुत गर्हित कार्यों में लीन, नराधम, जिनकी बुद्धि भ्रमित हो गई है, भगवत्शरण की ओर उन्मुख नहीं होते। इसी से वे आसुरी स्वभाव वाले कहे गए हैं।[4] महाभारत की स्पष्टोक्ति है "ये सारी दृष्ट वस्तुए माया हैं और वे प्रभु द्वारा उत्पन्न हैं। *यद्यपि उस ससार मे प्राप्त गुण, प्रभु मे अवश्य* विद्यमान नहीं है।' होता यह है कि सांसारिक वस्तुओं को देखकर हम उन्हे ही सत्य समझ लेते हैं और सृष्टिकर्ता को भूल जाते हैं। इसी से भगवद्भक्ति और तद्शरणागति का महत्व प्रतिपादित किया गया हैं। भक्ति सूत्रों में भी दुःसग, काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश आदि माया-परिवार के सदस्यों को बुद्धिनाश एवं सर्वनाश का कारण माना गया है।[5] कारण यह है कि ये काम क्रोधादि दुर्गुण पहले तरंग की भांति क्षुद्राकार में आकर भी दु सग से विशाल सागर का रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिये सूत्रकार सदा सत्सग करने तथा दुर्जन सग से दूर रहने का आग्रह करता है[6] एव विधि विना इस माया के त्याग के "परमप्रेम रूपा, अमृत स्वरूपा' भक्ति का उद्रेक होना सम्भव नहीं जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है।[7] कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य के भक्तिकाव्य का निर्माण उपर्युक्त पृष्ठभूमि पर हुआ है जिसमें माया और उस माया परिवार की विभीषिका का दुर्दान्त वर्णन कवि को प्रत्येक पद पर अभीष्ट है। इस सम्बन्ध में हिन्दी के प्रमुख भक्त कवियों की रचनाओं से एतादृश

१—श्रीमद्भा० अ० ६।स्क० ६।२४।
२— „ ३।१५।२४।
३—गी० ७।१४।
४— „ ७।१५।
५—ना० भ० सू० ४४।
६—„ „ „ ४५।
७—„ „ „ ४३।

तत्वों का समाहार प्रस्तुत करते हुए उक्त कथन की व्याप्ति पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम कबीर को लें।

हिन्दी संत कवियों में कबीर की भगवद्भक्ति सराहनीय है। इनकी रचनाओं में अपूर्व तन्मयता और प्रभु चरणों में अनन्य राग का अप्रतिम साफल्य का अद्भुत मिश्रण है। कबीर हरि शरणागति को माया मोह के बंधन से पृथक होने के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। इस शरणागति का रहस्य यह भी है कि काल का प्रहार साधक पर नहीं होता।[1] माया तो एक प्रकार का भ्रम है। भ्रम की टटटी खिसक जाने पर पुनः माया बँधी नहीं रह सकती। तृष्णादि उसके सभी सम्बन्धी भी खाती हो जाती है और शरीर का सारा कपट कदम स्वयमेव निकल जाता है। ऐसी ही स्थिति में हरि की गति समझ में आती है अर्थात् उनका सत् सान्निध्य उपलब्ध होता है। एक तम रस (राम रस) की प्राप्ति होती है जिसके समक्ष जन्म-जन्म के उपयुक्त रस फीके पड़कर विस्मृत हो जाते हैं।[2] अब कबीर कथमपि माया का दास नहीं हो सकता। इस तथ्य से वह भली भाँति अवगत हो गया है कि माया शक्तिसत्ता सार्वकालिक और शाश्वत नहीं है। जिस दिन समस्त सांसारिक वस्तुयें काम पड़ने पर पनाह माँगती उस दिन राम ही एकमात्र सहायक सिद्ध होंगे। अब तक उस राम का नाम नहीं लेने का प्रभाव तो भुगतना ही पड़ रहा है। यम का फंदा अहर्निश सिर पर सवार होकर प्रतीक्षा करता है। अतः कवि अपने अतीत कृत्यों पर पश्चात्ताप कराता है और भक्ति पथ की अनेक बाधाओं का कच्चा चिट्ठा बयान करते हुए अपने को एक अपराधी घोषित करता है। वह माया के चक्कर में पड़ा रह गया, स्वप्न में भी प्रभु का स्मरण नहीं किया। स्मरण करता भी तो कैसे ? माया-चक्र तो सामान्य नहीं। जो एक बार भी इसके समक्ष गया, जन्म जन्मान्तर तक उसमें निरत होना उसके लिए दूभर हो गया। यही कारण है कि इस जगती तल पर भगवान के दास 'एकाध कोई" होते हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह से पृथक होकर प्रभु के चरणों में विमल प्रेम स्थापित करते हैं। उनके लिए तीर्थ, व्रत, जप, तप उपवास आदि का महत्व

१—कबीर ग्रंथावली, पृ० ६०।

२—वही पृष्ठ ७३।

३—,, ,, ८७।

४—,, ,, ८६।

५—,, ,, ६८।

६—कबीर ग्रंथा०, पृ० ११४।

अवलम्ब भी नहीं रहता ।[1] केवल भगवच्चरण उसका एकमात्र अवलम्ब है। प्रभु को छोडकर दूसरे का सहारा उसे स्वीकार नहीं। कबीर का मत है कि माया, ऋषि, मुनि दिगंबर जोगी और वेदपाठी ब्राह्मणों को भी धर पकडती है, वही "हरि भगतिन की चेरी" है। काम, क्रोध लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि माया के अनेक सहचारिया का मिट जाना "हरिभजन" का आवश्यक अंग है।[2] माया से बचने का एक उपाय जो भक्तों को बताया गया है, वह संसार से सवदा उनको विमुख रहना है। जैसे उलटा घडा पानी में डूबता नहीं परन्तु सीधा घडा भरकर डूब जाता है, वैसे ही संसार के सम्मुख मनुष्य माया मे डूब जाता है, पर तु संसार मे विमुख होकर रहने से माया का किंचित प्रभाव नहीं पडता।[3] उपरि विवेचित कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि माया की आत्यंतिक स्थिति ही भक्ति है। मायाकृत अज्ञान भक्ति के प्रकाश मे ही दूर होता है। माया से बचने का हर प्रयत्न भक्त के लिए विधातव्य है। संत कवि रैदास को वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, मद, माया आदि मिलकर लूट रहे है। अत वे सर्वतोभावेन यह स्वीकार करते हैं कि राम के बिना संशय-ग्रंथि छूट नहीं सकती।[4] यह माया मिथ्या है किन्तु सारे संसार को दग्ध कर रही है। नाम जप के द्वारा ही तन का ताप शीतल हो सकता है।[5] भक्त कवि रैदास चिल्लाकर भगवान की शरण में जाना चाहता है। माया से त्राण पाने के लिए अब उसे कोई सहारा नहीं। संसार प्रपंच मे वह व्याकुल पडा हुआ है। अ त मे वह अपनेआप को जगत् प्रवाह में छोड देता है और भगवान से कहता है मैं कुछ नहीं जानता, तुझे ही इसमे उबारना है, मेरा मन तो माया के हाथो बिक ही गया है।[6]

भीखा साहब भी इसी प्रकार से प्रेम करने की बात कहते है क्योंकि माया का प्रपंच सारे संसार को नचा रहा है।[7] नाटक के मतानुसार उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया है कि संसार में माया की छाया है, फलस्वरूप लोग भगवान को देख नहीं पाते। माया

१—वही, पृ० २०६।
२— ,, ,, २८।
३— ,, ,, २८।
४—रैदास की बानी, पद १३, पृ० ८।
५—वही, पद ४४, पृ० २२।
६— ,, ६६, पृ० ६६।
७—पद ७१, पृ० ३५ तथा पृ० ३८ पद ७८।
८—भीखा की बानी, शब्द १, पृ० १।
९—नानकवाणी, पृ० २५६+२६२।

को जलाने के लिए पूजा और प्रेम ही एकमात्र औषधि है।[1] सिक्ख गुरुओं का एक और से कथन है कि इस दुस्तर, अघी और विषम माया से पार पाना अत्यन्त दुष्कर है— दुतर अघ विखम इह माइआ'। किन्तु सत्संगति और भगवत्कृपा से इसमें तरा जा सकता है।[2]

सुन्दरदास की धारणा भी कुछ इसी प्रकार की है। माया मोह से दूर रहने पर ही भक्तियोग को पकड़ा जा सकता है। सन्त जनों की विवाही स्त्री भक्ति है और माया उसकी सेवा करने वाली दासी है सन्तों का सम्बन्ध युवती के साथ अहर्निश रहता है दासी से उनको कुछ लेना देना नहीं रहता।[3] रज्जब की दृष्टि में इस माया ने किसे नहीं मोहा। ब्रह्मा विष्णु और महेश सभी इसके चक्कर में रहे केवल राम ही इससे उबार सकते हैं। धरमदास का शब्दों में माया का गट्ठर इतना भारी हो गया है कि चला नहीं जाता। अन्ततः सबको हटाकर अपने को ले चलने के लिए कवि अपने प्रभु से प्रार्थना करता है। मलूकदास माया की अनेक भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि राम से विमुख होने का ही परिणाम है जो हमें माया के अभिमान में जलना और गर्व में गलना पड़ा है। वे विनती करते हैं हे प्रभो मुझे मजदूरी में भक्ति दीजिए और इस दुस्तर दुरन्त भवसागर से पार कीजिए। माया हमारे हाथों को बहुत मजबूती से पकड़ कर उसमें डुबा रही है।[4] उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि माया और भक्ति की स्थिति प्रथम पश्चाद्द्वितीय की है। जिस प्रकार गणनाक्रम में पहले एक और तदन्तर दो की स्थिति आती है उसी प्रकार संसार में प्रथम माया है और उसके बाद उसमें तरने के लिए भक्ति की आवश्यकता है। अतः भक्ति और माया में यहां सह सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। किन्तु यह सम्बन्ध कारण और कार्य का है। न तो कारण कार्य है और न कार्य कारण ही। किन्तु बिना कारण के कार्य सम्भव नहीं।

कृष्णभक्ति के अनन्य गायक सूर माया की प्रबलता का अनेक रूपों में वर्णन करते हुए प्रभु के चरणों में अविरल भक्ति की बाधाओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं। भगवान का भजन किए बिना नहीं बनता। क्या किया जाय उनकी प्रबल माया करने दे तब न। वह तो जहां उधर केन्द्रण की बात हुई कि वह मन को भरमा दिया करती है और दूसरी दिशा में उन्मुख कर देती है।[5] मन पर तो इस माया

१—व्रजमाधुरी सार, पृ० ६५ तथा पृ० १६०।

२—वही, पृ० ५१३।

३—रूपदास जी की बानी, पृ० २८।

४—मलूकदास की बानी पृ० २४ ३४।

५—स० सा०, पृ० १६।४५।

का अधिकार हर समय रहता है । और माया के स्वत्व म आबद्ध हो जाने के पश्चात् लाभ-हानि की गुंजाइश किसी प्रकार भी समय म नही आती । अत इस ससार मे भगवान् के बिना दूसरा कोई अपना नही है । ससारी जन अपने स्वाथ साधन के लिए कुछ क्षण तक अपनत्व का बाना पहनकर समक्ष आते ह, और वे ही कालान्तर म पुन दिखाई नही पडते ।[1] एक प्रभु ही हैं जो इस ससृति के बीच हानि-लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश म सदा साथ रहते हैं। इसलिए कवि पुनवरि माया मद उन्मत्तविषय के रग म चूडान्त रगे हुए मन को हरि के विमल चरणो मे अपने आपको समर्पित कर देने का सुझाव देता है । माया क अनेक अगो में विषय-वासनाओ का स्थान अन्यतम है । विषय सुख और लिप्सा म यदि एक बार भी रम गया तो वह फिर उसमे से निकलना नही चाहता । हृदय अनेक प्रकार के दुष्चक्रों मे पड जाता है और जितना ही निकलना चाहता है दलदल की भाति उसमे उतना ही उसका शरीर घुसता जाता है । इसक ईश्वर के प्रति की गई अनन्य अनुरक्ति समबाधित होती है । पूव निवेदित यह तथ्य है कि ईश्वर मे अनन्वय प्रम का ही नाम भक्ति है । भगवान् के प्रेम की व्याकुल अवस्था म भी प्रभु क माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति न हो, क्योकि उसके अभाव मे भक्ति लौकिक जार-प्रेम क समान हो जाती है, भक्ति के लिए प्रम की तीव्रता अति आवश्यक ह और है अनन्य भाव भी । विना प्रभु के उत्कट प्रम क इस भक्ति शब्द की व्याप्ति समाप्त हो जाती है । सच्ची भक्ति हृदय की वस्तु होती है । वहाँ भक्ति के साधन विषयो पर उतना ध्यान नही दिया जाता, प्रेम ही प्रधान रहता है । प्रेम भक्ति का साधन, अष्टछाप भक्तकवियो की माया स छूटने और कृष्ण कृपा के बल पर स्वरूपानद पान के लिए है । कवि बार बार अपनी असमर्थता जाहिर करता है, जीव के सबध म घटित अनेक वितृष्णाओ का उद्घाटन करता है तथा प्रभु क चरणो की भूरिश सराहना करता है । एक पद मे सूर कहते हैं ' हे प्रभु आपकी कृपा कटाक्ष से मेरा अज्ञानरूपी अन्धकार सपूर्ण रूप मे विनष्ट हो गया । माया-मोह की निशा, विवेक-प्रकाश होने पर, भाग गई । ज्ञान भास्कर के प्रकाश मे समष्टि दृष्टि खुल गई और सवत्र आत्मरूप दिखाई देने लगा, मेरी अहता ममता समाप्त हो गई, देहाध्यास चला गया । अब इस शरीर के प्रति अल्पासक्ति भी नहीं रह गई है । अब एक ही लालसा है कि मैं दिन रात प्रभु की लीला का ही श्रवण करू ।[2] यहाँ माया रात्रि का अवसान ज्ञान युक्त भक्ति भास्कर क प्रकाश

१—स० सा०, पृ० २७ ।

२—स० सा० द्वि० स्क०, पृ० ३६ ।

से ही संभव माना गया है। समस्त कल्मष पुंजों का प्रक्षालन प्रभु के चरणों के स्पर्श से ही हो जाता है।

"राम भगति चिंतामनि सुन्दर" से "परम प्रकास रूप दिन राती" करने वाले अलंकृति शास्त्र से तुलसीदास ने भी प्रबल अविद्या तमको मिटाने के लिए "बिनु जतन प्रयासा" के ही "मानस" रूपी चिंतामणि को अंतर हृदय में स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। तुलसी की भक्ति के शास्त्रीयता से परे स्थल पर भी हृदय का इतना उन्मुक्त प्रवाह और स्पष्टता अन्यत्र दुर्लभ जान पड़ता है। भक्ति का सांसारिक ऐहिकमूलक वस्तुओं से स्वप्न में भी दुःख नहीं है। उसको किसी से डर भी नहीं है। अनेक मानसरोगों, जिनके कारण जीव दुःख के महासमुद्र में डूब जाता है, से उसे डर नहीं। उसको अगर किसी से डर है तो अपने भगवान् से। उनकी अकृपा होने से ही माया-जनित दुःख व्याप्त जाते हैं। यथा "राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके।'

तुलसी का समस्त काव्य अपने प्रभु की "बड़ाई' और स्वयं की (छोटाई) लघुता से मंडित है। भक्ति में आत्मसमर्पण पहली शर्त है और आत्मसमर्पण में अपनी लघुता और समर्पण के आधारभूत-तत्व (उपास्य) की उच्चता, असामान्यता तथा उसके औदार्य का ध्यान अनिवार्य होता है। प्रभु महान् है इसलिए उसका सेवक सर्व-समक्ष सीना तान कर खड़ा होता है। किन्तु वह दुष्टों के सामने ही अपनी असामान्यता दिखाता है, साधुओं के समक्ष नहीं। ऐसा करने से उसके प्रभु की कीर्ति पर आँच आ सकती है। इसी से भक्त भौतिक वस्तुओं से अपना पिंड छुड़ाना चाहता है वह उनके प्रति आकृष्ट होना नहीं चाहता। जहाँ थोड़ी भी प्रेरणा जगी, आकर्षण बढ़ा कि भक्त प्रभु को पुकारता है "हे माधव। तुम्हारी माया ऐसी दुस्तर है कि कोटि उपाय करके मर जाने पर भी जब तक तुम्हारी दया नहीं होती, इससे पार पा जाना असम्भव ही रहता है। इस माया का यथार्थ रहस्य बहुत सोचने विचारने के बाद भी समझ में नहीं आता।[1] माया से बचने के लिए यद्यपि अनेक मार्ग हैं और वे सत्य भी हैं किन्तु हरि कृपा अज्ञान-नाश के लिए उनमें सर्वश्रेष्ठ है। जैसी व्याधि हो, उसके उपयुक्त औषधि-विशेष के प्रयोग की आवश्यकता होती है। मोह-माया के उन्मूलन के

१—विनय, पृ० १६२, पृ० ११६।

लिए हरि कृपा से बढ़कर दूसरा कुछ नही।[1]कवि उसे व्यावहारिक वस्तु मानता है। जिस प्रकार वास्तविक ज्ञान योग आदि साधन सैद्धांतिक हैं। हरि कृपा माया मोह से तरने के लिए सबसे उत्तम है। माया-मोह से ऊपर उठना इसलिए आवश्यक है क्योकि इसी के वश होकर जीव अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूला देता है और भ्रम के कारण अनेक दारुण दुःखो में भटकने लगता है।

तुलसीजी के अनुसार माया से मुक्ति आवश्यक है। जीवन को सुदृढ़ और सन्मार्ग पर ले जाने के लिये माया स मुक्ति आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। इससे सम्बन्धित पहली बात यह है कि ससार के समस्त गुण दोष, सुख दुःख मोह आदि रामकी माया द्वारा निर्मित हैं। राम की दासी यह माया मिथ्या होने पर भी अतिशय प्रबल हैं, अत माया मुग्ध जीव का निस्तार राम-कृपा मे ही हो सकता है। दूसरे यह कि ससारी लोग इस माया को छोडने पर प्राय प्रस्तुत नही होते, प्रत्युत् उसको अधिकाधिक पकडते जाते हैं। भोजन मेरा है, वस्त्र मेरा, पुत्र मेरा, स्त्री मेरी—इस प्रकार मेरी, मेरा और मेरे म "मैं मैं" कहने वाले पुरुष रूपी बकरे को काल वृक मार डालता है। इस प्रकार पुरुष ममता के प्रभाव से "मेरा-मेरा" करता हुआ माया में लिप्त होता चला जाता है। ससार की समस्त उलझनो का यही कारण है। तीसरे यह कि हम परमात्मा के दास हैं। विषयी जीव अधिकाश ससार म आते ही माया के बधन के कारण परमशक्ति को भूल जाता है। यह माया ही है जो जीव की भगवान् का स्मरण तक करन म विघ्न व्याघात उपस्थित करती है, उनके पास सेवक बनकर रहने की बात, तादात्मकता का अनुभव, तो दूर की बात रही। गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दो म कहते हैं—"नाथ जीव तव माया मोहा" तथा "तव विषय माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पथ भ्रमित अमित दिवस निसि काल कम गुननि भरे।"

इसी प्रबल माया के कारण सूरदास जी को भजन करते नही बनता—

हरि तेरौ भजन कियो न जाइ
कहा करौ तेरी प्रबल माया देति मन भरमाइ॥-सू० सा०

माया एक रमणी है। सुन्दरी पर मुग्ध हो जाना पुरुष की सहज प्रवृत्ति है। ज्ञान-निधान मुनि भी मृगनयनी के चन्द्रवदन को दखते ही विह्वल हो जाते हैं। इसलिए माया से तरना, उसक पजे से दूर हा रहना आवश्यक है। यह पिशाची माया सचमुच उसे बहुत त्रास देती है। जिसक कारण वह काम क्रोध का दास होकर

---

[1] — वि०, पृ० १६७।

उसका लाठी खाता है। इसी प्रकार अन्य कारणों से भी माया से जीव की मुक्ति आवश्यक है। अनन्त काल से सतत् प्रवाहमान भारतीय मनीषा की विचार धारा संक्षिप्त सार यही है कि इस दुर्लङ्घ्य माना से जीव, अपने लिए निर्धारित अनेक मार्गों का अवलम्ब ग्रहण कर शीघ्र ही पार कर जाय। फिर भी माया मुग्ध जीव का निस्तार रामकृपा से ही संभव है। क्योंकि माया के आश्रय वे ही हैं—जिसकी वन्दरिया वही नचाता है। "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" के द्वारा *गीताकार ने भी उक्त तथ्य को प्रमाणित किया है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि* माया भगवान् की है, यद्यपि ऐसा कहने में भी उनकी महानता महिमा द्योतित होती है, और वह उनकी सामर्थ्य के अधीन है। शरणागत जन माया के बन्धन से जो शीघ्र निर्गत हो जाते हैं, इसके पीछे इसी कारण की निहिति है। जब तक जीव भगवान् का नहीं होता, अपने को सर्वात्मना सबभाव से भगवान् पर अपने आपको न्योछावर नहीं करता, जब तक माया पर उसका कोई वश चलता ही नहीं। जो मायापति है, वही शक्तिमान स्वामी माया निवारण कर सकता है। यदि भक्ति जीव को माया के पाश से मुक्त कर देती है तो भक्ति भावना भी उसी की कृपा का फल है।

उपरिलिखित कथन से यह प्रमाणित होता है कि मध्ययुगीन भक्ति की पृष्ठभूमि में माया का अविच्छेद्य संबंध स्वीकृत है। यद्यपि श्रीमद्भागवत गीता तथा भक्तिसूत्रों में भी इस प्रकार के विचारों की निहिति प्राप्तव्य है। अंधकार-युक्त प्रकोष्ठ में जिस प्रकार प्रकाश की गरिमा देखने को मिलती है। श्याम घन घमंडों के मध्य से हम लिखित विद्युत जिस प्रकार मनोहारी छटा उपस्थित कर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार माया की तमिश्रमयता में भक्ति का उज्जवल प्रकाश सदीप्त हुआ करता है। मध्ययुगीन भक्तों ने माया और भक्ति को लेकर बहुत से रूपकों का भी आयोजन किया है। "माया स्त्री जाति की है और भक्ति भी। अतः माया आकर्षण भक्ति पर नहीं हुआ करता।" आदि।

मध्ययुग में प्रायः सभी सन्त भक्तों ने भक्ति के साथ भजन करने के क्रम में, माया का नाम लिया है। ऐसा भासित होता है *जैसे एक रोग हो और दूसरा उसकी दवा। एक यदि कारण है तो दूसरा तदुत्पन्न कार्य।* माया और भक्ति, इस प्रकार दोनों एक दूसरे की परवर्ती स्थिति ठहरते हैं। भक्ति करने में माया बाधा पहुँचाती है। इसका एक अर्थ यह भी है कि उसी से भक्ति करने का प्रोत्साहन मिलता है।

दु ख मे भगवद्‌जन का अत्यधिक क्षेत्र विस्तार होता है—"बलिहारी वा दु ख की पल पल नाम रटाय।" माया है इसलिए "भगति" करना अनिवार्य है। दु ख है इसलिए रोग है और रोग है इसलिए औषधि प्रयोग और उस क्षेत्र में सधान की आवश्यकता है।

इस प्रकार भक्ति की पृष्ठभूमि मे माया का इतना महद्‌दान है, इस दृष्टि से भक्त कवियों का मूल्याकन नहीं हुआ है। माया की दृष्टि से इस पर कदाचित विचार ही नही हुआ है।

—•—

तृतीय अध्याय

अवतारवाद और माया

अवतारवाद का सबध "अवतार" से है। "अवतार" शब्द के विभिन्न अर्थ हैं १-तीर्थ, २-वापी, ३-पुष्करिणी, कूपादि का सोपान कुए वगैरह की सीढ़ी ४ प्रादुर्भाव, अवतरण ५-देवताओं के अंशोद्भव अवतार।[1] इस प्रसंग मे "अवतार" का सबध प्रादुर्भाव या अवतरण से है। भागवतपुराण में "व्यक्ति" शब्द का संनिवेश इसी विशिष्ट अर्थ में हुआ है। अंग्रेजी में इसके लिए "इनकारनेशन" शब्द का प्रयोग होता है। भगवान् का इस भौतिक जगत् में पशु मानवादि के रूप में प्रकट होना ही अवतार है। अवतार की चर्चा करते हुए म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने लिखा है—"जगत् मे परमात्मा आविर्भूत होता है सो अपने स्वस्वरूप स्वधाम से जगत् में उतरता है। अव्यय पुरुष ही पर रूप मे उतरकर आया है। इसलिए उसे अवतार कहते हैं।

साहित्यकोश के अनुसार "अवतरणमवतार" (उच्च स्थान से निम्नस्थान पर उतरना ही अवतरण या अवतार है) भगवान का वैकुण्ठधाम से भूलोक पर लीलादि के निमित्त अवतार होता है अततोगत्वा "अवतार" शब्द का मूल व्युत्पत्त्यर्थ उतरना ही सिद्ध होता है। भक्त का भगवान सर्वव्यापक होते हुए भी वैकुंठ सरीखे विशिष्ट धाम में निवास करता है, जिसकी कल्पना भूलोक के ऊपर की गई है। आवश्यकता पड़ने पर भक्त के कल्याण के लिए भगवान् भूतल पर उतर आता है। वैकुंठ से जगत् मे भगवान का आगमन उसका अवतार है।[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "अवतारो से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका श्रवण

१—सूरवर्णित रासलीला का दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय अध्ययन—डा० राजनारायण, पृ० ४१६।

२—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० ६६।

३—तुलसी दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानु सिंह, पृ० ६५।

और मनन भक्ति का प्रधान साधन है भक्ति के लिए भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतार उस सम्बन्ध के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के प्राय सभी धार्मिक सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में अवतार की कल्पना अवश्य है।"[1] इस प्रकार "अवतार"[2] के मूल में अवतरण का ही अर्थ मूल रूप से सम्प्रयोजित है जो अपने विकास की चरम परिणति का ही परिणाम है।

शब्द प्रयोग की दृष्टि से वैदिक-साहित्य में "अवतार" शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु "अवतृ" से बनने वाले "अवतारी" और "अवतार" शब्दों के प्रयोग संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलते हैं। ऋग्वेद ६,२५, २ में "अवतारी" शब्द का प्रयोग हुआ है। सायण ने 'अवतारी" का तात्पर्य "अन्तराय" "विघ्न" या संकट से लिया है। अवतर" शब्द का पुन प्रयोग शुक्ल यजुर्वेद में हुआ है। इस मन्त्र में प्रयुक्त "अवतर प्राय उतरने के अर्थ में गृहीत हुआ है।

अंग्रेज टीकाकार ग्रिफिथ ने संभवत 'अवतर' के ही अर्थ में अंग्रेजी *Descend* शब्द का प्रयोग किया है—*Descend upon the earth, the reel rivers Then art the gall o agni of the waters* अवतारवादी साहित्य में अवतार का अर्थ उतरना भी किया जाता रहा है ब्राम्ह्मणों में अवतार शब्द का अस्तित्व विरल जान पड़ता है। संहिताओं और ब्राह्मणों के अनन्तर पाणिनि की अष्टाध्यायी ३, ३, १२० में "अवेस्तृन्नोधन्" सूत्र मिलता है। पाणिनि ने अवतार को "अवतार कूपाद" के रूप में उदाहृत किया है। यहाँ "अवतार" का अर्थ कुए में उतरने के अर्थ में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि काल में "अवतार" का प्रयोग उतरने के अर्थ में होता रहा है।[3]

हिन्दी विश्वकोषकार श्री नगेन्द्रनाथ वसु "अवतार" शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि सूत्र के आधार पर बतलाते हैं। इनके अनुसार ऊपर से नीचे आना, उतरना, पार होना, शरीर धारण करना, जन्म ग्रहण करना, प्रतिकृति, नकल, प्रादुर्भाव अवतरण और अंशोद्भव के लिए "अवतार" शब्द का प्रयोग होता रहा है।[4] "अवतार" शब्द का एक व्यापक अर्थ है—नये रूप में आविर्भाव—"अवतार

१—हिंदी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६२।

२—भारतीय दर्शन—डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ५०२।

३—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डा० कपिलदेव पांडेय,।

४—हिंदी विश्वकोष—नगेन्द्रनाथ वसु जी २, पृ० १०६।

आविर्भाव' (रघुवंश ५।२४ पर मल्लिनाथ की संजीविनी टीका)।[1] 'महाभारत' के हरिवंश पर्व में अवतार के स्थान पर "आविर्भाव" शब्द प्रयुक्त किया गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमने शब्द की दृष्टि से "अवतार" की प्रयुक्ति का अध्ययन किया है। अब इस भावना के सर्वोत्कृष्ट विकास की सरणि निर्धारित करेंगे।

डॉ० कामिल बुल्के ने अपने शोध-प्रबन्ध में एक अवधुत मत के रूप में व्यक्त किया है कि अवतारवाद की भावना पहले पहल शतपथ ब्राह्मण में मिलती है। प्रारंभ में विष्णु की भावना प्रजापति की इस संबंध में अधिक महत्व दिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने ही मत्स्य, कूर्म, तथा वाराह का अवतार लिया था।[2] परन्तु अवतारों के बीज वैदिक साहित्य में भी खोजे गए हैं।[3] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है—"अवतारों के संबंध में यह बात जानने योग्य है कि उनके कुछ हल्के से उल्लेख प्राचीन वैदिक साहित्य में भी पाए जाते हैं किन्तु उसका व्यवस्थित वर्गीकरण और पल्लवित उपाख्यानों द्वारा उनका रूप-सज्जा-न्यास भागवत धर्म के अन्तर्गत ही किया गया। उदाहरण के लिए त्रिविक्रम विष्णु और वामन की कल्पना ऋग्वेद में ही पाई जाती है—"इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा नि धे पदम्' मंत्र में विष्णु के तीन चरणों का उल्लेख है। दुधर्ष गोपा विष्णु के तीन चरण न्यास के द्वारा द्युलोक और पृथ्वी के बीच में सब धर्मों को धारण किया (ऋग्वेद) वहाँ विष्णु को बृहच्छरीर और इन्द्र का सदा साथ रहने वाला सखा कहा है "इन्द्रस्य युज्य सखा"। इसी प्रकार यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में जिस पुरुष का वर्णन है वह भागवत के अनुसार "आद्योऽवतार पुरुष परस्य" का ही अवतारी पुरुष है। किन्तु अवतार भावना का एक विकास प्राप्त रूप भागवतों की ही देन है। डॉ० बुल्के ने यह लिखकर भी कि अवतारवाद की भावना शतपथ ब्राह्मण में मिलती है, निश्चय दिया है कि अवतार ब्राह्मण—साहित्य में तो विद्यमान था लेकिन न तो अवतारों की कोई विशेष पूजा की जाती थी और न इसमें विष्णु का ही प्राधान्य था। कृष्णावतार

१—तुलसी दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानु सिंह, पृ० ६७।
२—रामकथा—डा० कामिल बुल्के, पृ० १४३।
३—हिंदी साहित्य कोश, पृ० ६६।
४—मार्कण्डेय पुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ४३।
५—भक्ति का विकास—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३३३।

से साथ-साथ अवतारवाद के विकास में महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। इस तरह उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अवतारवाद भागवतधर्म की ही देन है।[1] इसके प्राचीन रूप का प्रचार पांचरात्रतन्त्र द्वारा सम्पन्न हुआ और परवर्ती रूप के प्रतिष्ठाता भगवान श्रीकृष्ण माने गए। वैसे रामायण मे 'स्वयं भूर्देवने सह" लिखकर अवतार की ही चर्चा की गई है। महाभारत के अनुसार "मत्स्य" ब्रह्मा का अवतार था।[2] और वह विष्णु के श्रेष्ठ अवतार माने जाने पर भी अवमान्य नही हुआ। रामायण के अवतारवादी अंशों को डॉ० बुल्के प्रक्षिप्त मानते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि बाद में अवतारवादी भावना का विकास हुआ। महाभारत के अरण्यपर्व मे तीन स्थलों पर रामावतार का स्पष्ट उल्लेख हुआ है इसके अतिरिक्त शांतिपर्व तथा स्वर्गारोहण पर्व में भी रामावतार की चर्चा है—शांतिपर्व में हरि अपने दस अवतारो का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सधो तु समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पति ॥[3]

पुराणों में विष्णु के अनेक अवतारो की कल्पना की गई है, यद्यपि कारणरूप उनका पृष्ठाधार गीता के अवतार विभावन के समशील ही है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के नौवे अध्याय में भगवान् के अवतारों का वर्णन है। राजा निमि के "श्रीहरि ने स्वच्छा से धारण किए हुए अपने जिन जिन अवतारो से जो-जो लीलाएँ की हैं, कर रहे है, अथवा करेंगे सब हमसे कहिए"—ऐसा कहने पर "दुमिल" जी हयग्रीव अवतार मत्स्य, हरि, नृसिंह, वामन, परशु, राम, कृष्ण और आगे होने वाले बुद्धावतार आदि अवतारो का परिचय देते हैं।[4] पद्मपुराण के पाताल खण्ड (५।८-१०) मे यह कहा गया है कि नाथ जब जब दानवी शक्तियाँ यहाँ हमे दुःख देने लगें तत्र-तत्र आप इस पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करें। विष्णुपुराण मे कृष्ण को विष्णु का अंशावतार कहा गया है। हरिवंश में कृष्ण देवकी के गर्भ से उत्पन्न स्वयं विष्णु हैं। ब्रह्मपुराण के कृष्ण स्वयं विष्णु के अवतार हैं। अपने शेष नामक अंश से विष्णु बलराम के रूप मे भी अवतरित होते हैं। इस प्रकार सृष्टि की रचना एवं उसकी सत्स्थापना ही भगवान् के अवतार का एकमात्र उद्देश्य है। नारायण श्रीकृष्ण ने

१—भक्ति का विकास—डा० मुन्शीराम शर्मा पृ० १३१।
२—रामकथा—डा० कामिल बुल्के, पृ० १४४।
३—वही, पृ० ४५।
४—श्रीमद्भागवतपुराण—एकादश स्कंध, चौथा अध्याय १७-२३ श्लोक।

उन्नीसवें में बलराम एवं बीसवें में पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार लिया है। भगवान के विभिन्न अवतारों में स्वयं श्रीकृष्ण अवतारी हैं। नारदीय पुराण में राम-लक्ष्मणादि नारायण सत्यवादि के अवतार बताए गए हैं।[1] स्कन्दपुराण के अवतोखंड में हनुमान को रुद्र का अवतार माना गया है। शिवमहापुराण के सतीखंड में सती द्वारा राम की परीक्षा तथा राम का सती से कहना कि शंकर की आज्ञा से मैंने अवतार लिया है। इस प्रकार अवतारवाद की भावना का एक विकसमान रूप में हम मिलती है किन्तु कहा जाता है कि बुद्ध को दशवतारों के समान गणना होने के पश्चात् ही अवतारवाद का प्रचलन हुआ और पुराणों ने इसे पुरस्सर तथा प्रचारित किया।[2] अतः अवतारवाद के इस विकास का कारण प्रायः बौद्ध धर्म से जोड़ा जाता है। बौद्ध धर्म तथा भागवतधर्म दोनों जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड तथा यज्ञ की प्रधानता की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुए, उनके विकास को देखकर ब्राह्मणों ने भी कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया।[4] इससे वैदिक साहित्य के अन्य अवतारों के कार्य भी उन्हीं विष्णु में ही आरोपित किए जाने लगे। यह प्रोत्साहन इस प्रकार मिला कि अब अवतारों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी और नामों के विषय में भी मतभेद हो गया। पुराणों में विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना की गई। श्रीमद्भागवत में तीन स्थलों पर अवतारों का वर्णन है। प्रथम स्कन्ध में २२ अवतारों का, द्वितीय में २३ और एकादश स्कन्ध में १६ अवतारों का वर्णन है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में सूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण ६ अवतार लिखे हैं। हरिवंशपुराणों में भी यही छह अवतार हैं। वायुपुराण, महाभारत के ६ अवतारों में दत्तात्रेय, पवन, वेदव्यास और कल्कि के नाम जोड़कर इसकी संख्या १० कर देता है। "अमरकोश" बुद्ध के पश्चात् चतुर्व्यूह के देवों का नाम देता है। इस प्रकार अवतारवाद को ऊर्ध्वमुखी भावना की निर्गुणियों ने यद्यपि परावर्तित कर समाप्त कर देना चाहा जैसा कि उन्होंने पुराणवर्णित लीलाओं पर सर्वथा अनास्था प्रकट की, तथापि कृष्णावतार को लेकर कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने तथा रामावतार को लेकर श्रीमत् तुलसीदास जी ने इसे पुनर्जीवित किया है।[6]

१—मध्ययुगीन कृष्ण कथा का पौराणिक आधार—डॉ० शशिकान्त मिश्र पृ० १२१
२—रामकथा—डॉ० कामिल बुल्के, पृ० १४५।
३—साहित्यकोश, पृ० ६६।
४—रामकथा—डा० कामिल बुल्के, पृ० १४५।
५—भक्ति का विकास —डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ३३४।
६—तुलसी का मायावाद—मन्दकिशोर तिवारी, पृ० १०४।

इस प्रसग में यह ध्यातव्य है कि आगे चलकर मध्ययुग के सगुण भक्तों म जहा विष्णु भगवान के अवतारों की भक्ति और उपासना का प्रचार था वहीं कालान्तर मे भक्तों के भी अवतार लने की बात प्रसिद्ध हो चली थी और मध्ययुग के प्राय सभी भक्त प्राचीन भक्तों और महात्माओं के अवतार माने जाने लगे। तुलसीदास महामुनि वाल्मीकि के, सूरसागर के कर्ता सूरदास कृष्णसखा उद्धव के, मीराबाई राधा की, और स्वामी हरिदास ललिता सखी के अवतार माने जाने लगे।[1] इन चेतन भक्तों के अतिरिक्त जड मुरली का भी अवतार लना प्रसिद्ध हो गया था। स्वामी हित हरिवंश भगवान् की वशी के अवतार माने गये थे। वैश्वानर संहिता म "रामानन्द स्वय राम प्रादुर्भूतो महीतले' लिखकर उ ह भगवान राम का अवतार उद्घोषित किया। "भक्तमाल" मे नाभादास के द्वारा रामानन्द की उपमा रघुनाथ से दी गई। "श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वितीय सेतु जग तरन कियो।' परन्तु कालान्तर मे यही उपमा अवतारी रूप म बदल गई। मीरा के सम्बन्ध मे नाभादास ने गोपियों से उपमा दी और कालान्तर म मीरा गोपी की अवतार प्रसिद्ध हो गई।

अवतार की भावना को भक्त विशेष क नाम से भी प्रेरणा मिली है। नरसी मेहता का नाम नरसिंह था, अस्तु उन्हें नर-रूप सिंह का अवतार माना गया। नाम के साम्य पर ही शकराचार्य भगवान् शकर के, श्री रामानुजाचार्य रामानुज लक्ष्मण के, तथा रामानन्द भगवान् राम के अवतार माने गये। इसी प्रकार सम्प्रदाय की मान्यता क अनुसार अनतानद ब्रह्मा के, सुरसुरानद शकर के, नरहर्यानन्द सनत्कुमार के पीपा मनु के, कबीर प्रहलाद के, सेन नाई भीष्म पितामह के, धना जाट राजा बलि के, रैदास यमराज के अवतार माने गए।[2] इसके अतिरिक्त जायसी ने अपने ज म को ही एक अवतार के रूप म ग्रहण किया—"भा अवतार मोर नौ सदी।" आधुनिक युग म गाधीजी को भी लोगो ने अवतार क रूप मे ही मान्यता दी है।

उपर्युक्त अध्ययन में हमने "अवतार,' शब्द के प्रथम प्रयोग, उसके अर्थ, उसकी परिभाषा, तत्तत् भावना का विकास, उसकी सख्या तथा उसके विकृत रूपों का दिग्दर्शन कराया है अब अपने आलोच्य "माया" को समक्ष रखकर यह सिद्ध करना हमारा अभिप्रेत होगा कि अवतार भावना के इस विकास मे माया का क्या योगदान रहा है? इस दृष्टि से माया का महत्व विचारणीय है। अवतार के सदृश

१—रामानन्द की हिंदी रचनाए—डा० पी० द० बडथ्वाल, पृ० ४६।

२—वही, पृ० ४७।

३—वही, पृ० ४६।

इसकी भी अपनी विस्तृत परपरा है जो पुराणों से होती हुई गीता क प्रसिद्ध अवतार प्रयोजन के हेतु-वैशिष्टय स सम्पृक्त होकर मध्यकालीन सगुण भक्ति-साहित्य म सवप्रमुख स्वर बनकर रह गई है। यह अवतार ही है जो ऐहिक और आयुष्मिक दोनों क्षेत्रों मे मनुष्य की अमान अवना तथा त्रिविध ताप का सहरण कर "सत्य धम" क भातृत्व पक्ष को निराकृत करता है। मानव-हृदय का परम बुभुता भक्ति, जो सदा अपने परमेश्वर आराध्य के चरणों में अपने को समर्पित करने म ही "न स्वग न पुनभवम्" की सदिच्छा प्रकट करती है, की अकल्पनीय परितुष्टि युक्त कल्पना इसी अवतार अथवा अवतारी पुरुष द्वारा ही समव बन पाई है। इस प्रकार जिस देवता विशेष के अवतार धारण करन की धारणा अपन यहा बद्धमूल है उससे हम उसके स्वग स मत्युलोक म आने की बात ही मिलती है। हिंदू धम के पुराण शास्त्रों क अनुसार जब कभी रावण या कस जैसे पापिष्ठ लाग प्रभुता प्राप्त कर लते हैं तब इन्द्र ब्रह्मादि नतिक व्यवस्था के प्रतिनिधि, भूमिके प्रतिनिधि समत स्वग के दरबार म जाकर क्रन्दन करते हैं और ससार के किसी मुक्तिदाता की माग उपस्थित करत हैं। ईश्वर की साधारण रूप आत्माभिव्यक्ति अधिक बलशाली हो जाती है जबकि ससार की व्यवस्था अधिक पापिष्ठ हो जाती है। अवतार से तात्पय ईश्वर का मनुष्य शरीर धारण करने से है। यद्यपि प्रत्येक चेतन प्राणी में ईश्वर उतर आता है किन्तु यह अभिव्यक्ति अप्रकट ही रहती है। मनुष्य भी अवतार क ही समान है यदि वह ससार की माया का उल्लघन करके अपनी अपूणता से ऊपर उठ सके। फिर भी साधारण रूप मे ईश्वर एक विशेष प्रयोजन को लेकर इस पृथ्वी पर अपने का सीमा के अन्दर बाधकर अवतरित होता है और उस सीमित रूप म भी मान की पूणता रखता है। ईसा, मुहम्मद अथवा बुद्ध के अवतारी सिद्धि का पुनरावृत्ति अन्य जीवन म भी सहजतया हो सकती है यद्यपि उसके विकास की प्रक्रिया म कई श्रेणियों का योगदान अन्तभूत है। मनुष्य योनि स नीचे जन्तु योनि के स्तर पर मत्स्य कच्छपादि स प्रारभ होकर यह प्रक्रिया मनुष्य जगत् में सक्रमण करती हुई वामन वतार तक पहुचती है और तब एक तरफ परशुराम का उग्रतापूण मनुष्यमाता अवतार और दूसरी तरफ पुरुषोत्तम राम का गृहस्थ जीवन की पवित्रता स आवर्जित अनवद्य प्रममय जीवन का आदश रूप दो ध्रुवान्तो का अवतारी जीवन प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य अवतार-पुरुषों के कायकलाप भी पुराणों म वचस्वता-प्राप्त हैं जिनम दुष्टदलन द्वारा भू भार-हरण का विभावन ही सवप्रमुख रहा है।

इस अवतार धारण म माया का स्थान नि सन्देह लक्ष्य है। यह माया ईश्वर का एक अलौकिक शक्ति है जिसके द्वारा वह उद्भव, स्थिति और प्रलय को

सभव करता है। सृष्टि-उद्भव के अतिरिक्त पृथ्वी पर प्रकट होने के लिए भी उसे माया का आश्रय ग्रहण करना पडता है। इस स्थान पर अवतारवाद के अत्य त निकट मायावाद की स्थिति स्वीकार करनी पडती है। इस भावना न ब्रह्म के प्रकटीकरण सबधी जिसका विशेष तथा तत्सम्बन्धित अनेक शकाओ को सहजतया परिशात करन का श्लाघ्यप्रयास किया है। इस दृष्टि से यह प्रश्न दर्शनशास्त्र के क्षेत्र विशेष स साहित्य के क्षेत्र म कम वस्तु नही ठहरता यह इसलिए भी कि अवतारवाद प्रच्छन्न रूप से साहित्य का विषय रहा है। पुराणो की अवतार-भावना तथा हमारे आलोच्य मध्ययुगीन भक्ति काल की सारी पृष्ठभूमि इस भावना के, परमपुरुष के गुणानुवाद से ही विनिर्मित एव झकृत है। यदि सतो ने प्रत्याख्यान करते हुए इसके प्रति खड नात्मक वृत्ति का उत्साह सौरभ बिखराया है तब भी वे वहा प्रकारातर से उसकी स्थिति को स्वीकार करते हुए ही ऐसा करते हैं। अत अवतार पुरुष का मनुष्य सदृश जन धारण काय माया द्वारा सम्पन्न होता है। वह इसी शक्ति से नवजात शिशु के समान रुदन क्रन्दन करता है तथा जीवन- पय त तक असाधारण व्यक्तित्व से मानवोचित काय करता है।

जहाँ अवतारवाद का सम्बन्ध माया उत्पन्न होने या विविध रूप धारण करने सेहै वहा इस प्रवृत्ति का विशेष सम्ब ध सवप्रथम वदिक इ द्र से लक्षित किया जा सकता है। ऋ० ६, ४०, १८ क एक मत्र म इन्द्र के माया द्वारा रूप ग्रहण करने की चर्चा हुई है।[1] वृ० उ० २ ५, १९ म पुन उसका उल्लेख हुआ है। "इन्द्रो मायाभि पुरुरुप ईयते' इन्द्र अपनी माया शक्ति स ही अनेक रूप धारण करता है। यहा मत्र मे अनक रूप धारण करना वाक्य अवधारणीय है। अवतारी पुरुष भी जिस रूप मे अपने बुनियादी रूप मे नही है वह किसी हेतु अथवा प्रयोजन से अपर रूप धारण करता है। परवर्ती कवियो के 'माया मानुष रुपिया" आदि वाक्यो म तद्वत विचार का ही प्रस्तावित रूप मिलता है। गीता म अवतारवाद के जिस वाग्मय प्राणी सद्धा तिक रूप की चर्चा हुई है उसम माया का भी विशिष्ट स्थान परिलक्षित होता है। "सभवामि युगे युगे' की पृष्ठभूमि का निर्माण यन्त्रा रुढानि मायया" के आधार पर ही हुआ है। तब से लेकर आलोच्य काल तक माया के विविध भेदों और रूपो का विस्तार होता रहा है। माया के माध्यम से आविर्भाव की विचारणा उपनिषदों म भी मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जिस उपयु क्त मायात्मक रूप का उल्लेख हुआ है उसका विनियोग स्वर "श्वेताश्वतर के ४, ९, और ४, १० में माया-द्वारा महेश्वर के प्रकट होने की बात मिलती है। केनोपनिषद्

१—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डा० कपिलदेव पाडेय, पृ० ११।

दिनों बौद्ध-साहित्य में मायावाद का प्राबल्य हो गया था। बोधिचर्यावतार में प्रज्ञाकरमति ने तथागत बुद्ध के अवतारों को प्रयोजन विशिष्ट होने के कारण पारमार्थिक न मानकर मायात्मक माना। इन्होंने सभी धर्मों के साथ तथागत बुद्धों को समाहित करके दो वर्गों में विभक्त किया है। इनके कथनानुसार सभी धर्मों के देवपुत्र मायोपम या स्वप्नोपम दो प्रकार के होते हैं। लंकावतार सूत्र में माया और स्वप्न की चर्चा तो हुई है किन्तु तथागत बुद्ध के यहाँ ज्ञानात्मक और मायात्मक दो भेद भी माने गए हैं। पर मायावाद का निराकरण अपने अवतारी उपास्यों की सुरक्षा के लिए केवल वैष्णवाचार्यों का ही नहीं करना पड़ा था अपितु बौद्ध विचारकों के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। मायावाद को लेकर सामान्य रूप से यह प्रश्न उठता है कि यदि भगवान मायोपम है तो उसकी पूजा और अर्चना भी काल्पनिक है। प्रज्ञाकरमति के अनुसार यदि वह मायोपम है तो सत्व पुनः जन्म कैसे लेता और मृत कैसे होता है? माया पुरुष तो विनष्ट होकर उत्पन्न नहीं होता। अन्ततः बौद्ध विचारकों ने भी इस समस्या का समाधान वही निकाला जो प्रायः ब्रह्म के लिए "ब्रह्मसूत्र" में तथा निर्गुण ब्रह्म के सगुणभाव के लिए मध्यकालीन वैष्णवाचार्यों ने निकाला था। ब्रह्म सूत्रकार एवं वैष्णवाचार्यों ने ब्रह्म की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति को नटवत् या लीलात्मक माना था। इनके मतानुसार रंगभूमि में नट के सदृश व नाना रूपों में अवतरित होते हैं। लंकावतारसूत्र में यह कहा गया है कि सत्व की सत्ता होने के कारण माया भी असत्य नहीं है। सभी पदार्थ माया के स्वभाव से मुक्त हैं। ये मायिक होने के कारण रूपान्तरित होते हैं किन्तु वे असत्य नहीं हैं। लं० व० सूत्र ९५। इस प्रकार उपास्य तथागत बुद्ध के अवतार या विग्रह रूपों को माया से विभक्त करने के प्रयत्न होते रहे हैं। इससे यह सिद्ध है कि बौद्ध सम्प्रदाय और साहित्य में उपास्यवादी अवतारवाद की भावना का स्पष्ट स्वर विद्यमान है।[1] पश्चात् सिद्ध सरह ने निष्कामवादी अवतारण या निर्माणों का स्वीकार किया है। किन्तु वे सब रूप इनकी दृष्टि में मायात्मक हैं। मायोपम रूप की चर्चा करते हुए उनका कथन है कि विनय मार्ग में आरूढ़ बलवाले शास्ता अवतारी बोधिसत्व के जिस मार्ग की चर्चा उन्होंने की वह माया विशिष्ट होने के कारण आलम्बनरहित है। (दोहा कोश)।

सिद्ध साहित्य में सभी बुद्ध भावाभावयुक्त मायावत् माने जाते रहे हैं। बौद्ध

१—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डॉ० कपिलदेव पांडेय, पृ० ७०।

धर्म के नाना सम्प्रदायों में प्रचार होने पर बुद्ध का ऐतिहासिक जन्म भी मायिक या लीलात्मक मान्य हुआ है। 'ज्ञानसिद्धि' में बुद्ध जीवन के व्यापारों को "क्रीडा मात्र" बताया गया है। विष्णु के अवतार कार्यों के सदृश मायिक भगवान बुद्ध भी अपने पराक्रम से सभी लोकों को मर्दित करते हैं। वे अत्यन्त दुष्ट सत्त्वों का विशोधन करते हैं। माया से छलने वाले मार से भी वे सभी लोकों को अभयदान करते हैं। इस प्रकार वज्रयानी साहित्य में आदि ब्रह्म का जो ब्रह्म जो रूप प्रचलित हुआ है वह मायिक और लीलात्मक होने के कारण पूर्णरूप से अवतार रूप रहा है।

शक्ति में अवतारत्व की कल्पना में माया और शिव के समावेश से एक प्रकार के गुणात्मक अवतारवाद का परिचय दिया गया है। शिवसंहिता के अनुसार पुरुष ने स्वयं सृष्टि एवं प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की। उनकी इच्छा अविद्या मानी गई है। जिसमें युक्त होने पर शुद्ध ब्रह्म आकाश रूप आविर्भूत होता है। पुनः वहीं विक्षेप और आवरण दो प्रकार की शक्तियों से युक्त माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। यही माया आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म को छिपाए रखती है और विक्षेप शक्ति द्वारा ब्रह्म को विश्व रूप में प्रकट करती है।[1] भागवत में मान्य ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आदि गुणावतारों के इसी त्रिगुणात्मिका माया से संयुक्त होने के कारण "गोरखबानी" में इन्हें माया द्वारा छला गया बताया गया है। इस माया में जब तमोगुण का आधिक्य होता है, तो वह दुर्गारूप में आविर्भूत होता है और ईश्वर, महादेव द्वारा शासित होता है। सत्वगुण के आधिक्य होने पर यही लक्ष्मी रूप में प्रकट होती है और विष्णु रूप चैतन्य द्वारा शासित होती है। यहाँ माया और शिव के समावेश से प्राप्त अवतारवाद का परिचय दिया गया है।

कौल साहित्य में शिव को अकुल और शक्ति को कुल कहा गया है तथा सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में शिव और शक्ति का स्फुरण ५ रूपों में माना गया है। फलतः पाँचों शिव ५ प्रकार की शक्तियों से युक्त रहते हैं।

यों तो इन पाँचों शक्तियों के पाँच कार्य बतलाए गए हैं। परन्तु इनमें निजा शक्ति का सम्बन्ध उस अपर शिव की इच्छा या संकल्प से प्रतीत होता है, जो गीता और भागवत में माया द्वारा प्रादुर्भूत आदि रूप को शतशः अवतारों का बीज कहा गया है। जो भागवत (भागवत के अनुसार व्यक्त होने वाला रूप मायिक या त्रिगुणात्मक है) में प्रतिपादित ईश्वर के सदृश एक बार विश्व रूप में और फिर भक्तों

१—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डा० कपिलदेव पांडेय, पृ० ११६।

पर अनुग्रह करने के लिए अवतार रूप मे प्रकट हुआ करता है।

अध्यात्म रामायण मे राम का ब्रह्मत्व "पगे पगे" स्वीकृत है। वे भूभार हरण के लिए मायामानव रूप से अवतार लेकर राक्षसो का नाश करने वाले हैं। उपयुक्त रामायण मे अनेक स्थलो पर "पृथ्वीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्यय" की चर्चा हुई है। किन्तु सन्तों का दृष्टिकोण उतना एकबारगी माया द्वारा अवतार धारण किए जाने के पक्ष मे नहीं है। यद्यपि माया की व्यावहारिक विभीषिका से वे अनात अवश्य हैं और वागतिक जनों को उससे काय कलापो से सदा सावधान होने की सदुपदेश-समवलित सत्प्रेरणा देते हैं सन्तों ने अखिल सृष्टि का आविर्भाव माया के द्वारा माना है। सगुण सतो की यह मान्यता कि माया विशिष्ट ब्रह्म ही अवतार के रूप में सम्पूज्य होता है, उक्त सरणि की समानान्तर व्याख्या उपस्थित करता है। सगुणोपासक भक्तो को माया दिव्य शक्ति के रूप में सम्भाव्य है और अवदात श्रद्धा की वस्तु है। किन्तु सतो के मध्य वह जीव, जगत् तथा ब्रह्म के मध्य भ्रमोत्पादक व्यवधान रूप स्वीकृत है। यद्यपि अवतार के सम्बन्ध मे कुछ सतो ने अपना विधेयात्मक विचार भी प्रस्तुत किया है। वास्तव मे अवतारों को माया के अन्तर्गत मानना सैद्धान्तिक दृष्टि से अग्राह्य नहीं। ईश्वर त्रिदेव अवतार सोपाधिक होने के कारण सब माया से सन्निविष्ट हैं। नानकादि सन्तो ने स्फुटशब्दो मे त्रिदेव को "माया का आत्मज" अभिधान दिया है।

जगजीवनदास का कथन है "राम ने अवतार लेकर भक्तो का काम सवारा और उनके लिए दु ख उठाया"। पलटू दास ने सबसे बडा ब्रह्म को, उसके बाद नाम को और उसके पश्चात् दस अवतारो को मानकर अवतार का वास्तविक महत्व स्वीकार किया है क्योंकि साधना दृष्टि से कहा गया है (और इस कथन से अवतार का स्थान ब्रह्म के अनन्तर आता है) निर्गुण सगुण नाम सत।[1] "रज्जब माया ब्रह्म मे आतम ले अवतार।" किन्तु जैसा ऊपर निवेदित है अवतार के प्रति सभी सन्तो मे एक विरोध का स्वर मुखरित हुआ है। रामानन्द के शिष्य कबीर ने "औतार" को नही माना, यद्यपि उनके गुरु रामानन्द अद्वैतवाद के साथ-साथ अवतारवाद के मानने वाले भी थे।

ना दशरथि धरि औतरि।
ना लका का राव सतावा॥

१—हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पी० द० बडथ्वाल, पृ० १६६। अनु० परशुराम चतुर्वेदी।

देवें कुम्भ न ओनरि आवा ।
ना जसव ले गोद खिलावा ॥

उन्होंने अवतारों के नित्य रूप की आलोचना करते हुए कहा—जिस समय नो यह पृथ्वी थी, न यह आकाश था, उस समय नद के नन्द कहाँ थे ? अनादि और अविनाशी तो निरंजन है, सगुणोपासकों का नद चौरासी लक्ष यानियों में भ्रमण करते-करते थक गया।

ब्रह्मा का वद विस्नु को मूरति पूजे सब समारा।
महादेव की सेवा लागे कहे हे सिरजन हारा
माया को ठाकुर किया, माया की महिमाई।
ऐसे देव अन त बार, सब जग पूजन जाई ॥

मतों ने ईश्वर के ब्रह्मा, विष्णु रूपों को गुणात्मक और रामादि अन्य माया-त्मक अवतारों को मायिक माना है। जबकि इनका ईश्वर माया से परे अलख और अनादि है। दादू की धारणा है कि सब लोग माया रूपी राम का ध्यान करते हैं, जबकि दादू अलख आदि और अनादि ईश्वर का—

माया रूपी राम कू सब कोइ ध्यावे।
अलख आदि अनादि है सो दादू गावे ॥

विचित्रता तो यह है कि माया ही राम और कृष्ण का रूप धारण कर स्वय अपनी पूजा करती है—

"माया बैठी राम ह्वै कहे मैं हो मोहनराइ
ब्रह्मा विष्णु महेस लो जो भी आवे जाई ॥[1]

इस प्रकार दादू के अनुसार राम और कृष्ण दोनो माया के अन्तर्गत हैं। मलूकदास ने दशावतारों के अस्तित्व में ही सन्देह प्रकट किया है—"दस औतार कहाँ ते आए। किन रे गढ़े करतार। ' तथा चेतावनी देते हुए कहा है कि दशाव-तारों को देखकर मत भूलो इस प्रकार के रूप अनेक हैं—'दस औतार देखि मत भूलो, ऐसे रूप घनेरे।" गुलाल ने कहा है कि अन्य जीवधारियों की ही भाँति

१—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डा० कपिलदेव पांडेय, पृ० २११ २१२।

अवतारो को तभी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जब वे परमात्मा की भक्ति करें। पलटू के अनुसार चौबीसो अवतार काल के वश म है। राम, परशुराम और कृष्ण को भी मरना पड़ा।[1] इस प्रकार सन्त साहित्य में अवतारवाद के जिस रूप की आलोचना हुई है वह है विष्णु के अवतारो के रूप मे मनुष्य की पूजा तथा उसमें ईश्वरवादी तत्वों का समावेश। जहाँ तक मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध है, सन्त विष्णु के ऐतिहासिक अवतारी पुरुषों में विश्वास नही करते। उनके मानव रूप को भी व उतना ही मायात्मक मानते हैं, जितना अन्य मनुष्यो के रूप को। उनकी दृष्टि में राम ईश्वर के पूर्ण रूप नहीं थे।[2] कुछ सन्तो मे तो अवतार विरोध यहाँ तक देखा जा सकता है कि राम शब्द से उनको चिढ़ है। यद्यपि उनमे राम के अवतारी रूप की अपेक्षा उनके गुणो के प्रति आकर्षण हम पाते हैं।

अवतार विरोध सन्तो के लिए अहेतुक नही उसके कुछ कारण हैं। प्रथम तो यह कि उसके द्वारा नर-पूजा का विधान हो जाने के कारण धर्म म पाखंड के प्रविष्ट हो जाने का पथ सहज म प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आगे चलकर कबीर के अनुयायियो ने उन्हें अवतार बना डाला और सत्य की पूजा करने के बदले अवतार रूप उनकी स्मृति की पूजा कर "अ धेनेव जीयमाना यथ धा" को चरितार्थ किया। दूसरी बात यह कि अवतारी पुरुष किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष अथवा जाति विशेष का ही प्रतिनिधि रूप बनकर सामने आता है। सन्तो को जातीयता तथा साम्प्रदायिकता के प्रति घृणास्पद मनोभाव था। अत उन्होंने एक स्वर से इसके प्रति केवल उदासीन भाव ही नही दिखलाया, अपितु उसकी भर्त्सना भी की। दरअसल, यह सब अवतारवाद की स्थूलता के ही कारण हो सका। अवतारवाद के नेपथ्य में सचमुच रक्तमास के रूप म परमात्मा का उतरना नही है वह निर्बल मनुष्य के लिए सम्बल स्वरूप प्राप्त शक्ति का अवतरण अथवा उसके कार्य मे सहायता का दृष्टि से हस्तक्षेप मात्र है। अवतार स्थूल रूप मे नहीं अपितु सूक्ष्म रहस्यरूप मे अवतार हैं। पीछे चलकर जब यह समझा जाने लगा कि परमात्मा मानव वपु धारण कर विशेष रूप से इन्ही अवतारों के रूप मे अवतरित हुआ है तो अवतारवाद का मूल तात्विक अर्थ विनष्ट हो गया। डा० बड़थ्वाल ने इस प्रसग मे ईसा का उदाहरण प्रस्तुत किया है, "जो लोग ईसा को शारीरिक अर्थ म ईश्वर का

१—हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल, पृ० २१५।

२—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डॉ० कपिलदेव पांडेय पृ० २१६।

पुत्र मानते हैं, उनके द्वारा ईश्वर के पुत्रत्व की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। किन्तु मूलतः में अवतारवाद और ईश्वर की पुत्रता दोनों सिद्धान्त नितान्त उपयोगी हैं। इसी से अवतारवाद के इस मूल तथ्य के समक्ष उनके प्रत्याख्यानकर्ता निर्गुनिये भी दृढ़ता के साथ खड़े नहीं रह पाये। उन्होंने खुलकर नरसिंहावतार का यशोगान किया। जगजीवनदास के शिष्य दूलनदास ने तो अवतारों का ही नहीं हनुमान, देवी, गंगा आदि की भी भक्ति की। डा० बड़थ्वाल के अनुसार निर्गुनियों ने एक प्रकार से साधुओं के, विशेषकर गुरुओं के, महत्व को बढ़ाने के लिए भी अवतारवाद का उपयोग किया है। कभी-कभी तो गुरु परमात्मा से भी बड़ा माना जाता है। इस प्रकार अवतारों के सम्बन्ध में यह आरोप कि उनमें नर-पूजा के लिए जगह निकल आती है, साधु-पूजा और गुरुपूजा के सम्बन्ध में और अधिक उपयुक्त ठहराता है क्योंकि साधुओं और गुरुओं का वह सम्मान जो अवतारों को मृत्योपरान्त मिलता है, वह इसी जीवन में मिल जाता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों का अवतार के प्रति प्रारम्भिक खंडनात्मक दृष्टिकोण अन्ततः स्थिर नहीं पाया। यद्यपि ऐसे विचारों की भरमार सन्त साहित्य में हम पाते हैं। कुछ कबीर पंथी रचनाओं के आधार पर कुछ लोगों का यह भी विचार है कि कबीर अपने को पैगंबर अथवा अवतार होने का दावा करते थे[2]। इस संदर्भ में इस्लामी पैगम्बरवाद और हिन्दू अवतारवाद की चर्चा भी आवश्यक जान पड़ती है। इस्लामी पैगम्बरवाद ने भी गीता के "सम्भवामि युगे युगे" की धारणा को ही बहुमान प्रदान किया है। इनका विश्वास है कि प्रत्येक युग में पैगम्बर पूर्ण मानव रूप में प्रकट होता है और अपने प्राकट्य से सत्पथ का परिष्कार करता है। किन्तु हिन्दू अवतरण और इस्लामी निर्माण में अन्तर भी है। हिन्दू अवतारवाद अवतार रूप में ईश्वर के जन्म को स्वीकार करता है और इस्लामी पैगम्बरवाद की हुसूल या जन्मविरोधी होने के कारण अल्लाह का जन्म अस्वीकार्य है। तथापि इस्लामी सम्प्रदायों में प्रकारान्तर से अवतार-साम्य रखनेवाले निर्माण, प्राकट्य और प्रतिरूप शब्द व्यवहृत होते रहे हैं। शेख शहाबुद्दीन के अनुसार अल्लाह ने अपने स्वरूप से आदम का निर्माण किया। आदम यहाँ ब्रह्म का प्रतिरूप है। इसीलिए सम्भवतः मुसलमान लोग मुहम्मद को अल्लाह का प्रतिरूप मानते हैं। इस प्रतिरूपता में आवरण या छद्म वेष लक्षित होता है। डा० कपिलदेव पांडेय के अनुसार हिन्दू अवतावाद की माया या आवरण जैसी कल्पना के अभाव में मुस्लिम चिन्तकों ने प्रतिरूपता या समकक्षता का सहारा लिया हो, क्योंकि पैगम्बर ईश्वर का प्रतिरूप कैसे है इसका तात्विक समाधान उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि पैगम्बर "मीम" अक्षर से युक्त

१—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ॰ बड़थ्वाल पृ० १७१

२—वही पृ० १७४

है। मन की समस्त रामनाएं मायाजन्य हैं। सृष्टि की उत्पत्ति माया के कारण ही सभव है इसी से ससार का पसारा है और मोह स इम मायिक प्रसार के प्रति अनुराग जाग्रत होता है और जीवन का विनाश होता है। माया जीव का बधन है आत्मा के गले म पैरों में बेडी स्वरूपा है। माया की विवशता का उल्लेख भी संत काव्य म उपलब्ध है।[1] यद्यपि उसका स्वर उतना तीव्र नहीं।

इस अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि संतों ने इस ससार को माया और मोह से परिव्याप्त माना है। सृष्टि "पसारा" जीव की जीवता तथा अनेक तरह के प्रलोभनों एव दु ख का कारण यह माया ही है। भगवान की कृपा से ही इस सवव्यापिनी माया से मुक्ति मिल सकती है। इसके आकर्षण से बचने के लिए साधना ही विधातव्य है और तभी सत्य-तत्व का निदर्शन सभव है।

अब हम आलोच्य काल के अन्तगत उन प्रमुख सतो की माया भावना का विस्तृत पृष्ठभूमि पर विश्लेषण करेंगे जिससे इनकी प्रवृत्तियो का मुख्य स्वर उद्घाटित हो। प्रमुख सतो की बात इसलिए कही गई है कि निगु णमार्गी सत कवियों की परम्परा म नात्यधिक ऐसे हुए हैं जिनकी रचना साहित्य के अन्तगत आ सकती है और विवेचन की दृष्टि स कायसाधक हो सकती है। अत इसी दृष्टि से हम प्रमुख सन्तो को ही जिनकी रचनाए विवेच्य विषय की प्रतिनिधिकता मे पूर्ण क्षम हो सकें स्थान देना अभीष्ट है। फिर अन्य सतों की वानियों में यदि इतर विचार प्राप्त भी होता है तो उनम नवीन तथ्यों का समाहरण नहीं हो पाता, वे रचनाएं मात्र पिष्टपेषण और प्रबन्ध के कलेवर वृद्धि के अतिरिक्त और कुछ नही दृष्टिगत होती।

आचार्य शुक्ल ने निम्नलिखित आठ कवियों को अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास म स्थान दिया है। ये कवि हैं—कबीर, रैदास, धमदास, गुरुनानक, दादू दयाल, सुन्दरदास मलूकदास, अक्षर अनन्य।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" म सिक्खो के धम ग्रंथ 'श्रीग्रंथ साहब' म सग्रहीत सतो की वाणियों के आधार पर नानक की कविता के अतिरिक्त निम्नलिखित सोलह कवियों का उद्धृत किया है। ये कवि हैं—जयदेव, नामदव, त्रिलोचन, परमानन्द, सदना, बेनी, रामा

१—मध्यकालीन सन्त साहित्य—डा० रामखेलावन पाडेय, पृ० ४२१।

पुत्र मानते हैं, उनके द्वारा ईश्वर के पुत्रत्व की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। किंतु मूलाप म अवतारवाद और ईश्वर की पुत्रता दोनों सिद्धात नितांत उपयोगी हैं। इसी स अवतारवाद के इस मूल सौंदय व समस्त उसके प्रत्याख्यानक निर्गुनिय भी स्वतः के साथ पड़े नहीं रह पाये। उन्होंने खुलकर नरसिंहावतार का यशोगान किया। जगजीवनदास के शिष्य दूलनदास ने तो अवतारों का ही नहीं हनुमान, देवी, गंगा आदि का भी भक्ति की। डा० बड़थ्वाल के अनुसार निर्गुनियों ने एक प्रकार स साधुओं क, विशेषकर गुरुओं के, महत्त्व को बढ़ाने के लिए भी अवतारवाद का उपयोग किया है। कभी कभी तो गुरु परमात्मा से भी बड़ा माना जाता है। इस प्रकार अवतारों क सम्बन्ध म यह आरोप कि उससे नर पूजा के लिए जगह निकल आती है, साधु-पूजा और गुरुपूजा के सम्बन्ध म और अधिक उपयुक्त ठहराता है क्योंकि साधुओं और गुरुओं को वह सम्मान जो अवतारों को मत्योपरान्त मिलता है, वह इसी जीवन म मिल जाता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों का अवतार के प्रति प्रारंभिक खडनात्मक दृष्टिकोण अंतत निभ नहीं पाया। यद्यपि वसे विचारों का भरमार तत्तत् साहित्य म हम पाते हैं। कुछ कबीर पथी रचनाओं के आधार पर कुछ लोगों का यह भी विचार है कि कबीर अपने को पैगंबर अथवा अवतार होने का दावा करते थे[2]। इस सदभ में इस्लामी पैगम्बरवाद और हिंदू अवतारवाद की चर्चा भी आवश्यक जान पड़ती है। इस्लामी पैगम्बरवाद ने भी गीता के "सम्भवामि युगे युगे" की धारणा को ही बहुमान प्रदान किया है। इसका विश्वास है कि प्रत्येक युग में पैगम्बर पूर्ण मानव रूप मे प्रकट होता है और अपने प्राकट्य से सत्पथ का परिष्कार करता है। किन्तु हिन्दू अवतरण और इस्लामी निर्माण में अन्तर भी है। हिन्दू अवतारवाद अवतार रूप में ईश्वर के जन्म को स्वीकार करता है और इस्लामी पैगम्बरवाद की हुलूल या जन्मविरोधी होने के कारण अल्लाह का जन्म अस्वीकार्य है। तथापि इस्लामी सम्प्रदायो मे प्रकारान्तर से अवतार-साम्य रखनेवाले निर्माण, प्राकट्य और प्रतिरूप शब्द व्यवहृत होते रहे हैं। शेख शहाबुद्दीन के अनुसार अल्लाह ने अपने स्वरूप से आदम का निर्माण किया। आदम यहाँ ब्रह्मा का प्रतिरूप है। इसीलिए सभवत मुसलमान लोग मुहम्मद को अल्लाह का प्रतिरूप मानते हैं। इस प्रतिरूपता में आवरण या छद्म वेष लक्षित होता है। डा० कपिलदेव पांडेय के अनुसार हिन्दू अवतावाद की माया या आवरण जैसी कल्पना के अभाव म मुस्लिम चिन्तको ने प्रतिरूपता या समकक्षता *का सहारा लिया हो, क्योंकि पैगम्बर ईश्वर का प्रतिरूप रूपे है इसका तात्त्विक* समाधान उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि पैगम्बर "मीम" अक्षर से युक्त

१—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय —डा० बड़थ्वाल पृ० १७१

२—वही पृ० १७४

है। मन की समस्त वासनाएँ मायाजन्य हैं। सृष्टि की उत्पत्ति माया के कारण ही संभव है इसी से संसार का पसारा है और मोह से इस मायिक प्रसार के प्रति अनुराग जागृत होता है और जीवन का विनाश होता है। माया जीव का बंधन है आत्मा के गले में पैरों में बेडी स्वरूपा है। माया की विवशता का उल्लेख भी संत काव्य में उपलब्ध है।[1] यद्यपि उसका स्वर उतना तीव्र नहीं।

इस अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि संतों ने इस संसार को माया और मोह से परिव्याप्त माना है। सृष्टि "पसारा" जीव की जीवता तथा अनेक तरह के प्रलोभनों एवं दु:ख का कारण यह माया ही है। भगवान की कृपा से ही इस सर्वव्यापिनी माया से मुक्ति मिल सकती है। इसके आकर्षण से बचने के लिए साधना ही विधातव्य है और तभी सत्य-तत्व का निदर्शन संभव है।

अब हम आलोच्य काल के अन्तर्गत उन प्रमुख संतों की माया भावना का विस्तृत पृष्ठभूमि पर विश्लेषण करेंगे जिससे इनकी प्रवृत्तियों का मुख्य स्वर उद्घाटित हो। प्रमुख संतों की बात इसलिए कही गई है कि निर्गुणमार्गी संत कवियों की परम्परा में नात्यधिक ऐसे हुए हैं जिनकी रचना साहित्य के अन्तर्गत आ सकती है और विवेचन की दृष्टि से कार्यसाधक हो सकती है। अतः इसी दृष्टि से हमें प्रमुख सन्तों को ही जिनकी रचनाएं विवेच्य विषय की प्रतिनिधिकता में पूर्ण क्षम हो सकें स्थान देना अभीष्ट है। फिर अन्य संतों की वानियों में यदि इतर विचार प्राप्त भी होता है तो उनमें नवीन तथ्यों का समाहरण नहीं हो पाता, वे रचनाएं मात्र पिष्टपेषण और प्रबन्ध के कलेवर वृद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं दृष्टिगत होता।

आचार्य शुक्ल ने निम्नलिखित आठ कवियों को अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान दिया है। ये कवि हैं—कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरुनानक, दादू दयाल, सुन्दरदास मलूकदास, अक्षर अनन्य।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" में सिक्खों के धर्म ग्रंथ 'श्रीग्रंथ साहब" में संग्रहीत संतों की वानियों के आधार पर नानक की कविता के अतिरिक्त निम्नलिखित सोलह कवियों का उद्धृत किया है। ये कवि हैं—जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सदना, बेनी, रामा

१—मध्यकालीन संत साहित्य—डा० रामखेलावन पांडेय, पृ० ४२१।

नन्द, धना, पीपा, सन, कबीर, रैदास, सूरदास, फरीदा, भीखन और मीरा। इनके अतिरिक्त मलूकदास सुथरादास, दादूदयाल, वीरभान, धरणीदास, और सुंदरदासादि का विवरण भी प्रस्तुत इतिहास ग्रंथ में उक्त काल के अन्तर्गत प्राप्त होता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास ग्रंथ "हिंदी-साहित्य उद्भव और विकास" में मध्ययुग के महान् गुरु रामानन्द के, नाभादासकृत भक्तमाल के अनुसार, १२ शिष्यों की चर्चा उक्त काल के भीतर की है—अनतानन्द, सुखानद, सुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावान द, पीपा, कबीर, मना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी। इन कवियों के अलावा, दादू, सु दर, सधना, जमनाथ सिखों के गुरु नानक, गुरु अमरदास, और गुरु अर्जुनदेव का नाम भी इस काल में परिगणित किया गया है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपने शोध प्रबन्ध "हिंदी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि" में इस काल के समस्त कवियों को दो विभागों में विभक्त कर दो विभिन्न शीर्षकों का विभाजन किया है। इसमें प्रथम को "निर्गुण काव्यधारा के प्रस्तावकालीन कवि" की संज्ञा दी गई है जिसके अन्तर्गत जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सदन, वेनी रामानन्द, धना, पीपा तथा सेन का नाम लिया गया है। दूसरा शीर्षक है "निर्गुणकाव्य-धारा के प्रमुख कवि इसमें कबीरदास, धर्मदास, नानक, रैदास, दादू, रज्जब सुन्दरदास, गरीबदास, दादू, गरीबदास, बखरी साहिबा, बुल्ला साहब, जगजीवन, गुलाल, भीखा, पलटू, गुलाल, दरिया, मलूक, चरन, दयाबाई आदि का नामोल्लेख किया है। यद्यपि इनमें से अधिकांश आलोच्यकाल के बाहर के हैं।

प० परशुराम चतुर्वेदी की शोध-परक आलोचनाकृति "उत्तरी भारत की संत परम्परा" में सम्प्रदाय विशेषों के आधार पर कवियों को स्थान दिया गया है। कबीर के वर्णन के पूर्व "पूर्वकालीन संत" शीर्षक के अन्तर्गत जयदेव, सधना, लालदेव, वेणी, नामदेव तथा त्रिलोचन का नाम उल्लिखित है। पुनः "कबीर साहब के सामयिक संत" नामना अध्याय में स्वामी रामानन्द, सनभाई, पीपाजी, रैदास, कमाल तथा धन्ना भगत की रचनाओं सिद्धान्तों, पंथों तथा उनकी स्थिति काल का विशिष्ट विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पश्चात् पंथ निर्माण की प्रवृत्तियों का आकलन करते हुए फुटकर मतों का विवरण दिया गया है जिसमें जमनाथ, शेख फरीद, सिंगाजी तथा भीखन जी सम्मिलित हैं। पंथ निर्माण कर्ताओं में नानक, दादू आदि का नाम इस कालखंड में सर्वप्रमुख रहा है।

डा० रामनारायण पाडेय ने अपने शोध प्रबन्ध "भक्ति काव्य में रहस्यवाद" मे भक्तिकाव्य के शिक्षका मे गोरखनाथ मछीन्द्रनाथ नामदेव, रैदास कबीर, सूर तुलसी, मीरा, दयाबाई, सहजोबाई, धरमदास, मलूकदास, सुन्दरदास नानक, दरियादास, यारी जगजीवनदास, दादू, बुल्ला साहब, पल्टू साहब, गुलाल, दूलनदास, गरीबदास, चरनदास आदि कवियों को स्थान प्रदान किया गया है।

इस प्रकार उपयु क्त अध्ययन मे यह निष्कष प्राप्त होता है कि हमारे आलोच्य काल की सीमा के अन्तगत शुक्ल जी द्वारा विवेचित कवि ही अल्प परिशोधन के साथ आते हैं जिनका स्वरूप परिवतन और कतिपय कवियों के योग के साथ परवर्त्ती मतकाय के विभिन्न प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं। दरअसल, प्रवृत्ति निर्धारक निष्कष "प्राधान्येन व्यपदेशा" जन्य रचनाकारो की कृतियों के आधार पर ही विनिर्मित होता है शेष अन्य तो गतानुगतिक बनकर मात्र साहित्येतिहासिक को कुछ अधिक गतिशील कर उसका कलेवर वृद्धि करते हुए मात्र की भिन्न धर्मिता प्रस्तुत करते हैं।

इन्ही बातों के आधार पर विवेच्य-काल के प्रमुख कवियों की माया-भावना को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया जायगा।

इसके पूव यह कहा जा चुका है कि यद्यपि निगु णधारा का प्रारम्भिक रूप हम कबीर के पूववर्त्ती हिन्दी एव हिन्दीतर भाषाओ के कवियो म की रचनाओं में पाते है किन्तु उसकी वोगवती धारा का पुष्ट रूप कबीर मे ही सप्राप्य है। हिन्दी साहित्य के मान्य आलोचकों एव तत्तत् साहित्य के अनुसधायकों ने एक स्वर से निगु ण काव्य धारा के पुरस्कर्ता कवि रूप मे इन्हें ही स्वीकार किया है।[1] कबीर का समस्त काव्य "माया" के सम्बन्ध म जितना मुखरित हुआ है उतना ही किसी भी अन्य प्रचलित सिद्धान्तो से नही। फलस्वरूप इस प्रवत्तक कवि का प्रभाव परवर्त्ती सन्तो पर प्रभूत मात्रा में पडा है और यही कारण है कि सन्त साहित्य का विस्तृत *कलेवर माया-सम्बन्ध से ही जीव, जगत् और ब्रह्म की विभूतियों को उजागर करता* दृष्टिगत होता है। प्राय सभी सन्तो ने माया के सिद्धान्त को अपनी रचनाओ म विवेचन । विषय बनाया है। कबीर के रचना सग्रहो की सख्या मे "अस्ति नास्ति" सम्बन्धी विवाद है (जो हमारे विवेच्य की सीमा से पृथक वस्तु है) तथापि जिन

१—हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, पृ० ८५।

६१ ग्रन्थों का विवरण डा० रामकुमार वर्मा ने दिया है उनके वर्ण्य विषय के अन्तर्गत "माया विषयक सिद्धान्त" का स्थान भी अक्षुण्ण माना गया है। विशेषतया "रमैनी" में तो केवल माया सिद्धान्त का ही उल्लेख है। आत्मा और परमात्मा के मध्य बाधक तत्व होने के कारण कबीर ने माया का यहाँ बड़ा ही वीभत्स और भीषण चित्र अंकित किया है। इसका प्रत्यक्ष वर्णन हृदय को आक्रोश पूर्ण भावनाओं से आपूरित कर कुछ क्षण तक उसके प्रति घृणात्मक वातावरण उत्क्षिप्त कर देता है। माया के प्रति कबीर का दृष्टिकोण अत्यन्त प्रचंड और ध्वंसात्मक भाव विनिर्मित है। विरज और निष्केवल परब्रह्म का अनाविल सृष्टि जो नाना नाम रूपों में प्रकट प्राप्त है, माया ने उसे कलुषित बना दिया है। "निरंजन" के विश्व-सृजन के पीछे एकमात्र यही रहस्य है। किन्तु माया ने पाप के परदे से उसे आवृत कर इस जगत् रूपी पुण्य के रमणीय भंडार को वासना की अन्त सलिला में परिवर्तित कर दिया है जिसमें आपादमस्तक स्नात पुरुष अपने "करतार" की भावोपासना का प्रसंग ही विस्मृत कर गया है। यही कारण है कि कबीर माया का मूलोच्छेदन करने के अभिलाषी हैं। यह संसार माया के अस्तित्व से पूर्ण होकर भी रहे किन्तु उसके कालुष्य प्रभाव से मानव-समुदाय सदैव दूर रहे।

कबीर ने माया के सम्बन्ध में अपनी "रमैनी" और "शब्द" में बड़े अभिशाप दिए हैं। मानो कोई सच्चा संत किसी बार वनिता पर कटूक्तियों की बौछार कर रहा हो और वह वाग्विहीना निरुत्तर होकर सिर नवाए सुन रही हो। वे बार बार अनेक पदों में अपनी भर्त्सना पूर्ण भावना को जागृत पुनर्जागृत कर माया की उपेक्षा करते हैं। वह कभी उसका वासनापूर्ण चित्र अंकित करते हैं कभी उसकी हँसी उड़ाते हैं कभी उस पर व्यंग्य करते हैं, कभी उसकी ओर क्रोध से देखकर उसका भीषण तिरस्कार करते हैं। इतने पर भी जब उनका मन नहीं मानता तो वे थक कर संतों को उपदेश देने लगते हैं। अन्य बातों का वर्णन करते-करते फिर उन्हें माया की याद आ जाती है, फिर पुरानी छिपी हुई आग प्रचण्ड हो जाती है और कबीर भयानक स्वप्न देखने वाले की भाँति एकबार कांपकर क्रोध से न जाने क्या क्या कहने लग जाते हैं।[1]

कबीर ने माया की उत्पत्ति की अत्यन्त गहन विवेचना की है। शायद ही

१—कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३६।
तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का "निरंजन कौन है" शीर्षक निबन्ध।

कोई दार्शनिक कवि उसकी इस निष्पत्ति का समानत्व प्राप्त कर सके। डा० राम कुमार वर्मा तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी उभय प्रतिभा ने अपनी पुस्तक मे इसका हवाला दिया है। इस प्रसग म सक्षिप्तत उसे उद्धृत करना अनिवार्य प्रतीत होता है।[1] "प्रारम्भ मे एक ही शक्ति थी, सारभूत एक आत्मा ही थी। उसम न राग था, न रोष और न कोई विकार ही। उस सारभूत आत्मा का नाम था सत्पुरुष। उस सत्पुरुष के हृदय म श्रुति का सचार हुआ और वह धारे धीरे सख्या में सात हो गया। इसके साथ इच्छा का भी आविर्भाव हुआ। उसी इच्छा स सत्पुरुष ने शून्य मे एक विश्व की रचना की। उस विश्व के नियामक क लिए उन्होने छ ब्राह्मणो को उत्पन्न किया। उनके नाम थे—ओकार, सहज इच्छा, सोहम्, अचित और अक्षर।

सत्पुरुष ने उन्हें ऐसी शक्ति प्रदान की थी जिसस वे अपने अपन लोक मे उत्पत्ति के साधन और सचालन की आयोजना कर सकें। पर कोई भी ब्रह्मा अपने कार्य म हस्तलाघवता न बरत सके अतएव सत्पुरुष ने एक युक्ति का सधान किया।

चतुर्दिक प्रशात सागर था, जहाँ एकाकी मौन "अक्षर" बैठा था। सत्पुरुष की इच्छा स उसकी आँखों म शिशु सदृश गहरी निद्रा का आगमन हुआ। पश्चात् नेत्र खुलने पर उसे अनत जलराशि के ऊपर तिरोषमान एक अडा दिखाई पडा। उसकी दृष्टि में बडी शक्ति थी। वह बहुत देर तक उसे देखता रहा। तत्पश्चात् एक भयकर शब्द के साथ वह फूट गया और उसमे से एक भयानक पुरुष विशेष का आगमन हुआ जिसे "निरजन" नाम स अभिहित किया गया। यद्यपि निरजन उद्धत प्रकृति का था तथापि उसन सत्पुरुष की बडी भक्ति की। उस भक्ति के बल पर उसने सत्पुरुष से यह वरदान मागा कि उसे तीनो लोको का स्वामित्व प्राप्त हो।

इतना सब होने पर भी निरजन मनुष्य की उत्पत्ति न कर सका। इससे उसे बडी निराशा हुई। उसने पुन एक सत्पुरुष की आराधना कर एक स्त्री की याचना की। सत्पुरुष न यह याचना स्वीकार कर एक स्त्री की सृष्टि की। वह स्त्री सत्पुरुष पर ही मोहित हो गई सदैव उसकी सेवा म रहने लगी। उससे बार-बार

१—"कबीर का रहस्यवाद" तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के "निरजन कौन है ?" शीर्षक के आधार पर लिखित।

६१ ग्रन्थो का विवरण डा० रामकुमार वर्मा ने दिया है उनक वण्य विषय के अन्तगत "माया विषयक सिद्धान्त" का स्थान भी अक्षुण्य माना गया है। विशेषतया "रमनी" म तो केवल माया सिद्धान्ता का ही उल्लेख है। आत्मा और परमात्मा के मध्य बाधक तत्व होन के कारण कबीर न माया का यहाँ बडा ही वीभत्स और भीषण चित्र अंकित किया है। इसका प्रत्यक्ष वणन हृदय को आक्रोश पूण भावनाओ से आपूरित कर कुछ क्षण तक उसके प्रति घणात्मक वातावरण उत्पन्न कर देता है। माया के प्रति कबीर का दृष्टिकोण अत्यन्त प्रचड और ध्वसात्मक भाव विनिर्मित है। विरज और निष्केवल परब्रह्म का अनाविल सृष्टि जो नाना नाम रूपो म प्रकट होत है, माया न उस कलुषित बना दिया है। "निरजन" क विश्व-सृजन क पाछ एकमात्र यही रहस्य है। किन्तु माया ने पाप के परद से उसे आवत कर इस जगत् रूपा पुण्य क रमणीय भडार को वासना की अन्त सलिला में परिवर्तित कर दिया है जिसम आपादमस्तक स्नात पुरुष अपन "करतार" को भावोपासना का प्रसग ही विस्मृत कर गया है। यही कारण है कि कबीर माया का मूलोच्छेदन करन के अभिलाषी हैं। यह ससार माया के अस्तित्व से पूण होकर भी रहे किन्तु उसके कालुष्य प्रभाव से मानव-समुदाय सदैव दूर रहे।

कबीर ने माया क सम्बन्ध म अपनी "रमनी" और "शब्द" म बडे अभिशाप दिए हैं। मानों कोई सच्चा सत किसी वार वनिता पर कटूक्तियों की बौछार कर रहा हो और वह वागविहीना निरुत्तर होकर सिर नवाए सुन रही हो। वे बार बार अनेक पदो म अपनी भत्सना पूण भावना को जागृत पुनर्जागृत कर माया की उपेक्षा करते हैं। वह कभी उसका वासनापूण चित्र अंकित करते हैं कभी उसकी हसी उडाते है, कभी उस पर व्यग्य करत हैं, कभी उसकी ओर क्रोध स देखकर उसका भीषण तिरस्कार करत है। इतने पर भी जब उनका मन नहीं मानता तो वे थक कर सन्तो को उपदेश दन लगत हैं। अन्य बातों का वणन करते-करत फिर उन्ह माया का याद आ जाता है फिर पुरानी छिपी हुई आग प्रचण्ड हो जाती है और कबीर भयानक स्वप्न देखन वाले की भाँति एकबार कापकर क्रोध स न जाने क्या-क्या कहन लग जाते हैं।[1]

कबीर न माया की उत्पत्ति की अत्यन्त गहन विवेचना की है। शायद ही

१—कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३६।
तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का "निरजन कौन है" शीर्षक निबन्ध।

कोई दार्शनिक कवि उसकी इस निरूपति का समानत्व प्राप्त कर सके। डा० राम कुमार वर्मा तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी उभय प्रतिभो ने अपनी पुस्तक मे इसका हवाला दिया है। इस प्रसग मे सम्मिलित उसे उद्धृत करना अनिवार्य प्रतीत होता है।[1] "प्रारम्भ मे एक ही शक्ति थी, सारभूत एक आत्मा ही थी। उसम न राग था, न रोष और न कोई विकार ही। उस सारभूत आत्मा का नाम था सत्पुरुष। उस सत्पुरुष के हृदय मे श्रुति का सचार हुआ और वह धीरे धीरे सध्या मे सात हो गया। इसके साथ इच्छा का भी आविर्भाव हुआ। उसी इच्छा से सत्पुरुष ने शून्य में एक विश्व की रचना की। उस विश्व के नियामक के लिए उन्होंने छ ब्राह्मणो को उत्पन्न किया। उनके नाम थे—ओंकार, सहज इच्छा, सोहम्, अचित और अक्षर।

सत्पुरुष ने उन्हें ऐसी शक्ति प्रदान की थी जिससे वे अपने अपने लोक मे उत्पत्ति के साधन और सचालन की आयोजना कर सकें। पर कोई भी ब्रह्मा अपने काय मे हस्तलाघवता न बरत सके अतएव सत्पुरुष ने एक युक्ति का सधान किया।

चतुर्दिक प्रशात सागर था, जहाँ एकाकी मौन "अक्षर" बैठा था। सत्पुरुष की इच्छा से उसकी आँखो मे शिशु सदृश गहरी निद्रा का आगमन हुआ। पश्चात् नेत्र खुलने पर उसे अनत जलराशि के ऊपर तिरोपमान एक अडा दिखाई पडा। उसकी दृष्टि में बडी शक्ति थी। वह बहुत देर तक उसे देखता रहा। तत्पश्चात् एक भयकर शब्द के साथ वह फूट गया और उसमे से एक भयानक पुरुष विशेष का आगमन हुआ जिसे "निरजन" नाम से अभिहित किया गया। यद्यपि निरजन उद्धत प्रकृति का था तथापि उसने सत्पुरुष की बडी भक्ति की। उस भक्ति के बल पर उसने सत्पुरुष से यह वरदान मागा कि उसे तीनो लोको का स्वामित्व प्राप्त हो।

इतना सब होने पर भी निरजन मनुष्य की उत्पत्ति न कर सका। इससे उसे बडी निराशा हुई। उसने पुन एक सत्पुरुष की आराधना कर एक स्त्री की याचना की। सत्पुरुष ने यह याचना स्वीकार कर एक स्त्री की सृष्टि की। वह स्त्री सत्पुरुष पर ही मोहित हो गई सदैव उसकी सेवा मे रहने लगी। उससे बार-बार

१—"कबीर का रहस्यवाद" तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के "निरजन कौन है?" शीर्षक के आधार पर लिखित।

यह कहा गया कि वह निरंजन के समीप जाए पर पग इनके विपरीत हुआ। वह निरंजन सम्पर्क की ओर आकृष्ट थी। सत्पुरुष के अपरिमित प्रयत्नों के पश्चात् उस स्त्री ने निरंजन के पास जाना स्वीकारा। तदनन्तर उनसे तीन पुत्र उत्पन्न हुए—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। पुत्रोत्पत्ति के बाद निरंजन अन्तर्धान हो गया, केवल स्त्री ही बची—उसका नाम था माया।

ब्रह्मा ने अपनी माँ से पूछा—

तब ब्रह्मा पूछा महतारी। को तोर पुरुष कवन तें नारी।

इस पर माया का उत्तर है—

हम तुम, तुम हम और न कोई,
तुम मम पुरुष, हमही तोर जोई ॥

यहाँ एक माता अपने पुत्र से इस प्रकार कहती है, कि तुम हम ही तुम हैं और तुम ही हम दोनों के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। तुम्हीं मेरे पति हो और मैं ही तुम्हारी स्त्री हूँ। संसार की विपरीत वासना का निकृष्ट पतन उपरि विवेचित कथा में, निश्चयत निरूपित हुआ है जहाँ माँ स्वयं अपने मुख से अपने पुत्र की पत्नी बनती है। शायद इसीलिए कबीर अपनी पहली रमैनी में कहते हैं—

बाप पूत के एकै नारी। एक माय बियाय।

मातृपद को सुशोभित करने वाली वही नारी दूसरी बार पुनः उसी पुरुष की अंकशायिनी बनकर उसके उपभोग की सामग्री बनती है। जागतिक जीवन के वासनात्मक कौतुक का इससे वृहत् प्रमाण और क्या हो सकता है कबीर को इसी कारण इस संसार से घृणा है। छठे शब्द में उनका कथन है—

संतो, अचरज एक भौ भारी पुत्र, धरल महतारी।

इस प्रकार उपर्युक्त "तुम मम पुरुष, हमही तोर जोई" जैसे माया के घृणास्पद उत्तर से ब्रह्मा को विश्वास नहीं हुआ। वह निरंजन की खोज में चल पड़ा। माया ने एक पुत्री का निर्माण कर उसे ब्रह्मा को लौटाने के लिए भेजा पर ब्रह्मा ने यही उत्तर भेजवा दिया कि मैंने अपने पिता को खोज लिया है, और उनके दर्शन पा लिए हैं। उन्होंने यही कहलाया है कि तुममें (माया में) जो कुछ है वह असत्य है, और इस असत्य के दण्डस्वरूप तुम कभी स्थिर न रह सकोगी। इसके

पश्चात् ब्रह्मा ने सृष्टि रचना की, जिसमे चार प्रकार के जीवों की उत्पत्ति हुई—अडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज।

अब सारी सृष्टि ब्रह्मा, विष्णु और महेश का पूजन करने लगी और माया का तिरस्कार होने लगा। माया इसे भला कसे सहन कर सकती थी। जब उसने देखा कि मेरे पुत्र ही मेरा तिरस्कार करा रहे हैं तो उसने तीन पुत्रियों को उत्पन्न किया, जिनसे कुछ रागिनियाँ और ६३ स्वर निकल कर ससार को मोह मे आबद्ध करने लगे। सारा ससार माया के ससार म तरने लगा और सभी मोह और पाखड का प्रभुत्व दीखने लगा। सत लोग इस सहन न कर सके और उन्होने सत्पुरुष से इस कष्ट के निवारणार्थ याचना की। सत्पुरुष न इस अवसर पर एक व्यक्ति को भेजा जो ससार को मायाजाल से हटाकर सत्पुरुष का ओर ही आकर्षित करे।

माया के उद्भव, सम्बन्धित उपर्युक्त अध्ययन, जिसे कबीरपथी मानते हैं का आधार जो भी रहा हो किन्तु उससे स्फुट स्वर मे निम्नलिखित निष्कर्ष अवश्य प्राप्त होते हैं जिनका आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि स भी महत्व है।

क—माया का अस्तित्व इस "जगत्या जगत्" मे ही है।

ख—ब्रह्मा, विष्णु भी इसके प्रभाव से मुक्त नही।

ग—वासना आदि के सक्षोभ म ही माया द्वारा सृष्टि का बीज-वपन होता है जिससे अडज, पिंडजादि चतुर्विध जीवों की उत्पत्ति सभव है।

घ—माया के अग रूप में नारी ही सप्रतिष्ठित है।

च—भगवत्माहात्म्य ज्ञाता के पास माया नहा फटकती। वैसे सारा ससार इसी माया-मोह के पारावार म आपादमस्तक निमग्न है।

अब हम कबीर द्वारा निरूपित माया के स्वभाव और उसके स्वरूप पर विचार करगे।

उपनिषदों म ब्रह्म की सृजन शक्ति तथा प्रपचात्मम सृष्टि को माया कहा गया है, जिसमे फसकर जीव 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" को भूल जाता है। गीता अज्ञान को माया कहती है। आचार्य शकर ने "अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धि" क अनुसार माया को भ्रमरूप माना है। श्रीमद्भागवत म "माया' को अप्रतीति कहा गया है जिसे प्रकारान्तर से मिथ्या ज्ञान ही समझना चाहिए।

कबीर माया को भ्रमरूप स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि हमारी बुद्धि

म भ्रम उत्पन्न होकर उसे विकार युक्त कर देता है, जिससे सत्य-वस्तु क स्थान पर मिथ्यापदाथ की प्रतीति होन लगती है और हम उस भुलाव मे पड़कर अपना ज्ञान भूल जाते हैं—

भरम करम दोउ मति परहरिया
भू ठे नाउ साच ले धरिया ॥

जैसे तमिश्रमय रात्रि में रज्जु सर्प का मिथ्यात्मक ज्ञान भ्रम रूप म प्रचारित कर दश भय स मनुष्य को आक्रान्त कर देता है और उस भ्रम का निराकरण रात्रि के अवसान पर सूय के प्रकाश म सहजतया हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान के आगमन म मानव-बुद्धि पर पड़े माया आवरण का उच्छेद अनायास हो जाता है—

रजनीगत भई रवि परकासा ।
भरम करमधू करे विनासा ॥

जीवात्मा, वस्तुत माता, पिता, पुत्र, गृही उदासी स परे राम या परमेश्वर का एक अश है जो कागज पर अंकित चिह्नो के सदृश अमिट है, पूण सत्य है, अतएव वाह्य दृष्टि से दृष्ट विभिन्नताए मिथ्या हैं, और उसके "भरमकरम" के कारण है। इस प्रकार समस्त ससार ज्ञान विरहित हो अपनी मति गवा रक्खा है।[1] उक्त "भरम करम" का मूल कारण कबीर ने अपनी रचनाओ म क्वचित् कुत्रचित् बतलाया है। किंतु यत्र-तत्र विशीण उनके फुटकर विचारो से अनुमान किया जा सकता है कि य दोनो अनादि काल से चले आते हैं और इनकी मूल प्रेरणा परमेश्वर की लीलामयी अभिव्यक्ति की उस इच्छा म ही निहित हो सकता है जिस इन्होने कहीं कहीं "माया" का अभिधान प्रदान किया है। उस मायातत्व का वणन करते हुए उसे इन्होंन किसी विश्वमोहिनी सुन्दरी के रूप म चित्रित किया है और उसका स्वभाव इन्होंने सबको प्रलोभन देना, ठगना व फसाना दिखलाया है। कबीर के अनुसार माया सत्, असत्, तथा उसके उभय रूपो स भी परे है। इसका काय क्षेत्र यह जगत् है और जागतिक वस्तुए परिवत्तनशील प्रकृति की होने के फलस्वरूप "सत्" नहीं कही जा सकतीं पर वे सवथा असत् कोटि की अथवा पूणतया तुच्छ भी नहीं हैं। उनकी एक सत्ता है जिसम उसका आतरिक रूप प्रतिभासित होता है। इस कारण वे अनिवचनीय हैं अत कनक-कुडल याय से माया या अविद्या भी सदसत

१—कबीर ग्र० पृ० २५६ ।
२—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६८ १६६ ।

से विलक्षण और अनिवचनीय है। कबीर ने माया की अनिवचनीयता स्वीकार की है—

जो काटो तो डहडही सीचो तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती वेल का, कुछ गुन कहा न जाय॥

माया रूपी बेल अद्भुत विरोधात्मक गुण सम्पन्न है। इसे काटने पर प्रणपूण होकर हरी भरी हो जाती है तथा जलासेक द्वारा अभिसिचन करने पर कुम्हला जाती है। अर्थात् उपभोग करन पर वह आकृष्ट करती है और ईश्वर ध्यान रूपी जल स सीचने पर स्वत कुम्हला जाती है। तात्पय यह कि साधक के मन मे वैराग्य भाव उदगत होने पर माया नहीं व्यापती। यह वल न अगवाली है और न अगरहित है। इसकी विशिष्टता अकथनीय है।

कबीर माया को काल्पनिक तथा सारहीन बतलात हैं। माया का असत् रूप शशक श गवत् कुछ भी नही होता। वन्ध्या स्त्री से पुत्रोत्पत्ति की आशा व्यथ एव कामनाजयी है। बिना ब्याई गाय से दुग्ध पाने की इच्छा करना निस्सार है। आगन में बेल है पर उसके नभस्पर्शित फल व्यथ ही होते हैं। इस तरह उक्त उदाहरण से माया एव जगत् की असत्यता प्रमाणित होती है।

कबीर ने साख्य दशन की प्रकृति के समशील ही माया का अख्यान किया है। यह समस्त विश्व की रचयित्री है। स्वय अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त की जननी है। साख्य-दशन म सत् रज तम, तीनो गुणों की असम्यावस्था उत्पन्न होने से महत्व उत्पन्न होता है। महत्व से अहकार और अहकार से सात्विक सइन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय सृष्टिया होती हैं। सेन्द्रिय सृष्टि से ५ ज्ञानन्द्रिया तथा ५ कर्मेन्द्रिया और मन उत्पन्न होते हैं। निरिन्द्रिय सृष्टि से पाच त मात्राए एव ५ महाभूत उत्पन्न होते हैं।[1] यह साख्य का सष्टि का विकास है जिसके समानान्तर विचार कबीर के भी मिलत है—

सत रज तम थें की ह माया। चारि खानि विस्तार उपाया।
पच तत ले की ह बधान। पाप पुनि मान अभिमान।
अहकार की ह माया मोहू। सपति विपति दी ही सब कोहू।

सष्टि विस्तार के प्रसग में यहाँ तीन गुणों के सयोग से माया द्वारा चतुष्कोटि

१—कबीर दशन—डा० रामजी लाल सहायक, पृ० १६१।

(जरायुग, अडज, स्वेदज और उद्भिज) रूप में प्रस्तार-प्राप्त उसका वणन किया गया है। पचतत्वों के सयोग से सष्टि की उत्पत्ति हुई तथा इसके साथ-साथ, पाप, पुण्य, अभिमान अहकार, मोह, सम्पत्ति, विष आदि क रूप म जीव के लिए बधन भी तयार हो गए। इस प्रसवधर्मिणी माया के हाथ में ही उद्भव स्थिति धारे ससार" है। सृष्टि का लय भी माया द्वारा ही होता है—"सजोगे करि गुण धऱ्या, विजोगें गुण जाई।—क्वल गुणा के सयोग स सष्टि अपना अभिधान धारण करती है और उनक वियोग से विलय होता है। य सारी क्रियाएँ माया द्वारा ही सम्पादित होती है।

पाच तत तीन गुण जुगति कर सन्यासी
अष्ट बिन होत नहिं क्रम काया
पाप पुन बीच अकुर जमें मरें
उपजि विनसे जेती सब माया

इस तरह पाच तत्व तीन गुण आदि तथा अष्टधा प्रकृति के विकार का उत्पन्न एव विनाश होना यह सब माया ही है उदभव और प्रलय की कहानी माया की जीवन गाथा के अन्तगत है।

माया का स्वभाव बडा चाचल्यपूण तथा परिवतनशील है। इस परिवतन रथ पर आरूढ होकर वह "क्षणे-क्षणे" अपना विचित्र रूप बदलती रहती है। यह वायु सदृश सदा सवदा अविरल धारा प्रवाह मे प्रवाहित रहती है।[1] कवि ने कहा भी है—

कबीर माया डोलनी पवन बहे विधार।
जिनि विलोया तिन पाइया अवन विलोवन हार

यह माया दु ख, ब धन तथा अज्ञान रूपा है। माया के आकषण में उलझा हुआ जीव आवागमन के चक्र मे बधा हुआ घिसटता रहता है—पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् पुनरपि जननी जठरे शयनम्।" इसमे भयकर रूप से पयवसित मानव अनक्श दुख सताप के वातावरण मे सास लेता है और अपने विशुद्ध स्वभाव का विस्मृत कर अनेक बाधा बन्धनों में आवद्ध हो जाता है। "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्' के कारण ही जीव भ्रम के वशीभूत होकर शरीर एव इन्द्रियो को ही

१—कबीर दशन—डा० रामजी लाल सहायक, पृ० १६१।

अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है और इसी अज्ञानान्धकार के कारण नहीं पहचानने के कारण वह अपने को कर्ता, भोक्तादि समझकर दुःख उठाता है। कबीर माया को त्रिविध ताप दुःख और संताप का ऐसा वृक्ष मानते हैं जिसमें शीतल छाया का नाम नहीं और जिसके फल अत्यन्त खट्टे हैं और जिनका तन भयंकर ज्वाला है[1]

माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नही, फल फीको, तनि ताप॥

कबीर के अनुसार माया स्वभाव से व्यभिचारिणी है यह अत्यन्त मोहक और आकर्षक है। उसका त्याग करने की कोई कितनी भी चेष्टा किया करे। वह पिंड छोड़ने को नहीं और कभी माता पिता कभी स्त्री-पुत्र कभी आदर-मान व कभी जप-तप व याग के रूपों में बंधन डाल देती है। इतना ही नहीं यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो माया का प्रभाव समस्त सृष्टि में दृग्गोचर होगा। पानी में मछली को माया ने ही आबद्ध कर लिया है दीपक की ओर पतंग का आकर्षण माया के ही कारण है[1] हाथी को माया ने ही कामवासना प्रदान किया है कुत्ते, सियार, बन्दर चीते, बिल्ली, लोमड़ी और भेड़ माया में ही रंगे हुए हैं और वृक्ष की जड़ें तक वास्तव में माया द्वारा फंसाई गई हैं। छः यती, नव नाथ व चौरासी सिद्ध तक माया के प्रपंचों से नहीं बच पाए और देवतागण सूर्य चन्द्र सागर पृथ्वी आदि सभी इसके प्रभाव से प्रभावित हुए। इस प्रकार चराचर में व्याप्त माया की सार्वत्रिक स्थिति कबीर को स्वीकार है जहाँ माया अपने प्रभाव से मनुष्य को ही नहीं प्रपीडित करती अपितु पशु, पक्षी और उद्भिज तक को पादाक्रान्त करती है। उक्त ग्रंथ में माया प्रसार का एक विशद् चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। इस माया पर जरा का आक्रमण संभव नहीं। संसार में मनुष्य के नयन, श्रवण, क्रमशः दृश्यावलोकन तथा श्रवण-कार्य से थक जाते हैं, सुन्दर शरीर भी काम करते थक जाता है। जरा के कारण बुद्धि भी थक जाती है। एक ही चीज नहीं थकती और वह माया है।[2]

माया को भोगते रहने से संसारी कभी तृप्त नहीं हो सकता। प्रत्येक भोगी

१—कबीर ग्रन्थ—डा० रामजी लाल सहायक, पृ० १६१।

२—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६६।

अतृप्त ही जाता हुआ दीखता है ।[1] इसका एक रूप मोहनेवाला भी है जो "ज्ञान सुजान सबको अपने वश मे कर लेता है । तुक तो यह है कि माया पीठ दिखाने पर भी नहीं छोड़ती और पीछे मे भर भर कर वाण चलाती है ।[2] यह "मीठी खाड" के सदृश मिष्टप्रधान है जो बिना आवर्पित किए नहीं रह सकती । केवल गुरु की सदय कृपा से ही इसस त्राण सभव है ।[3] इसने समस्त जगत् पर अपना आधिपत्य जमा लिया है, इसस शायद ही कोई बचकर निकल जाय[4], यद्यपि यही सतों की दासी है । उनके समीप इसका कुछ नहीं चल सकता । वह उन्हें आशीर्वाद ही देती है[5] यह माया उस 'तरिवर" के समान है जिसमे त्रिविध तापो क शाखाएं[6] विकसी हुई हैं । जहां शीतलता स्वप्न मे भी प्राप्त नहीं और उसस प्राप्त फल रसविहीन है । यह ऐसी टाकिनी है जो सब किसी को खा गई और खाने की क्षमता भी रखती है । केवल सतो के समीप जाने पर दात निपोड़ने लगती है ।[7] तुलसी ने भी भक्ति से माया के भयभीत और सकुचित होने की बात कही है । भक्त क ऊपर उसका किसी प्रकार का प्रभुत्व स्थापित ही नहीं हो सकता। माया परमात्मा क दरबार की नर्त्तकी है एव भक्ति उनकी प्रियतमा पत्नी है । कबीर ने भी इसी तरह के विचार रक्खे हैं जिसम उन्होंने जगत् को हाट विषय रस को स्वाद, तथा माया को वश्या कहा है । वह उपरल दरजे की ठगिनी भी है जो समस्त जगत् को ठगती रहती है, यद्यपि परमात्मा के द्वारा वह भी ठगी जाती है । यह माया सबको मोहित करने वाली है । इसकी सबप्रमुख विशेषता यह है कि प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करने पर प्राप्त नही होती परन्तु मिथ्या समझकर त्याग देने पर पीछे लगी फिरती है । दूसरे शब्दो मे यह छाया सदृश है जो पकड़ने का प्रयत्न करने पर तो दूर भागती है और पकड म नहीं आती, परन्तु उससे दूर भागनेवाले का वह पीछा नहीं छोड़ती

१—क० ग्र० पृ० २१८ ।
२—क० ग्र० पृ० २५ ।
३—क० ग्र० पृ० २५ ।
४—क० ग्र० पृ० २५ ।
५—क० ग्र० पृ० २६ ।
६—क० ग्र० पृ० २६ ।
७—क० ग्र० पृ० २६ ।

साथ ही लगी रहती है। यह महादुराचारिणी है। मनुष्य के लिए इससे पीछा छुड़ाना दुस्साध्य है, क्योंकि यह जगत् के लघु प्राणियों से लेकर महत् प्राणियों के नाम रूप में व्याप्त है। वह दुराचारिणी इसलिए है कि उसमे सुन्दरता है, आवर्जकता है, जिससे वह आकर्षण उत्पन्न कर मन को मोह लेती है। सारा ससार इसी की करामात से भ्रष्ट हो गया है। मनुष्य की गणना ही क्या जब महान् से महान् योगी, यती और साधु भी इसके पजे से नही निकले। वह कुटिल स्वभाववाली भी है। क्योंकि जीव जलुओ एव मनुष्यो म अपनी कुटिलता स भेद बुद्धि उत्पन्न करती है। इसी भेद बुद्धि के परिणामस्वरूप ससार, क्लेश, घृणादि की अग्नि म धू धू कर जल रहा है। "यह मेरा है, यह उसका है। वह मुझस निम्न है, मुझे ही जीवित रहना चाहिए' आद कुटिल विचारो स अनकत्व की सृष्टि है। माया को कबीर न पापिनी कहा है क्योंकि वह चचला है। नित्य प्रति नय-नय जीवों को फसाती है, इसी स कबीर न माया को डाइन, डकनी, सपणी, पापनी दुराचारिणी आदि नामा स सबोधित किया है। इसके अतिरिक्त नकटा, चोरटी, पिशाचिनी, शिकारिन आदि नाम भी दिए हैं। उक्त सबोधनो के पीछे कबीर का अभीष्ट, माया के प्रभाव तथा उसके आकर्षणों म ससारी जीव को सावधान करना है। कबीर न स्पष्ट शब्दो म इसी कारण उसके अनेक दोषो को हमारे सम्मुख रखकर रहस्योद्घाटन किया है। कबीर एक उत्कृष्ट भक्त हैं। भक्ति माग के अनेक विघ्न बाधाओ से उन्हें अनेक साक्षात्कार हुआ है। माया प्रभु-भक्ति मे बाधक है। यह ऐसा "पापिन ' है जो जीव को प्रभु स विमुख कर देती है। राम नाम के सरस उच्चारण के अवसर देने के बदले कटु बचनवाली के निरतर निस्सारण म ही यह प्रफुल्लित रहती है।[1] इसके चक्र म सारा ससार अनादि काल स पिस रहा है। यह माया बडी सम्मोहक है। कोई एकाध व्यक्त ही सासारिक परपरा के परित्याग से बच पाते हैं। समस्त ससार माया की शृखलाओं म आबद्ध है। भला वह इसस कसे विनिमुक्त हो जब ससारकर्त्ता ही उसम सलिप्त बताया जाता है।

सत-साहित्य मे माया के आकर्षणकारी दो अस्त्र माने गए हैं जिनके प्रयोग

१—क० ग्र० पृ० २५।

२—क० ग्र० पृ० २५।

में सभी जीव इसके जाल में फँस जाते हैं। ये हैं कंचन और कामिनी।

कबीर ने कंचन और कामिनी को माया के प्रधान प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। इसी तरह मान आशा, क्रोध, आदि अनेक मानसिक विकार माया के मित्र हैं। अपने इन्हीं मित्रों के सहयोग से वह जीवों को फँसाने में कारगर होती है। कबीर ने "तहिवर एक परम बल नारी" को माया का एक विशिष्ट अंग मानकर सदा उससे विलग रहने की चेतावनी दी है। उनकी दृष्टि में नारी तीनों लोकों में सबसे नागिन के समान विषपूर्ण है। विषय वासना में सिक्त जीव तो इससे पूर्व ही दर्शित हैं मात्र प्रभु के भक्तों पर ही किसी प्रकार का प्रभाव नहीं है। कामिनी का संसर्ग बड़ा ही ध्वंसात्मक है, क्षुति उसके पग-पग पर है। वह मधुमक्खी के समान पास जाने वाले को अवश्य काट खाती है, केवल प्रभु भक्ति में अनुरक्त जन ही उसके विषाक्त प्रभाव से अप्रभावित नहीं होते। उसके पाशवगत होने से मनुष्य तीन अलभ्य सुखों से वंचित हो जाता है। वे हैं भक्ति मुक्ति एवं आत्मज्ञान। पुरुषार्थ के इन आवश्यक गुणों की प्राप्ति नारी के संसर्ग से असम्भव है। नारी की संगति नरक-कुण्ड सदृश यातनामय है। उसके समीपस्थ रहने वाला कामी है और कामी पुरुषों ने इन्द्रिय रसों के स्वाद में पड़कर भक्तिमार्ग का नाश कर दिया, क्योंकि "कामी अमी न भावई।" "यह अमी" "सा परानुरक्तिरीश्वरे" तस्यस्यामृतत्वो पदेशात्' "अपालो भक्ति" ही है। इस तरह भक्ति के लिए उक्ति कंचन और कामिनी, "वल्थ एंड वीमन', जर और जाह, त्याज्य हैं। यही कारण है कि संतों ने इनसे सदा सचेष्ट रहने की बात कही है। सन्तों के संसार में "सूरमा" वही व्यक्ति है जो माया और उसके सहायकों से वीरता और धीरतापूर्वक युद्ध कर सके और उन पर विजय प्राप्त कर सके, जो अपनी साधना शक्ति द्वारा प्रलोभनों का परित्याग कर सके, जो वासनाओं का दमन कर सके, जो दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके, विकारों को समाप्त कर उन पर आध्यात्मिकता का भवन स्थापित कर सके जिसमें परब्रह्म का निवास संभव हो। संस्कृत के धर्मग्रंथों में "कांता कटाक्ष विशिखा न गृणंति यस्य" को ही "धीर" कहा गया है। दादू, पलटू, नानक, दरियादि संतों के "सूरमा" पर विचार उल्लेखनीय हैं। सुन्दरदास ने तो इस "सूर" या सूरमा पर लगभग ४४ छन्दों का प्रणयन किया है। संतमत के उज्ज्वल रत्न कबीर के अनुसार—

तीर तुपक स जो लडे सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करे सूर कहावे सोय ॥[1]

सुदरदास ने "सूरमा' के प्रधान शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह मद अहकार आदि को माया और माया के सहायक रूप में परिगणित किया है। गीता मे काम, क्रोध, लोभ को नरक का द्वार माना गया है। सूक्ष्म दृष्टि से कबीर के इन पाच माया पुत्रों—काम, क्रोध, मोह, मद व मत्सर का कचन और कामिनी म अतर्भाव आसानी से हो जाता है। कचन के लिए लोभ, मोह और उसके प्राप्त हो जाने पर मद और अहकार का आविर्भाव तथा "काम के केवल नारि" और "क्रोध के परुष वचन" से उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अत "ये सब राम भगति के बाधक" हैं, ऐसा कबीर ने अनेक स्थानों पर कहा है।

भक्ति के लिए मानस-केन्द्रण का होना आवश्यक है जो मन की एकाग्रता से ही समव है। वस्तुत मानने का काय जिसके द्वारा सपादित हो वही मन है। वनैयिक मन को सकल्प विकल्पात्मक शक्ति कहा गया है। इस तरह "मान्यते अनेन इति मन " अथवा मन करणे असुन' अर्थात् जिसके द्वारा मानने का काय सम्पादित हो अथवा जो मानने का कारण वा साधन बने वही मन है।[2] कबीर के अनुसार माया की परिधि इन्द्रिय विषय ही नहीं है, अपितु मन भी है। मन के सारे व्यापारो म माया की चेष्टाए अभिलिखित हैं। मन ही जागतिक विषय वासनाओ क विकारों में पडकर इन्द्रियो को उसम सलिप्त होने के लिए आन्दोलित करता है। इतना ही नही, इसकी अकथ कथा है। यह अत्यत चपल, चचल और चोर-काय निपुण पुरुष के सामान लोभी वृत्ति का है। पवन क वेग स भी तीव्रतम इसकी गति है तथा यह क्षणेक बहुरूपधारी है। माया, भ्रम, सब मन क ही खेल हैं साधक, साधना-पथ में तल्लीन होकर चरम लक्ष्य की प्राप्ति की सफलता पर पहुँचता है परन्तु यह मायावी मन उसक सवकृत्यव को क्षण मे भस्मसात कर देता है और माया म फसाकर उसे साधना विच्युत कर देता है। भक्ति के अत्यन्त सकीण द्वार मे मन का, जो मदमस्त हाथी क समान चचल है, प्रवेश सम्भव नही। शरीर पर मन का ही एकमात्र अधिकार है इसीसे यह विषय वासनाओ मे शरीर को लगाकर सवस्व नाश कर देता है। इसके निग्रह से काम, क्रोध, मद, लोभ और

१—सुन्दर दशन—श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० २०७।
२— " " " पृ० २१६।

अब हम माया और मायापति के सम्बन्धी, सृष्टि विकास मे माया का योग, तथा माया के भेदो पर कबीर के विचारो का अध्ययन करेंगे।

उपनिषदो म "मायां तु प्रकृतिं विद्या मयिनं तु महेश्वरम्' कहकर माया को ब्रह्माश्रित माना गया है। गीता म ' दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" से उक्त कथन का ही पुष्टि होती है। इस तरह माया अनिर्वचनीय तत्व होते हुए भी त्रिकाल अबाधित नही है। तत्वज्ञान से इसका बोध हो जाता है और परमार्थ तत्व अथवा अन्ततम अस्तित्व की सत्ता ही रह जाती है[1]—यह एकमात्र सत्ता ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही से सबकी उत्पत्ति होती है और फिर उसी म सब लीन हो जाते हैं। कबीर के अनुसार बाजीगर ने डमरू बजाया और सारी सृष्टि तमाशा का वस्तु की तरह जुड आई। बाजीगर ने अपना स्वाग लपट लिया और अपने आप म लीन हो गया। यहाँ बाजीगर मायापति ईश्वर है तथा उसका कौतुक यह सारा ' पसारा (प्रपच) है ससार है। कबीर कहते है सृष्टि की उत्पत्तिकर्त्री माया को ब्रह्माश्रित मानते है। इस भाव को लक्ष्य करते हुए वे कि यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जाला म फासकर मुनि, पीर जैन, जोगी, जगम ब्राह्मण और स यासी को मार रही है। कबीर ने माया का ब्रह्म की लीला का शक्ति माना है। वह उसे जादूगर का खेल कहते है। जादूगर की करामात म दर्शको म भ्रम उद्गत हो जाता है। किन्तु उसके चमत्कार का प्रभाव अल्पकालिक भी स्वय उस पर नही पडता। इसी तरह तत्व ज्ञान हो जाने पर लोग ससार के माया मोह म फसते नही—

जिमि नटने नटसारी साजी।
जो खेले सी दीसे बाजी॥[2]

किन्तु होता यह है कि ससार की व्यावहारिकता म ही सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं और उसे ही अंतिम सत्ता मान बैठते है। इस तरह मूल तत्व ब्रह्म प्रत्यक्ष नही हो पाता और प्राय भुला दिया जाता है—

कहन सुनन को जिहि जग कीन्हा।
जग भुलान सो किनहुँ न चीन्हा।
सत रज तम थे कीन्ही माया।
आपण मामे आप छिपाया॥
—क० ग्र०, पृ० १७०

कबीर का यही आशय है कि त्रिगुणात्मक माया की आवरण तथा विक्षेप शक्ति के कारण मनुष्य की बुद्धि मे भ्रम होता है। जैसे मेघ के टुकडे, आकाश म आ जाने के कारण कुछ काल तक सूर्य को अदृश्य कर देते है जिससे उसके प्रकृत स्वरूप के न ज्ञान की कल्पना

१—कबीर-दर्शन, पृ० १६३।
२—कबीर दर्शन, पृ० १६०।

हम कर बैठते हैं उसी प्रकार मूल तत्व को नहीं पहचान जगत् के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पना कर ली जाती है। यह कार्य माया के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसीलिए कबीर ने उस आवरणशक्ति करने वाली माया नाम से पुकारा है।[1] यद्यपि इसकी अपनी सत्ता कम कार उत्पन्न करने में किसी प्रकार भ्रम नहीं । यदि ऐंद्रजालिक है और उसने गाँठ माया फंदा रक्खा है। अतः बिना ठग को जाने हुए ठगोरी से मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि माया मायापति के आश्रयण पर जीवित है। ब्रह्म से इसे असम्पृक्त नहीं माना जा सकता। अग्नि की दाहकता के सदृश ब्रह्म से इसकी आत्मा स्वयं सिद्ध है। ब्रह्म का सम्बन्ध माया से बिल्कुल स्पष्ट और ऋजु है। कबीर के अनेक पदों में यह भाव वर्णित होता है कि राम की शरण की गिरफ्त धारण करने पर उनकी माया नदि स्वभव चुल गई। 'राम कबीर राम के मरने यू लागा यू तारा' कह कबीर को कछु समर्थन परइ विषम तुम्हारी माया। कह कबीर करता की बात एक पलक में राम विराजा एतादृश अनेक बातें उक्त कथन की प्रामाणिकता में उपस्थापित हैं। एक स्थान पर माया को स्वयमुक्ति है ताको मैं मदा सो मरा मता। इस पर कबीर का उत्तर है— 'सो मरा रक्खालू। एक कुछ तुम्हारे हाथ लागऊ तो राजा राम रिसाइ'।[1] इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रह्म और माया का सम्बन्ध आश्रयदाता और आश्रित का है। उनके कृपा-कटाक्ष प्रभाव से ही साधक माया से आत्मगत स्थापित करने में क्षम हो सकता है।

सृष्टि तत्व के सम्बन्ध में कबीर ने माया से ही सम्बद्ध सृष्टिरचना का उल्लेख एकाधिक स्थलों पर किया है। विश्व की उत्पत्ति और स्थिति का प्रश्न औपनिषदिक द्रष्टाओं के समक्ष भी उपस्थित हुआ था— किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा (श्वे० १।१)। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सृष्टि के आरंभ में सृष्टि उत्पन्न करने की कामना प्रजापति में हुई उसने तप किया और एक रयि और प्राण के जोड़े की सृष्टि की। (प्रश्न १।३-१)। ऐतरेय के अनुसार आदि आत्मा ने लोकसृजन की कामना से चतुर्लोकों की सृष्टि की। आदि आत्मा और सृष्टि के मध्यवर्ती पुरुष की सृष्टि कर प्राण वायु दिया। परमात्मा-तत्व से आकाश आकाश से वायु वायु से अग्नि अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उद्भूत हुई। शाक्त शास्त्र में सृष्टि तत्व ही सर्वाधिकार विचार का विषय बना। नाथ सम्प्रदाय में परम शिव से दो तत्व शिव और शक्ति कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। कुण्डलिनी समस्त विश्व में परिव्याप्त होकर क्रमशः स्थूल स्वरूप ग्रहण करती है और शिव अपनी शक्ति के कारण जगत के विविध रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं।[2] इस भूमिका में कबीर के माया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथन पर विचार अपेक्षित है।

१—कबीर-दर्शन पृ० १६६।

सृष्टि क्रम का कबीर ने सूत्र रूप मे उल्लेख किया है क्योकि वे इसे विवत या अध्यास ही मानते हैं—

यहन सुनन को जिहि जग कीन्हा
जग भुलान सो किनहुँ न चीन्हा।
सत रज तम कैं कीन्ही माया
आपण माझे आप छिपाया।[1]

वे जगत् का प्रतिभासिका सत्ता अथवा व्यवहारिक सत्ता ही कहते है। माया की आवरण या विक्षेप शक्ति से हम ब्रह्म का स्वरूप बिलकुल नहीं दिखाई पडता। उनका विचार है कि त्रिगुणमयी माया के द्वारा पाँच तत्वा के सम्मिश्रण से जरायुज, अडज, स्वेदज तथा उद्भिज चार कोटियाँ आई। जीवा के लिए पृथक पाप पुण्य, मान अभिमान आदि बधना का निर्माण कर दिया।

माया साख्य की स्वतन्त्र प्रकृति नहीं अपितु ब्रह्माश्रित है।[2] इसीलिए परमात्मा को इन तीन गुणा से पर मानकर कबीर उन्हे चौथा पद प्राप्त, स्वीकार करते हैं—

राजस तामस सातिग तिन्यू, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे, तिनहिं परम पद पाया॥[3]

इस प्रसग मे यह उल्लेख योग्य है कि इस रूपात्मक जगत् का कर्ता कौन है? क्या इसको ब्रह्म ने बनाया है, माया ने? इस प्रश्न के उत्तर मे कबीर इसका कर्ता ब्रह्म और माया दोना को मानते है। जब वे भावावश मे होकर भक्ति के स्वर का आस्वाद करते हैं तो इस ब्रह्माड को ब्रह्म की सरचना मानते हैं—

जिनि ब्रह्माड रच्यो बहु रचना बरन बरन ससि सूरा।

यदा कदा वे इस ब्रह्माड को ब्रह्म वेश कहते है उस समय भी वह ब्रह्म की ही रचना ठहरता है—

माटी एक भेष धरि नाना। सब मे एक ही ब्रह्म समाना[4]

किन्तु माया का सम्बन्ध भी कबीर ब्रह्म से ही मानते है। इस तरह ब्रह्म की रचना का माया की रचना मे अतर्भाव सहजतया हो जाता है कुछ विद्वानो के अनुसार कबीर के उक्त "सत, रज, तम कैं कीन्ही माया' आदि वाक्यो मे साख्यवादियो के गुण परिणाम-वाद के अनुसार सृष्टि वर्णन लक्षित होता है।

माया एक ही है या अनेक इसके उत्तर मे कबीर ने तात्विक दृष्टि से माया को एक ही बताया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे इसके लिए 'अजामेका' अर्थात् माया एक

१—कबीर दर्शन—पृ० २१२।
२—कबीर दर्शन—,पृ० २११।
३—हिंदी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय—डा० बडथ्वाल, पृ० १०८।
४—कबीर एक विवेचन—डा० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० २६२।
५—श्वे० उपनिषद ४।५

ही है प्रयुक्त हुआ है । गीता में 'मम माया' का गए वचन प्रयोग उसकी 'एकत्व' प्रमाणित करने के लिए अलम् है । किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कबीर उसके तीन भेद कहते हैं । १—मोटी माया, २—झीनी माया और ३—विद्यारूपिणी माया अथवा सतों की दासी माया ।[1]

मोटी माया सब तजैं, झीनी तजी न जाय
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबनि को खाय

झीनी और मोटी माया के इन दो भेदों के लिए कबीर ने भरम और करम नाम भी दिया है । भ्रम और कर्म रूपी माया की व्यवहार में जाकर लोग अपना ज्ञान खो के लिए भी बैठते हैं । ये उभय समुनि हेतु भुलावे के स्थान हैं—

भरम करम दोउ बरते लोई । इनका चरित न जानै कोई ।
इन दोउ संसार भुलाया । इनके लोगे ग्यान गंवाया ॥

झीनी अथवा भ्रमरूप माया—आशा तृष्णा काम क्रोधादि वृत्ति मन में उद्भूत होकर मनुष्य को भ्रमित और अज्ञान्य रचना में आबद्ध कर देती है जिसमें वह शुद्ध मुक्त स्वभाव को विस्मृत कर संसार के दुःख में सन जाता है । उक्त भ्रम से कबीर का तात्पर्य इन्हीं मनोविकारों से ज्ञात होता है । वस्तुतः मिथ्याज्ञान अज्ञान अथवा भ्रम परस्पर पर्यायवाची है । सत्य ज्ञान के प्रकाश से ही इस भ्रम का उच्छेद संभव है । इस भ्रम रूपी माया को कबीर ने झीनी माया की संज्ञा दी है । झीनी का अर्थ है बारीक सूक्ष्म । किन्तु यह है कितनी प्रबल इसका अन्दाजा तो इसी से लगाया जा सकता है कि बिरले ही इसके चंगुल से बच पाते हैं । आशा और तृष्णा मनुष्य के संस्कारों का प्रतिरूप बनकर जीवों का पीछा नहीं छोड़ती और तथैव मान तो महान् ऋषियों से भी नहीं छूट पाया । नारद जैसे महाज्ञानी को उसने नहीं छोड़ा । भला उनके कमजोरियों का शिकार मानव इससे कैसे बच सकता है । एतदर्थ कबीर ने इस भ्रमरूप माया की घोर भर्त्सना की है ।

माया का दूसरा भेद है मोटी माया अथवा कर्मरूपा माया । इस कोटि में संसार के समस्त भौतिक पदार्थों का परिगणित किया जा सकता है । वेष भूषा जटाजूट, पूजा पाठ, साधना के मार्ग के उपभाव है । ये मनुष्य को अज्ञान के गर्त में ही गिराते हैं । साधारण मोटी का अर्थ स्थूल या सामान्य माया से है जो मनुष्य को अनेक नामरूपों में आकर्षण उत्पन्न कर अनेकशः कर्मों में उसे प्रवृत्त करती है । धन संपदा कंचन, कामिनी आदि का क्षेत्र यही है । कबीर के 'मोटी माया सब तजे' में जागतिक पदार्थों का मानसिक विकारों की अपेक्षा सहज त्याग ही ध्वनित होता है । कबीर ने प्रत्याख्यानक दोनों में इसकी भी कटु आलोचना की है । उनके अनुसार कनक और

१—कबीर-दर्शन—डा० रामजी लाल सहायक, पृ० १६८ ।

२—माया तजी तो क्या भया, मान तजी नहीं जाइ ।
मानि बडे मुनिवर मिले, मानि सबनि को खाइ ॥—कबीर दर्शन, पृ० १६६

कामिनी के द्वारा मद एव काम क वशाभूत होकर मनुष्य दु ख के कूप म सदा डूबता रहता है। रुई आवष्टित अग्नि जिस प्रकार उसका भस्माभूत बनाकर हा छाडती है,[1] उमी प्रकार कचन औरकामिनी मानव का अनान मे फँसाकर समाप्त कर दत है। एतदय उनम वचन क लिएकवि ने पग-पग पर सलाह दी है।

एकाध स्थल पर कवि न माया के एक तीसर भेद विद्यारुपिणी माया की ओर भी मकत किया है।[2] उन्होने "उपजि विनमे जनी मव माया" उपन्न होने वाले तथा विनाशशील सभी पदाथ माया है मायारहित, विरज ता केवल ब्रह्म हा है— ऐसा माना ह। विद्या और अविद्या शब्दा का प्रथम प्रयोग हम ईशावास्योपनिषद् मे मिलता है। श्वताश्वतर म विद्या और अविद्या क ऊपर दोना म भिन्न तथा विलक्षण तत्व का इन पर शासन करने वाला कहा है। अविद्या का अथ विनाशी जड वग है और विद्या का अविनाशी वग जीवात्मा आदि है। मिथ्या नान म पडे हुए जीव को कबीर माया अथवा मायामय समझते हैं।

कबीर क अनुमार माया का उक्त रुप माधका के लिए श्रेयस्कर है। इसी के आश्रयण का पाकर माधक का गति अव्यक्त तक हो पाता है। वे माया के इस विद्या रुपी स्वरुप का मता क लिए उपयुक्त ममझते है। कारण यह है कि माया का यह स्वरुप निज स्वरुप का पहचानन म महायक होता है। आध्यात्मिका के अनुमार "व्यवहार का महायता क बिना परमाथ का नान नहीं हा सकता और परमाथ को जान बिना निर्वाण का प्राप्त नहीं किया जा सकता।" इस सबध म कबीर का स्पष्टोक्ति है कि माया क आशीश अर्थात् आश्रय स जगदीश का साक्षात्कार सभव है, परन्तु इसे भी प्रक्लिष्ट साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

माया दासी सत की, ऊ भी देई असीस।
बिलसी अरु लातौं छडी सुमिर-सुमिर जगदीश।

इसके अलावा माया का अभिनान कबीर न रुपक, प्रतीका, अयोक्तिया तथा उलट बासिया के द्वारा भा पर्याप्त मात्रा म कराया है।' इस प्रयोग म वे सभी प्रकार के भावा का सरलतापूवक व्यक्त करन का अवसर प्राप्त कर लेते है। जैसे—

मैंगुलाम मोहि बेंचि गोसाईं। तन मन धन मेरा रामजीके सोईं।
आनि कबीरा हटि उतारा। सोई गाहक सोई बेचन हारा॥
बेचे राम तो राखे कौन। राखे राम तो बेचे कौन।
कहै कबीर मे तन मन जारया। साहिब अपना छिन न बिसारया॥

यहा माया के सामारिक हाट म जहा जीवा मा न शरीर धारण किया है, वहा वस्तुतः परमात्मा ही अपनी सत्ता मे सर्वत्र विद्यमान है, यहा कथन है। साथ ही किसी दास के क्रेता विक्रेता का पृथक् अस्तित्व उमे जीवात्मा क मन का भ्रान्ति क कारण है जिसके

१—कबीर दशन पृ० २००।
२—कबीर दशन पृ० २००।

माया ही है। एक स्थान पर कबीर उसे "करवाई बेलरी" कहकर सबोधित करते है जिसके फल बिल्कुल कड़वे है और भक्ति को "गुनवन्ती बनरा" का उपमान देते है। यह माया नित नवीन है आदि सृष्टि से ही यह अपने उसी रूप में विद्यमान है। कबीर इसे बुढ़िया कहकर सम्बोधित करते है। माया का यह दावा है कि वह नित्ययुवता है। उसके समक्ष कोई नारी अपने को युवती नही कह सकती। वह प्रवया होकर भी अपने को किसी प्रौढ़ा से कम नही समझती। पान खाते-खाते उसके दाँत चले गए हैं और पर पुरुषो के साहचर्य से उसकी उम्र समाप्त हो गई है। चतुर पुरुष जो उसने को नाना समझते है उन्ही को माया अपना आहार विषय बनाती है। और अपने अनात ब्रह्म के लिए ही सारा 'सिगार' करती है। निष्कर्ष यह कि सृष्टि के साथ ही माया की उत्पत्ति हुई है और वह आज तक जरा मरण रहित बनी हुई है। ज्ञानी पुरुष भी माया के चगुल से नही बच सकता। वह सदा अनात ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहती है। उसके सामने ससार का कोई निजी सम्बन्ध कुछ भी नही है। वह सब पर समान भाव से आक्रमण करती है और उसे अपने शिकार का विषय बनाती है। जीव और माया का क्रमश सुग्गे और बिल्ली से सादृश्य देते हुए जीव को सदा बिल्ली से सावधान रहने को कहते है। उनका कथन है कि 'कभी तो धोखा खा जायगा' इस आशा से वह दिन में तीन बार राह रोककर खडी होती है। केवल हरिशरण ही इस आपत्ति से मुक्त होने की एक मात्र औषधि है अथवा यह लाखो की भीड में भी घर दबाचती है। और किसी को दिखाई भी नही देता।

माया किस प्रकार जीवो को भरमा रही है इसको कबीर ने अपने माध्यम से व्यक्त किया है। अन्य जीवो की भाति कबीर पर भी उसकी दृष्टि लग गई है। कबीर उसे बहन सम्बोधित कर कहते है "ऐ मेरी बहन माया, तुम अपने घर जाओ तुम्हारे नेत्रो में विष लगा है। हम तो इस अजन रूप ससार का परित्याग कर निरजन मे ही सलिप्त हो गए है। हम किसी से कुछ लेना देना नही। उनकी बलिहारी है जिन्होने तुम्हे हमारे पास भेजा है। हम एक भाई और एक बहन है।' इस पर माया कहती है— ऐ कबीर, इस रक्तिम करवाल (मदमस्त नयनो) को देखो यह मेरा शृगार देखो। मै स्वर्गलोक से तुम्हे पति बनाने के लिए आई हूँ।" फिर कबीर बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर देते है— माया बहन तू यहाँ से चली जा, यह कबीर कमाने वाला जीव नही है। स्वर्ग के भोग-विलास मे पली तुझे तो पाट-पाटम्बर चाहिए। यह बेचारा कमला जाति का जुलाहा भला तुम्हारी क्या सेवा कर सकता है। किन्तु माया सहज ही शान्त होने को नही, उसने उत्तर दिया "भाई मैं तो अपना काम करती ही जाऊगी अपने स्वामी के समक्ष अगर हमे नेला देना हुआ तो मैं बरा करूगी। इस पर कबीर की प्रयुक्ति बड़े ही विश्वासपूर्ण हृदय से निःसृत जान पड़ती है। वे कहते है "मायारानी। पत्थर किसी भी स्थिति मे भीज नही सकता। कबीर को कोई शक्ति डिगा नही सकता। जिस मच्छ की तू मच्छी है, वह मेरा

रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नजर डालूँ तो वह नाराज हो जाय। तू और जगह जा। यहाँ तेरा कोई काम नहीं।[1] निष्कर्ष यह कि माया अनेक आकर्षक वस्तुओं में अपने को स्थापित कर लुभाने का अनवरत प्रयास करती है। ऐसे अवसर पर 'जिन्ह नामे रघुबीर ते उबरे ऐहि काल महँ'। भगवत्प्रपन्न-जन इससे प्रभावित नहीं होते और न उन्हें माया व्यापती ही है। माया भी भगवान् के आश्रय की ही वस्तु है।

एकाधिक स्थलों पर कबीर ने माया को 'डाकिनि' कहकर भी सम्बोधित किया है। इस माया-मोह के संसार में वह डाइनि कवि के मन में निवास-स्थान बनाए हुए है जो अहर्निश हृदय में दंश उत्पन्न कर रही है। इसका पाँच लड़के भी हैं (अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषय) जो रात दिन अनेक तरह के नाच नचाया करते हैं। किन्तु भगवान् का दास होने के कारण इस डाइनि (माया) का कुछ भी प्रभाव उनके ऊपर नहीं पड़ सकता। एतदर्थ, कबीर मोह-माया की दुनिया में आग लगा देना चाहते हैं। माया अनादि है वह सृष्टि की आरम्भिक अवस्था से अथवा उससे भी पूर्व रूप में रही है। माया को किसी ने जन्म नहीं दिया। वह शाश्वत है। सब देवताओं ने मिल कर इसे हरि को सौंप दिया है और तब से उसने कितने ही बार स्वरूप युगों में उन्हीं के साहचर्य में यह रह रही है। उसने सर्वप्रथम पद्मिनी का रूप प्राप्त किया—सौम्य तथा सुलक्षणा। किन्तु पश्चात् सर्पिणी का रूप धारण कर समस्त संसार को खा गई। इस नवयुवती के स्वामी इसके समक्ष भी निरीह हो गये हैं क्योंकि शिव विष्णु प्रभृति जिन देवताओं को मायापति समझा जाता है वे वस्तुतः माया द्वारा कल्पित उपाधियों के कारण ही पृथक्-पृथक् नामवाले देवता बन गये हैं। इस प्रकार यहाँ माया की अनादित्व लक्षित होता है और देवगणों की पश्चात्वर्तिता। यही कारण है कि स्त्री नित्य ही उनके सामने नग्न बनी रहती है। कबीर की कथनिका यह बतलाती है कि यह माया समस्त जगत् को प्रिय लगती है किन्तु रात बालकों को ही मार कर जा रही है। क्योंकि जन्म मृत्यु के भवचक्र में पड़े हुए जीव वस्तुतः माया के कारण ही नश्वर शरीर आदि को आत्मा मानकर नाना प्रकार की कर्म पाते हैं और पुनरपि जनन पुनरपि मरण के चक्र में पड़ते हैं। इस प्रकार यह माया अपने बालकों को ही मार रही है।

कबीर की उलटवासियाँ भी हिन्दी साहित्य की एक निधि रूप में सम्मान्य हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने विषय के अनुसार इसके पाँच विभाग किए हैं। जिनमें चौथा स्थान हमारे आलोच्य को दिया गया है—वे जिनमें आत्मज्ञान, माया का सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> अवधू ऐसा ग्यान बिचार।
> भेर चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पार।

1—कबीर वाणी, १२२।

ऊपर चले सुनगरि पहुँचे, बाट चले ते लूटे ।
एक जेवडी सब लपटाने, के बाँधे के छूटे ।
मदिर पैसि चहूँदिसि भीगे, बाहरि रहे ते दूपा ।
जिन नैनन के सब जग देखे, लोचन अछते अंधा ।
कहे कबीर कछु समुझि परी है, यह जग देखा धंधा ।

इसका विश्लेषण करते हुए डॉ० बडथ्वाल ने लिखा है—हे अवधू जो लोग नाव पर चढ़ (भिन्न देवों का आधार लेकर बढ़े) वे समुद्र में डूब गये (संसार में ही रह गये) किन्तु जिन्हे ऐसा कोई भी साधन न था वे पार लग गये (मुक्त हो गया)। जो बिना किसी मार्ग के चले वे नगर (परमपद) तक पहुँच गये किन्तु जिन लोगों ने मार्ग (अन्ध विश्वास पूर्ण परम्पराओं) का सहारा लिया वे लूट लिये गये (उनके आध्यात्मिक गुणों का ह्रास हो गया) (माया के) बन्धन में सभी बँधे हुये हैं, किसे मुक्त बद्ध कहा जाए। जो कोई उस घर में प्रविष्ट हो गए उनके सभी अंग भीग गये। (वे ईश्वरीय प्रेमवश में सिक्त हो गये) किन्तु जो बाहर रह गये (जो उसमें प्रभावित न हो सके) वे पूर्ण रूप से सूखे (उससे वंचित) वे ही सुखी हैं जिन्हे बाण लग गया है। (जो सतगुरु के वचनों द्वारा प्रभावित हो चुके है, अथवा जिनके भीतर आध्यात्मिक विरह जाग्रत हो चुका है) और अभागे वे दुखी वे हैं जिन्हें उसकी चोट नहीं लग सकी। अन्धे लोग (जिनकी आँखें संसार की ओर से बन्द हैं) सभी कुछ देखते है, किन्तु आँखवाले (सांसारिक मनुष्य) कुछ भी नहीं देख पाते।

अब हम बौद्ध-साहित्य, सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य तथा समस्त सन्त काव्य में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्दों की पृष्ठभूमि के रूप में विश्लेषण कर कबीर के कुछ शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे क्योंकि यह सांकेतिकता उपर्युक्त साहित्य में ही उत्थान प्राप्त की थी।

बौद्ध साहित्य मे प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना

प्रतीक	सकेतित अर्थ
अंधकार	अविद्या
पगहा	मोह
रस्सी	राग आदि

सिद्ध साहित्य मे प्रतीक और उसकी योजना

हरिणा	माया
जुलाहा	जीव
काग	अज्ञानी चित्त
ननद	वासना
चूहा या मूषक	अंधेरी रात और मन

नाथ-साहित्य में माया के लिए निम्नलिखित प्रतीक आए हैं—वेश्या, नारी, कामिनी, ऊँट, बरछा, शशा, बूढ़ी बाघिन, सास।

मन के लिए—ऊँट, मछली, मृग, भौंरा।
जीव के लिए—हंस, भौंरा।[1]

कहना न होगा कि कबीर ने अपने समस्त प्रतीक कुछ जो उनके अपने बनाए हैं उन्हें छोड़कर नाथ सम्प्रदाय से ही प्राप्त किए हैं जिनका प्रयोग संत काव्य में बहुलता से प्राप्त है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार माया के लिए मणा, मान्ना, मनारा, मगर, नकिणा, मकणा, मापणा, पापणा, जापिना, कामिना, भामिना, काल्णा ये शब्द मत्स्यनाथ स्वयं गये हैं। प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी के अनुसार नाथ सम्प्रदाय के अतिरिक्त सन्तों के निम्नलिखित प्रतीक उनकी रचनाओं में प्राप्त हैं। अविद्या के लिए पिंजरबद्ध कीट, मायाग्रसित मानव के लिए बगुला, माया के लिए सर्पिणी, राजा, बहन, नन्द, जन्ममाया के लिए धरती, आवरणरूपिणी माया के लिए अन्धकार, मायालुब्ध चित्त के लिए चोर आदि मननीय शब्द उल्लेख्य हैं।

उक्त शब्दों के अतिरिक्त कबीर ने माया के लिए पानी, पावक जिसमें मनुष्यरूपी कीड़े नष्ट होते हैं, की कल्पना की है। माया रूपी चक्की में पिसते हुए संसार की कल्पना कबीर की अनन्य विशेषता है। माया ऐसा वृक्ष है जो काटने से हरा और सींचने से कुम्हला जाता है। यह त्रिगुणात्मक सत्ता का वृक्ष है जिसकी छाया में अप्रतिम कष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों के काव्य का वर्ण्य विषय ब्रह्म निरूपण, जीव विश्लेषण, माया विवेचन शुष्क दार्शनिक शैली में सम्पन्न नहीं हुआ वरन् भावुक भक्त कवियों की वाणी में रचित है।[2] भावुकता के प्रयोग से उनका काव्य विषय प्रतीकों, अन्योक्तियों, रूपकों के माध्यम से परिपुष्ट कल्पना के सहारे से परिवेष्टित होकर जन-कल्याण की भावना को अतिदूर तक प्रभावित करता हुआ प्रेरणा का विषय बनता है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि पंथ के पुराण ग्रंथों में माया को कुण्डलिनी शक्ति का रूप बतलाया गया है। ब्रह्माण्ड में जो माया है पिण्ड में वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी का ही नाम माया है यही आद्या शक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है। कुण्डलिनी शक्ति ही जगत् का कारण है। इसी से सत्, रज, तम तीनों गुणों का प्रादुर्भाव हुआ है। यह कुण्डलिनी सर्पिणी के रूप और आकार की है। इसके मुख से सदा फुत्कार निकला करता है। यही फुत्कार सोऽहं का शब्द है। इसी में प्रणव भी विराजमान रहता है। इस कुण्डलिनी की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसके फुत्कार से मन चैतन्य होता है। इस मन की चैतन्यता के फलस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यह माया कुण्डलिनी अनेक प्रकार की विषय वासनाओं से परिपूर्ण है। ये वासनायें इसकी विषय

१—कबीर के काव्य में प्रतीक योजना—महेन्द्र कुमार।
२—निर्गुण काव्य दर्शन—प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी, पृ० ४६३।
३—हिन्दी संत साहित्य—श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित पृ० १८०।

हैं। इस कुण्डलिनी के विष प्रभाव से समस्त संसार मोह निद्रा में अचेत पड़ा है। संसार की समस्त व्याधियाँ इसी के कारण हैं।[1] इस प्रकार यह कुण्डलिनी सर्पिणी ही संसार में अनेक प्रकार के राग मोह द्वेष, दुख और यहाँ तक मृत्यु के लिये उत्तरदायी है। इसे जो मार सकता है वही विजयी होता है।[2]

किन्तु डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार यह कबीर-साहित्य का नहीं अपितु कबीर-पंथ का नया अध्याय है। यद्यपि कबीर ने अपने पदों में ओंकार या प्रणव की महिमा खूब गाई है। किन्तु साम्प्रदायिक व्याख्याकारों ने इसका अर्थ-व्यत्यय कर दिया है।

कबीर के माया विभावन के सांगोपांग विवेचन के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि क्या उन्होंने केवल माया के स्वरूप का उद्घाटन मात्र किया है अथवा उसके उच्छेदनार्थ साधना की भी चर्चा की है? निश्चयार्थ में कबीर ने माया से मुक्ति दिलाने के लिये अपने अनेक पदों में युक्तिपूर्वक निर्देश किया है। एतदर्थ उन्होंने माया के ध्वंसात्मक स्वरूप का वर्णन एक विस्तृत धरातल पर किया है। कबीर के अनुसार माया ऋषि मुनि दिगम्बर जोगी और वेदपाठी ब्राह्मणों को धर पछाड़ती है किन्तु वही "हरि भगतन की चेरी है। हरि भजन से काम, क्रोध लोभादि माया के सहचारियों का उन्मूलन अनिवार्यतया हो जाता है।

जन को काम क्रोध व्यापे नहीं त्रिष्णा न जरावे।
प्रमुदित आनन्द में, गोब्यंद गुण गावे।।

इसके लिये कबीर ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। ज्ञान में ही प्रभु के स्वरूप की जानकारी होती है। ज्ञान की आंधी आने पर भ्रम की टट्टी के साथ माया से बँधी नहीं रह पाती उड़ जाती है। त्रिगुणादि माया जगत के अनेक विकारों का प्रक्षालन हो जाता है और भगवत्स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। माया भुवंगिनी संसार भर को डस रही है। किसी को वह क्षण भर भी चैन नहीं लेने देती। राम रसायन को छककर पीने वाले ही उसके वश से परिहार पा सकते हैं। यह माया इस संसार में अनेक रूपों में व्याप्त है। जितना ही इससे छूटना लोग चाहते हैं वह फिर फिर आकर लिपट जाती है। आदर मान ज्ञान, जप तप, योग जल-थल आकाश, माता पिता पुत्र आदि सभी रूपों में इसी की व्यावृत्ति है। इस पादाक्रान्त कर व्यवहार करने पर ही कबीर के अनुसार राम का पुनीत आश्रय सुलभ हो सकता है।[3] माया चाहे जितनी भी शक्तिशालिनी हो पर जिसे भगवान् का आश्रय प्राप्त है उसे किसी प्रकार उससे भय नहीं होना चाहिये। माया ने तो "मीर मलिक छत्रपति छत्रपति राजा" सबको अपना ग्रास बनाया। मन्त्र तन्त्रादि की इयत्ता उसके समक्ष क्षीणप्राय है। जब संसार में किसी का

१—निर्गुण साहित्य-सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि—डा० मोती सिंह पृ० १६४।
२—कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १०६।
३—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
४—कबीर ग्रन्थावली पृ० ८८।

उपर्युक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भगवत्शरणागति तथा राम नामस्मरण से ही इस माया का उन्मोचन हो सकता है। संसार में कोई ऐसा नहीं जिस माया ने अपने चंगुल में नहीं दबोचा हो। केवल सांसारिक विषयों से विमुख रहने पर ही प्रभु की कृपा से माया-सागर में डूबने से अपने आपको बचाया जा सकता है। एक स्थान पर कबीर ने ज्ञान प्रकाश से माया-धकार का विनष्ट करने की बात कही है। किन्तु वहां भी मनुष्य के अंतर की परमात्मा की ज्योति से प्रकाशान्वित होने की बात है—' घट की जोति जगत प्रकाश, माया सोक बुझाना।"

अब कबीर के माया-विभावन पर पड़े बाह्य प्रभावों की चर्चा यहाँ अपेक्षित ज्ञात होता है। भारतीय चिन्तन धारा का हिंदी साहित्य पर विशेष प्रभाव है। यहां दर्शन तथा साहित्य परस्पर अभिन्न है'। अतः हिन्दी के निर्माता कबीर की कृति पर दार्शनिकता का अमिट प्रभाव परिलक्षित होना स्वाभाविक है।[1] यद्यपि उनका यह तत्व ज्ञान दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन का परिणाम नहीं अपितु अनुभूति और सार-ग्राहिता का प्रसाद है।[2] इसलिये दार्शनिक मतवाद का कोई ढांचा सन्त साहित्य के लिये उपयुक्त नहीं होगा।[3] वैसे दार्शनिक मतवाद की दृष्टि से इन मतों पर विचार किया जा रहा है। डा० राधाकृष्णन् और अण्डरहिल ने कबीर को रामानुजी विशिष्टाद्वैती एवं फर्कुहर ने भेदाभेदी माना है। आचार्य शुक्ल और बड़थ्वाल इन्हें अद्वैत-वादी मानते है।[4] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की माया भावना पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित धारणा का प्रतिपादन किया है—' कबीर दास के माया सम्बन्ध में जो कुछ है, वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ में ही। खूब सम्भव है कि कबीरदास ने भक्ति सिद्धान्त के साथ ही माया सम्बन्धी उपदेश भी रामानन्दाचार्य से ही पाया था, इसलिये वे बराबर भक्त को मायाजाल से अतीत समझते हैं।[5]

शंकराचार्य मायावाद के सर्वप्रधान आचार्य तथा अद्वैत सिद्धान्त के पुरस्कर्त्ता आचार्य थे। उनका मत है कि ब्रह्म सत्चित और आनन्द स्वरूप है तथा जगत् का एकमात्र कारण वही है। यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म की सत्ता धारण करता है। संसार की उत्पत्ति के संदर्भ में शंकर ने माया तत्व की कल्पना की है। माया को सत् अथवा असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः अनिर्वचनीय है। इसकी दो शक्तियाँ आवरण तथा विक्षेप है। माया का उच्छेद ज्ञान से संभव है। जीव के अज्ञानान्धकार के हट जाने पर ब्रह्म और जीव का तादात्म्य आसानी से हो जाता

१—कबीर दर्शन डॉ० रामजीलाल सहायल, प्राक्कथन से।

२—कबीर ग्रन्थावली स० श्यामसुन्दर दास, भूमिका से पृ० २५

३—मध्यकालीन संत साहित्य—डा० रामखेलावन पाण्डेय, पृ० ४०२।

४—वही, पृ० ३६०।

५—कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०१०६

है। कबीर की माया तत्त्व शंकर की माया से अभिन्न है। इसे कबीर ने ब्रह्म माया कहा है। काम क्रोध लोभ मोहादि माया के अनेक अङ्ग हैं। सत रज तम इसके तीन गुण हैं। इसके वश ब्रह्मादि सब देवता भी परवश में हैं। माया से सम्बन्ध रखने वाले उसके आकर्षण के वशीभूत होकर अनेक कष्टों का द्वार विवृत करते हैं। इसके ऊपर पार प्राप्त करने वालों का मन शान्त रहता है। इस प्रकार कबीरदास समस्त सन्तमत की माया धारणा के सम्बन्ध में डॉ० त्रिगुणायत का मत बड़ा ही उपयुक्त जान पड़ता है— सन्त लोग शंकर की माया सम्बन्धी धारणा से भी प्रभावित प्रतीत होते हैं। वे लोग शंकर के समान ही माया को मिथ्या रूप मानते थे। सन्त कबीर की सत रज तम की माया तथा मुल्लाओं की नाम रूप वाली मिथ्या माया मानिए इसके प्रमाण में रखा जा सकता है। अतः सन्तों पर शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों का बहुत बड़ा ऋण है इसके अतिरिक्त वैष्णवमत से भी उन्होंने माया तत्त्व को ग्रहण किया है[1]। नाथ पंथियों के सदृश ही ये कनक-कामिनी की निन्दा करते हैं।

कबीर की माया-भावना का निष्कर्ष

(१) माया की स्वतन्त्र स्थिति नहीं, वह प्रभु के आश्रय पर ही जीवित है। तू माया रघुनाथ की।

(२) माया ही मनुष्य को सांसारिक विषय-वासनाओं में आबद्ध कर देती है तथा अनेक आकर्षणों और प्रलोभनों में फँसाकर मुक्त नहीं होने देती। कनक और कामिनी इसके दो विशिष्ट अंग हैं।

(३) माया का प्रभाव मानव समुदाय पशु पक्षी तथा उद्भिज मात्र तक ही सीमित नहीं अपितु इसका विस्तार जल थल और आकाश सभी स्थानों पर समान रूप से है।

(४) माया द्वारा ही सृष्टि प्रक्रिया का प्रारम्भ तथा विकास होता है।

(५) माया के दो भेद हैं—मोटी माया और झीनी माया। इसके दो रूप हैं— मोहक और भयंकर। मोहिनी और बाघिनी दोनों शब्दों का प्रयोग माया के विशेषणों के रूप में।

(६) कबीर ने माया के स्वरूप को प्रतीकों द्वारा भी स्थापित करने का प्रयास किया है।

(७) माया का उच्छेदन भगवत्शरणागति तथा उसके स्वरूप बोध के नानात्मक परिदृश्य से ही सम्भव है।

(८) माया और मन का अविच्छेद्य-सम्बन्ध है अतः मन के चांचल्य को रोककर भगवान् की ओर उसकी गति प्रवर्तित करने में उससे मुक्ति असंदिग्ध है।

१—कबीर ने वैष्णव विचार धारा से निम्नलिखित तत्व ग्रहण किए हैं—(i) भगवान् के विविध नाम (ii) ब्रह्म के निर्गुण सगुण दोनों स्वरूपों के प्रति श्रद्धा, (iii) भक्ति उपासना एवं प्रपत्ति (iv) वैष्णव योग, (v) माया-तत्व।

कबीर दर्शन पृ० १०३।

(६) कबीर न तत्व निरूपण के स दभ मे माया विवचन का अप ाया प्रभूत विस्तार िया है ।

(१०) कबार की माया-धारणा उपनिषद् गाता भागवत तथा अद्वैत वेदा त के अनुरूप ही ह ।

गुरु नानक और आदि ग्रन्थ

म ययुग म जिन महा|माआ न भारताय धम माधना और ममाज यवस्था का गभार भाव स प्रभावित किया है उनम गुरु नानक दव का स्थान प्रमुख है ।[1] ये कबार की ही भाति भगवान् क निगुण रूप क उपासक थे ।[2] इनके भक्त्यात्मक पदा और भजना का ममादर जनता मे खूब हुआ । य सिख मप्रदाय क मूल प्रवतक के रूप मे मान जाते है । इस सम्प्रदाय का भक्तिभाव मे सिक्त भजन लिखने तथा आत्मबल और चरित्र शुद्धि का प्रेरणा प्रदान करन वाले माहि य का सजना मक अभिवृद्धि के हेतु स्वरूप हिंदी साहि य का श्रावृद्धि म मह वपूण योगदान है । सिक्खा का आदि ग्र थ, जिसकी प्रतिष्ठा उनके अतिम गुरु गावि द सिंह द्वारा गुर परम्परा के समापनाथ हुई था केवल धम माधका के लिए हा परम निधि नही है वह हिंदा माहि य के विद्यार्थियो क लिए भी अपूव न भडार है । इस ग्र थ मे गुरु नानक दव की वाणियाँ सगृहीत है । सच्चे हृदय मे निकले हुए भक्त क अ य त सीधे उद्गार और सत्य के प्रति दृढ रहन के उपदेश कितन शक्तिशाली हो सकत है यह नानक का वाणिया ने स्पष्ट कर दिया है ।[3] इस प्रकार गुरु नानक मध्ययुग के एक मौलिक चिंतक क्रातिकारी सुधारक, अद्वितीय युगनिमाता महान् देश भक्त दीन दुखिया क परम हितैषी तथा दूरदर्शी राष्ट्र निर्माता प्रमाणित हात है ।[4]

हि दा साहि य के इतिहासकारा न नानक का नाम बडे आदर के साथ लिया है । आचाय रामच द्र शुक्ल, डा० रा० कु० वमा तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति एकस्वर मे इ ह कबार के बाद स्थान दन क अभिलाषी हैं । नानक क विचार कबीर से बहुत कुछ मिलते-जुलत है । डा० जयराम मिश्र न ' नानक वाणा '[5] नामक ग्र थ का सपादन कर उनक विचारा को एकत्रित रूप प्रदान कर उसके अथ वैशिष्ट्य को मवमुलभ बना दिया है । उसी के आधार पर हम मत नानक के माया सबधी विचारा का अ ययन प्रस्तुत करेंगे ।

गुरु नानक देव क अनुसार माया का सरचना परमात्मा के द्वारा हुई है ।

१—हिंदी साहित्य उद्भव और विकास—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १४८ ।
२—हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८० ।
३—हिंदी साहित्य उद्भव और विकास—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १४६ ।
४—नानक वाणी—डा० जयराम मिश्र, भूमिका से उद्धृत ।
५—नानक वाणी—डा० जयराम मिश्र, सपादक—श्रीकृष्ण दास ।

वेदान्तियों के सदृश गुरु नानकदेव को माया की स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार्य नहीं। सृष्टि की आरंभावस्था में निर्गुण और अव्यक्त परब्रह्म जिस दोषात्मक नाम-रूपात्मक सगुण शक्ति से व्यक्त अर्थात् दृश्य सृष्टि रूप में दृष्टिगोचर होता है वस्तुतः गुरु उसे ही माया कहता है। नानक के अनुसार निरंजन परमात्मा ने स्वयं अपने आपको व्यक्त किया है और समस्त जगत् में वही अपनी क्रीड़ा का संचार कर रहा है। तीनों गुणों एवं उनसे सम्बद्ध माया की रचना उसी परमात्मा ने की। मोह की वृद्धि के साधन भी उसी ने उत्पन्न किए। माया अपनी मोहिनी शक्ति से सारे संसार पर प्रभुत्व स्थापित किए हुए है। यह जगत् में नानारूपों में व्याप्त है—कंचन कामिनी पुत्र कलत्र सब उसी के रूप हैं। माया ने जगत् के चित्त में अपना निवास-स्थान बना लिया है और भ्रम के कारण जीव के निमित्त अनेक अपरूपों में प्रकट हो रही है। काम, क्रोध अहंकार ये सभी उसी के वश के प्रतिनिधि स्वरूप हैं जो विनाश के समीप पहुँचाने में किसी क्षण पूर्णतया क्षम हैं। सामाजिक जन माया की ही पूजा अर्चा को प्रामाण्य मानते हैं उन्हें वास्तविक स्वामी का पता नहीं रहता व पहचान नहीं पाते। नानक के अनुसार यह प्रायः सिद्ध स्थापना है कि समस्त जगत् में माया की प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठापित हो रहा है। फलस्वरूप लोग हरि को नहीं देख पाते। समस्त जगत् माया के मोह तथा काम रूपी यम के बन्धनों में जकड़ा हुआ है जिसे नामस्मरण के उसमें मुक्ति कदाचित् असंभव है। जो जन्म धारण करता है उसे रोग अवश्य व्यापता है। शरीरं रोग मंदिरम्। इसके अतिरिक्त अहंकार और माया के दुःख में संतप्त प्राणी जर्जर हो जाते हैं। जीवों के पौनःपुन्य जन्म ग्रहण करने अथवा उत्पन्न होने की पृष्ठभूमि में हेतु स्वरूप अहंकार ही है। माया को भ्रम इसी के कारण घेरे रहता है। यह बंधन बड़ा ही विवेकहीन सौदा है क्योंकि इस माया मोह के प्रसार में तृप्ति का कण प्राप्तव्य नहीं है। यह माया किसी के साथ नहीं जाती। इसने ही समस्त जगत् को मोहित किया है विरले ही इस तथ्य से अपने आपको अवगत रखते हैं। माया के गोरख धंधे में यह समस्त संसार तन मन की सुधि खो दिया है और काल खड़ा खड़ा सबको छला रहा है। विषय वासना की प्यास बड़ी ही प्राणघातक होती है जिस प्रकार मछली जलाभाव में प्राणत्याग देती है उसी प्रकार मायात्मक (शक्त साकत) विषय तृष्णा में मर जाता है। चित्त का प्रवेश माया रूपी विष में बड़ी आसानी से हो जाता है। उसका सारा चातुर्य अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता है। माया की स्थिति मिथ्यात्मक है। अहंकार और अनेक विवादों में पड़कर मानव अन्ततः मृत्यु को प्राप्त होता है। माया का मोह ही संसार सागर है। शब्द द्वारा ही योगी उसका संतरण करता है और अपने कुल को भी तार देता है। संसारी जन तो माया माया रटते हुए मर गए किन्तु माया किसी के साथ नहीं गई। जीवात्मा तो उठकर चलता बना और माया यहीं चिपकी रह गई। एतदर्थ नानक पुनः-पुनः माया और ममता के चिंतन में पड़े हुए जीव को चेतावनी

अवश्य फँसाया जायगा। मोह का बंधन तोड़

फेंकना निरा आसान नहीं। सच्चे साधक ही उससे मुक्त होते हैं। वास्तव में काल की व्याप्ति-शक्ति के माया और मोहासक्ति के हेतु-स्वरूप ही होती है। द्वैत भाव की उपासना के कारण काल को उसे पछाड़ते देर नहीं लगती।[1] इस प्रकार नानक ने समस्त जागतिक परितापों का मूल उत्स माया में ही अन्तर्हित माना है। अहंभाव शून्यता तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह के परित्याग द्वारा चित्त को अनाविल कर नाम बोध की साधना में ही उससे परित्राण संभव है। माया अनेक रूपों में प्रतिरूपित होकर संसार में परिव्याप्त है। अतः उसके बन्धन को विवृत करना आत्म सामर्थ्य की बात नहीं।

नानक ने माया का बड़ा ही तादात्म्य सम्बन्ध मन से स्थापित किया है। वस्तुतः जिसके द्वारा मनन कर्म का कार्य सम्पादित किया जाय वह मन है। विषयों के प्रति आसक्ति इसी मनन कार्य से होता है। नानक ने मन की उत्पत्ति पंचतत्वों से अनुमित की है—"इहु मनु पंच ततु ते जनमा" उसके उन्होंने दो रूपों की चर्चा का विषय बनाया है—(१) ज्योतिर्मय अथवा शुद्ध स्वरूप मन, (२) और अहंकार भय अथवा माया से आच्छादित मन इसी ज्योतिर्मय मन में आध्यात्मिक वैभव का मनोहारी निवास है— मनमहि माणकु लालु नामु रतनु पदारथु हीरु। अहंकार पूर्ण मन हाथी के समान मदमस्त है। वह मायापूर्ण (साकत) शान के कारण दीवाना भी रहता है। यह मन माया के वनखंड में विमोहित होकर इधर उधर फिरता रहता है और काल के द्वारा प्रेरित किया जाता रहता है —

> मनु मगतु साक्तु देवाना
> बनखंडि माइया मोहि हैराना
> इट उत माहि काल के चापे। ना० वा० पृ० ६०

मन का प्रथम रूप भगवान् के रूप, गुण के स्मरण में सदा लवलीन रहता है तथा दूसरा माया में अहर्निश लिप्त रहता है। चूंकि यह माया में संलिप्त है अतएव इसके लिए कहना-सुनना वायु की ध्वनि--सदृश निरर्थक है। परमात्मा के प्रति एकनिष्ठ होने से ही प्रभु की कृपा का सर्वार्पण सुलभ होता है। बड़े-बड़े पोथियों के प्रत्युपदेश को तथाकथित समन पण्डित जन आचरण करने को कहते हैं। किन्तु स्वयं माया के व्यापार से मुक्त होकर नहीं चलते। मिथ्या कथन में ही सारा जग भटक रहा है। एतदर्थ, नानक मन की बागडोर को सदा संभाल कर पजा में रखने की नेक सलाह देते हैं। उसके भूलने पर हाथ से छूट जाने पर घर में किंवा काया मध्य माया का प्रवेश हो जाता है। काम से अवरुद्ध हो जाने पर मनुष्य अपने निर्धारित मार्ग से, जो सब भाँति श्रेयस्कर है, स्थिर नहीं रह पाता और च्युति की संभावना ही नहीं बनी रहती बल्कि वह हाथ भी लगती है। कलियुग ही शराब पिलाने वाला कलवारिन है माया ही माठा

१—मनमुख मालु विश्रापदा मोहि माइग्रा लागे।
खिन महि मारि पछाड़सी माह दूजे ठागे॥ ना० वा०, पृष्ठ ६६८।

संतोष का अंकुर पनपने लगता है। काम, क्रोध, लोभ मोह तृष्णा आदि माया के समस्त परिवार का विखंडन तथा उसका तुरंत प्रारम्भ हो जाता है। दरअसल यह मन प्रभु का ही दिया हुआ है। गुरु इन बातों ने ही इस दृश्यमान वस्तुओं का सृजन किया है। माया के विष तथा मोह के प्रति आकर्षण का निर्माण उन्हीं के द्वारा हुआ है। सं गुरु माया और मोह को गवाकर मन को हरि चरणों में समाहित कर देता है। सद्गुरु से मिलने पर ही वह परमात्मा में मिलन करता है। माया की सारी रचना धोखा है; भ्रांति है जैसा कि विचारमात्र है।— बाबा माइया रचना धोहु अंध नामु बिसारिआ सद्गुरु प्राप्ति नाम जप प्रेमाभक्ति में माया का बंधन काटने में ही परमानंद की प्राप्ति असंदिग्ध बन सकता है। परमेश्वर में निर्हेतुक प्रेम हो जाने के बाद हम देखेंगे कि वह परमात्मा अपना अलौकिक सृष्टि, भ्रांति की रचना देखकर कितना प्रसन्न हो रहा है।

इस प्रकार माया का विश्लेषण तथा उसके ध्वंसात्मक स्वरूप का विवेचनकर अन्य संत कवियों की भाँति नानक ने भी परमात्मा के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति निवेदित करना ही जीवन का अंतिम लक्ष्य माना है। माया का मिथ्यात्मक रूप भी हम क्लेश, पीड़ा तथा प्रताड़ना का सत्य जनक इसलिए बन जाता है, कि 'तत्' अथवा 'सत्' स्वरूप को हम भुला जाते हैं। गुरु नानक ने 'माया' का 'कुदरत' नाम भी स्वीकार किया है जो माया शब्द के एक नवीन पर्याय के रूप में ही हमें नानक साहित्य में मिलता है।

गुरुग्रन्थ साहिब की माया-भावना

"गुरुग्रंथ साहिब" सिक्खों के पंचम गुरु अर्जुनदेव द्वारा सं० १६६१ में संगृहीत सिक्ख गुरुओं तथा अन्य वाणियों का, १४३० पृष्ठों में समाविष्ट एक वृहत्काय संग्रह है जो हिन्दुओं में वेद, पुराण और उपनिषद् के समान मुसलमानों में कुरान, ईसाइयों में होली बाइबिल के सदृश सिक्ख सम्प्रदायानुयायियों का परमपूज्य ग्रंथ है। इसमें आरम्भिक छः गुरुओं के अतिरिक्त कबीर नामदेव, रविदास, त्रिलोचन, शेख फरीद आदि सन्तों की वाणियाँ भी गृहीत हैं।[1] इसके महला नाम प्रकरण में नानकदेव की वाणियाँ और शब्द अर्थात् गेय पद तथा सलोक अर्थात् दोहबद्ध साखियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओं—जपुजी, असावारवार रहिरास और सोहिला का भी संग्रह है।[2] महला २ में द्वितीय गुरु अंगद की रचनाएँ हैं। गुरु अमरदास की रचना आनन्द है। गुरु अर्जुनदेव ने 'सुखमनी' बावन अखरी, 'बारामासा' की रचना की। गुरु गोविन्दसिंह की रचना दसवाँ पातशाह का ग्रंथ नाम से प्रसिद्ध है।[3] गुरु ग्रंथ साहिब से ही सिक्खों की दार्शनिक विचार धाराएँ अनुप्राणित हैं। "गुरु ग्रन्थ

१—ब्रजमाधुरी सार-वियोगी हरि, पृ० १६८।

२—हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास-डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १५०।

३—हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३६३।

साहब का यथा-सिद्धांत गुरु नानक की माया भावना से मिलती-जुलती है। आदि ग्रन्थ में माया को उस शक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है जो जीव को ब्रह्म से पृथक कर देती है। माया के ही कारण जीव परमात्मा को भूल जाया करता है। यह माया स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नहीं अपितु इसकी रचना परमात्मा के 'हुकुम से हुई है। माइआ मोहु हुकुमि बणाइआ तथा माइआ मोहु मेरु पुनि कोनी आपे भरमि भुलाए आदि वाक्यों से उक्त कथन की पुष्टि होती है। पंचम गुरु अर्जुन देव ने स्थान-स्थान पर माया की रचना परमात्मा द्वारा मानी है — धुर की भेजी आई आमरि। अर्थात् यह माया परमात्मा द्वारा प्रेषित उसी के कारिंदे के समान जगत् पर शासन करने के लिए है। इस प्रकार की सत्ता (माया) की रचना राम ने की है। इसके अन्य नाम शक्ति और कुदरत भी हैं। शंकर ने भी माया की शक्ति तथा प्रकृति कहा है माया शक्ति प्रकृतिरिति च। यह माया परमात्मा की दासी है जिसका वास्तविक प्रसार जीव जंतुओं को मोहनीलित करने के लिए प्रतिष्ठित है। दासी की दासत्व भी स्वामी की प्रत्येक आज्ञा को ननु नचु किए बिना सर्वदा पालन करने में है। माया परमात्मा के इशारे पर नाचने वाली में बिकी है— अगिकारी कीनी मान्या। सांख्यिकों ने प्रकृति को (माया को) परमात्मा सदृश स्वतन्त्र सत्ता माना है परन्तु वेदान्तवादियों ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की और इसे परमात्मा के अधीनस्थ माना। गुरुओं ने भी माया को परमात्मा की दासी स्वीकार किया। यहां वेदान्त-दर्शन के निकट उनके विचार सरणि स्थापित की जा सकती है। दर्शन में माया को इल्यूजन (भ्रम) मिथ्या सत्ता में पूर्ण माना गया है। आदि ग्रन्थ में भी माया के इस रूप को स्वीकार किया गया है।

माया का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। गुरु अर्जुनदेव ने इसके स्वरूप का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इसके माथे में त्रिकुटि है (सत्व रज तम) इसकी दृष्टि बड़ी ही क्रूर है तथा है कटुभाषिणी। अपने प्रियतम का सर्वैव दूर समझने वाली सदा बुभुक्षित रहती है। परमात्मा ने ऐसी विलक्षण सत्ता की रचना की है जिसने सारे जगत् को खा लिया है। केवल गुरु ने ही इसकी ठगमूरि न जो समस्त जगत् को विमोहित किए हुए है देखी की है। माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप में ही सृष्टि लीला का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसका संकेत हम पग-पग पर अपने आलोच्य ग्रन्थ में मिलता है।

दूजै भाई पड़े नहिं बूझै। त्रिबिध माइआ कारणि लूझै।
टनि माइआ त्रैगुण वस कीनी। आपन मोह घट घटि दीनी।

गुरु अर्जुन ने माया की महिमा शक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है यह बलवान् मन को मोहनेवाली घर गली घाट-बाट पर सज्जित दृष्टिगोचर होनेवाली सुन्दरी है। इसका प्रभाव तन और मन दोनों पर पड़ता है। शब्द स्पर्श रूप रस गंध के स्वरूप ग्रहण ने ही उसका तद्वत् प्रभाव कार्यकारी सिद्ध होता है। एक गुरु प्रसाद ही ऐसी दवा है जिसमें उसका यह चटकीला रूप हेय और कुत्सित दिखाई पड़ता है। इसका

प असीम है। यह अनेक रूपात्मक है। पुत्र, गृह, स्त्री यौवन आदि अनेक रूपों को धारण कर यह जगत् की ठगनी है। गुरु नानक ने इसकी अनन्तता का बड़ा ही हृदयावजक चित्रण किया है।

हे प्रभु जो दृष्टि के सामने है जो कुछ श्रुतिगोचर हो रहा है वह सब तेरी ही कुदरत है। यह संसार जो सुखों का मूल है वह सब तेरी ही कुदरत है। तेरी ही कुदरत का परिणाम है। सारा दृश्यमान जगत् वेद पुराण तथा अन्य सार विशीर्ण विचार तेरी ही कुदरत के अंतर्गत है। जीवों का जीना और उसके अन्य पहलू जातियों का वैशिष्ट्य रंगों की भिन्नधर्मिता तथा जगत् के समस्त जीवों की जीवता कुदरत के ही कारण है। संसार की अच्छादया मान तथा अभिमान में उसी की कुदरत बोल रही है। पवन, पानी अग्नि, धरती, आदि पंचभूत कुदरत की ही रचना है। नानक के अनुसार प्रभु सारी कुदरत को अपने हुकुम' के अंतर्गत रखकर ही सँभाल रहा है।

माया की महिमा शक्ति के कारण ही उसका प्रभुत्व सारे संसार में व्याप्त है। नरक स्वर्ग अवतार सुर सभी इसी के अधीन हैं। बड़े पंडित ज्योतिषी माया के व्यापार में भूले रहते हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश सभी माया के तीनों गुणों में आबद्ध हैं। गुरु अर्जुनदास कहते हैं माया मोह के प्रभुत्व के कारण ही ब्रह्मा ने चारों वेदों की वाणी का प्रकाशन किया तथापि माया मोह के प्रसार से पृथक न हो सके। महादेव यद्यपि नाना है अपने में मस्त रहते हैं पर उनमें भी माया का तमोगुण और अहंकार बहुत अधिक है। कृष्ण अर्थात् विष्णु का अवतार ग्रहण करने से ही मुक्त नहीं है। जब त्रिदेवों का यहां हाल है तो अन्य देवी देवताओं का कहना ही क्या ?— मोहिआ माहे देवा सभि देवा'।

गुरु नानक के प्रसंग में हमने उनके माया रूपी सास" जैसे रूपक का विश्लेषण किया है। यहाँ गुरु अर्जुन का माया रूपी जाल का रूपक भी उल्लेख्य महत्व का अधिकारी है— मनुष्य रूपी पशु पक्षी माया रूपी जाल में पड़े हुए हैं। वे माया के जाल में पड़कर भी निकलने की चेष्टा नहीं करते। वे काल गति से अपरिचित रहते हुए माया जाल में अनेक क्रीडाएँ किया करते हैं। पुनः वे कहते हैं— माया रूपी जाल फैला हुआ है उसके भीतर विषय सुख-रूपी चारा रखा गया है। तृष्णा के वशी-भूत जीव रूपी पक्षी उस माया रूपी जाल में विषय सुख रूपी चारे के लाभ से फँस जाता है।' इसी तरह गुरु अमरदास ने माया को एक सरोवर के रूप में चित्रित किया है। यह सरोवर अत्यन्त सजल है। इस दुस्तर सरोवर में तरना सहज नहीं। तृतीय गुरु अमरदास ने माया रूपी सर्पिणी की प्रबलता की व्यंजना इस भाँति की है—माया नागिनी का स्वरूप धारण कर सारे जगत् में लिपटी हुई है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जो इसकी सेवा सुश्रूषा में लगते हैं उन्हीं को यह पकड़कर ग्रास बना जाती है। गुरु अर्जुन के विचार भी कुछ इसी प्रकार के हैं जिसमें उन्होंने मायाशक्ति का विश्लेषण किया है।

यह सब जीव के मायाजनित परिणाम निदर्शन हेतु ही कष्टों की शृंखला बताई गई थी। सचमुच आदमी पग पग पर कष्टों का सामना करता है किन्तु उससे

(४) ससार के सभी अनर्थों की जड माया ही है। इसके आकर्षण मे बडे-बडे ऋषि महर्षि भी आकर छले जाते है।

(५) माया ही ससार के सारे सम्बन्धो के मूल मे है। कचन कामिनी इसके अनेक आकर्षण रूप जगत मे प्रमुख हैं।

(६) माया का ससार त्रिगुणो (सत्व रज, तम) से आवृत और वस्तुत निर्मित हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और सहार (स्रष्टापालक और सहार इसी के द्वारा होता है। ब्रह्मा विष्णु और शिव ही इन गुणो के प्रतिनिधि देवता हैं।

(७) इन गुरुओ ने अनेक रूपको द्वारा माया की व्यमात्मक स्थिति को समझने का प्रयास किया है।

(८) माया के पर्यायो मे 'कुदरत' और 'शक्ति (शान्ति) शब्दो का विशिष्ट नाम इनकी रचनाओ मे प्रयुक्त है।

(९) माया से मुक्ति आवश्यक है और यह सत्सग नाम जप आदि से सहजया सभव है।

(१०) माया के पच विकारो मे क्रोध लोभ मोह अहकार और आसक्ति ये पाँच प्रमुख है। माया शब्द का अर्थ धन भी है।

(११) साख्य के सिद्धान्तो का तत्व ग्रहण सिक्ख गुरुओ को अवमान्य है।

धर्मदास

कबीरदास के सवप्रधान शिष्यो तथा उनकी विचारधारा के प्रति सर्वाधिक श्रद्धाशील भाव रखने वालो मे धर्मदास जी सुविख्यातनीय है। कबीर के प्रति इनके सद्भाव भावो का अनुमान इस कथन से सहज मे लगाया जा सकता है कि वे अपने कल्याणार्थ उनसे प्रार्थना करते है परमात्मा का पद प्रदान करते हैं। इनकी रचनाओ का एक सग्रह 'धनी धर्मदास जी का शब्दावली' नाम से वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ है।[1] इनकी रचना अन्य सत्यात्मक होते हुये भी भाव-माधुर्य की दृष्टि से कबीर से भी उत्कृष्ट जान पडती है। इनके विनय के पद अनूठा भाव भगिमा से पूर्ण तथा इनकी वाणी प्रेम-भक्ति की निर्मल रसधारा से ओत-प्रोत है। इनके यहा माया भक्ति रस के बाधक स्रोतो मे अनन्य माना गया है। तथा भवसागर मध्य महाजालो से उबारने की प्रार्थना की गई है। धर्मदास जी कहते है कि हे दीन-पुरुषो के रक्षक बिना भक्तो के प्रति पक्षपात किये उनकी स्थिति नही सुधर सकती। शरण मे आए हुए की लज्जा तो स्वामी को रखनी ही है। माया ने निर्गुण नाम का फदा डालकर असत पाश मे हम आबद्ध कर लिया है। इस ससृति सागर के मध्य अनेक उलझनो मे दिग्भ्रमित हम मात्र हो इनसे विनिर्मुक्त करो। अब

१—उत्तरी भारत की सत परपरा—प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २७० ।

कदापि सभव नहा। राम के बिना जागतिक दु खा का निवारण करन वाला दूसरा नहीं। ससार म विधि-निषेध का चक्र इतनी प्रबल गति मे गतिमान है कि उसके स्वरूप का पहचानना आसान नहीं। यह जप, तप, पाप पुण्य और इसी तरह के अनेक विधि निषेध माया के ही प्रति रूप हैं। मन की गति इनम मद्य बिना हानि-लाभ की परवा किए समा जाती है फलत आवागमन के चक्र म पिसत हुए अनक कष्टा को भुगतना पडता है। इस प्रकार राम के बिना अपर कोई तरण-तारण करन वाला नहीं है।[1] इस ससार मे सवप्रथम जन्म ग्रहण करन के उपरान्त ही राम की सेवा म अभिनभूत हो गइ। बाल-बुद्धि प्राप्त होन के चलते माया-जाल म पडकर जीव न अपना सारा विवेक खो दिया है। पश्चात् पछतान म क्या होने वाला है, जब उसी समय सचेष्ट होन का आवश्यकता था।[2]

केशव की माया बडी विकट है। इसी मे रैदास बार-बार अपनी विकलता का कारण उसी के ऊपर लादकर परमात्मा म पनाह मागत है। यह माया ससार भर का अपना ग्राम बनाए हुए है। इसा के कारण लाभ-मोह का आकषण मनुष्य का सताता है। इद्रिया का दुःख ता और दारुण हुआ करता है जिससे असह्य पाप उद्गत होते हैं। केवल अन्तमन स रघुनाथ का भजन करन म सारे तापा और सतापा से विमाचन सभव है। एक स्थल पर वे भगवान् के चरणा का कमल तथा अपन मन का भ्रमर कहकर यह बतलाते है कि इस क्रम म भगवान् के चरणा का रसपान करते समय हमन राम धन प्राप्त किया है। जिसन राम धन पा लिया भला सपति-विपति का यह माया पटल उस कैसे आकर्षित कर सकता है? इसस पूव यह दास अविद्या के भ्रमजाल म पड गया था। इसीलिए राम नाम विस्मृत हो गया था। किन्तु अब राम नाम पा लेने पर उसे कुछ नहा चाहिए। अब माया का साम्राज्य भी उसके उभय नेत्रा स अदृश्य हो गया। वैसे राम नाम के अभाव म यह मिथ्या माया ससार का तप तापा स प्रदग्ध काय करती है। राम के नाम स्मरण से उन त्रिविध तापा पर अधिकार जमाया जा सकता है। यह शरीर खाखला है तथा माया भी नि सार है। प्रत्युत् यह कहा जाय कि हरि के अभाव म यह मानव जन्म हा (काया) तत्वरहित है। पडिता की बानी (उपदेश) स्वय उन्हा के सदृश सारहीन है। और इस प्रकार परमात्मा (हरि) के बिना यह सारी सृष्टि ही निकम्मी है। अत रैदास बारम्बार प्रभु से विनती करत हैं कि उनका सेवक होने के नाते माया स वे उन्हे रक्षा प्रदान करें इसीलिए वे अपन मन का अहर्निश राम नाम लन के लिए कीट भ्रमर न्याय" से प्रबोधत है क्योंकि माया के भ्रम म भूल जान पर भगवान् का नाम जिह्वा पर नहा

१—जप तप विधि निषेध नाम करू पाप पुन दोउ माया
ऐसे मोंहि तन मन गति बीमुख जनम जनम डहकाया।
——रैदास का बानी पृ० १०

२—रैदास की बानी, पृ० १०। पद ३२।

दूर दर्पाभिमानगलित, प्रेमभाव की सहजता और सरलता म युक्त पूणत प्रभावोत्पादिनी है जो पढने पर सरलता से हृदयगम होते हुए एक आध्यात्मिक वातावरण छोड जाती है। जहा तक माया के सम्बन्ध मे इनके विचार प्रसूनो के प्रस्फुटित होने का प्रश्न है वे कबीर की धरती पर ही पुष्पित और अभिवर्धित हैं। इन्होंने भी माया का सागोपाग विवेचन अपनी रचनाओ म किया है। दादू की तत्त्वना प्रणाली के अनुसार दृश्य एक दपण है जिसम प्रभु का प्रतिबिम्ब सदा प्रतिबिंबित होता रहता है। दपण जितना ही विरज होगा प्रतिबिम्ब की प्रगाढता उतनी ही स्पष्ट दृष्टिगत होगी। माया का इस क्षेत्र मे अत्यधिक प्रयत्न रहता है कि हृदय को कालुष्य पूण मोरचलिल कर उसे प्रभु दशन के अयोग्य बना दिया जाय। इसके मूल भुलया म जो पडते है फिर कर लौटते नही। यह ठगिनी अपने हाव-भाव की चकाचौंध म सबको पथभ्रष्ट करती है। एक बार उसके रास-रग म शामिल हो जाने के पश्चात् पुन परावर्तित होना आसान नहीं। माया का सुख अल्पकालीन साध्य है जिस पर गर्व करना निरी मूखता है। स्वप्न म प्राप्त राज्य और धन कुछ क्षण के लिए ही अस्तित्ववमान होते है। मृग-मरीचिका के सदृश माया का ससार मिथ्या है। लोग वादा के मिक्क के समान उसे सत्य समझ लिया करते है यह उनकी भूल है। इस ससार म दृष्टि का महत्व अगर कुछ है तो सत् स्वरूप के दर्शनाथ ही। अत माया के स्वरूप का अवलोकन सवथा त्याज्य माना गया है। स्वप्न देखता हुआ प्राणी जिए कोटि भोग विलास के पश्चात् जागने पर सारा खेल उलटा हुआ पाता है। सत्य बाते मिथ्या सिद्ध हो जाती है—जगत झूठा ह्वै गया ताकी कैसी आस।[1] यही माया के करिश्मे है। दादू ने माया का अस्तित्व मनुष्य का जीवितावस्था तक ही माना है। परमात्मा के सानिध्य लाभ अथवा प्राणान्त हो जाने पर माया म कोई सम्बन्ध नही रह जाता। कहने का तात्पर्य यह कि मरणोपरान्त प्राणी और भगवद्भक्त के लिए सासारिक ऐश्वर्यों का कोई मूल्य नही। पन्डित हो जाने म माया जाल स मुक्ति नही मिलती। रूप राग और गुणादि के स्थान विशेष पर ही माया गमन करती है और विद्या अक्षर पठिता का निवास वहीं होता है। इस प्रकार वे शास्त्रों द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते पाते भ्रम म उज्झित मर्यादा वादी यथाथ दृष्टि से हरि का गुणानुवाद नही कर पाते। मुक्ति पाने के लिए हृदय का अनाविल होना पहली शर्त है। उसके अभाव म मानस कन्द्रण (ध्यान) हो ही नहीं पाता और फिर बगुला भक्त बनने से क्या लाभ? बाह्याडबर म लीन पुरुष सत्यमार्गानुगमन का स्वाग भर करता है। कोई माला या ध्यान म लिप्त होकर कोई सभी देवताओं की उपासना म लगाकर कोई सिद्धिया म निज कामना करता हुआ भगवत् प्राप्ति का प्रयोजन अपने को मान बैठता है किन्तु समस्त पथ तथा साधनाएँ माया ही का काय है। इस तरह मायाभास ही प्राप्त हो सकता है सत्य

१—हिंदी साहित्य उद्भव और विकास पृ० १४५।

नहीं। सत्य का मार्ग परमात्मा का मार्ग हुआ करता है जिसको परमात्मा स्वयं भक्त के लिए सुलभ करता है किन्तु मुसलमान सूफी संन्यासी योगी जंगम तथा अनेक प्रकार के वेषभूषा धारण करने वाले ये सभी माया के असत्य मार्ग के अनुयायी और राही हैं। समस्त सृष्टि का उत्पादक सृजन कर्ता परमात्मा ही केवल सत्य है जिसके यहाँ भिन्नता नाम की वस्तु नहीं। यह शरीर घर द्वार और परिवार सभी मिथ्या है। इस प्रकार मिथ्या को सत्य सदृश अपना कर उस पर घमंड करना निरा मूर्खता है। विषय सुख के कर्दम में निमग्न होना बड़ा कठिन है। वही सन्त इससे पार में मुक्त हो सकता है जो इसके रस स्वाद को तिलांजलि देकर भगवद् भजन में तल्लीन न हो जाय।[1]

उक्त विषयों के अन्तर्गत कंचन और कामिनी को सन्त कवियों ने निकृष्टतम निर्धारित किया है। कबीर के अनुसार कंचन और कामिनी में उत्पन्न फन्दे को देखने में ही लिप्त वह जाता है तथा उसके वश में हो आत्मनाश हो जाता है। रुपया पैसा तो शैतान पापी का एक सूत है— सौ पापन का मूल है एक रुपया रोक। दादू के अनुसार संसार में सर्वत्र कनक और कामिनी ने ही विविध रूप विवाद पटल हैं और इन सब में आसक्त जीव माना अपने गृह के समान रूप माया में डूब रहा है। अतः कामिनी और कनक को मनुष्य सर्वथा त्याज्य है क्योंकि संसार इससे आकृष्ट होकर इस भाँति जलकर विनष्ट हो रहा है जैसे दीपक की ज्योति से आकृष्ट होकर शलभ जल मरता है। तन धन आदि माया के विस्तार को देखकर मनुष्य भ्रमभ्रमित हृदय हो गया है परन्तु वह शीघ्र विनष्ट प्राय है। कनक और कामिनी रूप में इस माया रूपी सर्पिणी ने सबको डसा है इसके चंगुल से निर्दयी की स्थिति भी अस्पृष्ट न रह सकी। कनक और कामिनी में सर्पकित प्राणी मायाग्नि में दग्ध हो जाता है। नारी विष्णु माया की मूर्तिमती प्रकट प्रतिमा है। इसलिए तुलसी के मत में माया रूपिणी नारि अत्यन्त दारुण एवं दुखद है। मनुष्य की एकमात्र दुर्बलता नारी है जिस प्रकार मयूरी को देखकर मयूर हर्षोत्फुल्ल हो पंख फड़फड़ा कर झूम उठता है और अनेक प्रकार के नृत्य लास्य द्विगुणित मन की भंगिमाओं को अभिव्यक्त करता है इसी प्रकार मनुष्य ने जाने कितने बार अपने गृह प्रांगण में नारी को देखकर हर्षोन्मत्त हो नृत्य कर चुका है। नाना वेषों को धारण कर नारी भी अपने मनानुकूल पुरुषों का ग्रहण करती है। यागिनी होकर योगी को सर्पिणी होकर शेषनाग को और भगिनि होकर भक्त को वह किसी न किसी प्रकार प्राप्त कर ही लेती है। इस सृष्टिरूपी सघन वन में माया रूप हस्तिनी के साथ मतवाला मूषमन निर्भय विचरण करता है वह कभी इसके प्रति सचेष्ट नहीं होता है। कीट जिस प्रकार काष्ठ के अन्तः काय को भक्षण कर जर्जरित कर देता है धातु का मैल (मोरचा) जिस प्रकार लौह जैसे कठोर पदार्थ

१—विष सुख मांहि रमि रह्या मायाहित चितलाई।
साइ सत जन उबरे, स्वाद छाड़ि गुण गाई॥—दादू की बानी पृ० ११६।
२—दादू बानी, पृ० १३२।

को भी काट देता है उसी प्रकार के द्वारा मानव काय-जीण श ण होकर अन्तत समाप्त हो जाता है।

इस माया का सर्वाधिक प्रभाव मन पर पडता है। यह माया मन को उसी प्रकार विगाड देता है जिस प्रकार काजी दुग्ध को। प्रकृत्या मन स्वतन्त्र रूप से अस्तित्वमान है माया से आक्रान्त हो वह अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। वह सदैव काम क्रोध लोभ मोह मद विकारों का वशवर्ती बन जाता है। माया ने चौरासी लक्ष योनियों में विभाजित जीवों को प्रभावित करना नहीं छोडा है केवल परमात्मा में अनुरक्त जनों का ही वह कुछ नहीं बिगाड पाती। यह इसलिए कि भगवान् मायापति हैं। माया को विविध सुख विलास प्राप्त करने की इच्छा मन को ही प्रेरित करता है किन्तु कालान्तर में उससे उदासी पना ही हाथ लगती है। यह मन मक्खन के समान कोमल और चिकना है कि तु माया-रस का पानकर वह पत्थर सदृश कठोर हो गया है। यद्यपि राम रस पाकर वह पत्थर मन सहजता मक्खन के समान हो सकता है। वह माया के ससर्ग से विषय रस में लिप्त हो जाता है, सत्य को छोडकर मिथ्या में रग में रम जाता है। विषय वासनाओं का वशवर्ती मन प्राणी के वश का नहीं रह जाता। जिह्वा स्वाद की ओर दौडता है, इद्रियाँ अपने योग्य विषयों की ओर जाती हैं। काम, क्रोध, कभी कम नहीं पडता, लालच वश विषयों का रस मनुष्य पान किया करता है। अत मन में विषय-विकारों का निवास होने के कारण हरि-रस अमृत का प्राप्ति नहीं हो पाती। और उसके बिना ससारी जीव को मुक्ति नहीं मिल सकता।

यो तो दादू में रूपकों प्रतीकों की कमी है। कि तु एकाध स्थलों पर उन्होंने माया के स्वरूप विवेचनादि में उसका प्रयोग किया है। दादू कहते हैं वन की हरीतिमा देखकर मृग मोह में पडकर इस प्रकार अधा हो जाता है कि निकटवर्ती काल का फदा भी उसे नहीं दिखाई पडता। वह समस्त वन प्रातर में उस हरियाली के व्यामोह में हर्षोत्फुल्ल हो भ्रमण करता रहता है, पर तु शिकारी उसके सिर पर कमान तान घूम रहा है, इस ओर उसका ध्यान नहीं जाता। यहाँ माया से आवृत्त जीव को ही विभ्रमित भ्रमणशील मृग के रूप में अकित किया गया है। मन दसों दिशाओं में दौडता है तथा परमात्मा जो अत्यन्त निकटस्थ है उसे दृष्टि प्रत्यक्ष नहीं करता। दादू ने अहकार को भी माया में सपृक्त माना है। यह अहकार मायी की शक्तियों में से एक है। इससे वास्तविकता का ज्ञान बिल्कुल दिखाई नहीं पडता। उस पर एक आवरण छा जाता है। भला स्रष्टा बेचारा क्या करे ? माया को देखकर मन में खुशी तो होती है हृदय उत्फुल्ल होता है किन्तु अनन्त जीव की आशा पूरी नहीं होती। एतदर्थ दादू का यह निरूपण कथन है कि मन रूपी तीर को कमान पर चढाकर माया को लक्ष्य कर अथवा उसे निशाना बनाकर न छोडे। इससे बाद में पश्चाताप ही करना पडेगा। क्योंकि वे बाण खोटे ही सिद्ध होंगे। कहने का तात्पर्य यह कि मन को माया में न लगावें।

अन्य सन्तों की भाँति दादू दयाल ने भी माया को परमात्मा की आश्रिता माना है। वे कहते हैं कि परमात्मा की माया के चरित्र से सभी स्थावर जगम मोहित हैं,

हो जिसके लिए हृदय का अनाविल होना अनिवार्य है इस व्याधि की एकाकी औषधि है। क्योंकि भक्त तुलसीदास जी के शब्दों में—

सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिअ महामायापतिहि ॥[1]

भक्ति के अविर्भाव होने ही माया समाप्त हो जाती है जैसे सूर्य की किरणों से अंधकार। इस प्रकार दादू दयाल का माया-विभावन कबीरदास के विचारों के अनुरूप ही है। सगुण पंथ के भक्त कवियों में जैसे तुलसी और सूर का महत्व है उसी प्रकार निर्गुनियों में कबीर और दादू का। दादू की बानी को वानियों का ताज कहा है यह कहने में अयुक्ति नहीं।

मूलकदास।

रत्नखान और ज्ञानबोध जैसे प्रथित ग्रंथों के प्रणेता मलूकदास की रचनाएं पूर्व के संतों की विचारधाराओं की पृष्ठभूमि पर ही आधृत हैं यद्यपि इनका साम्प्रदायिक तत्ववाद अन्य सम्प्रदायों के तत्ववाद से कुछ भिन्न है। ईश्वर का निवास हृदय के अंतर्गत संधान करने वाले संतों में मलूकदास का स्थान प्राथमिक महत्व का अधिकारी है। संक्षेप में ब्रह्म विचार संत सेवा गुरु वचनों में विश्वास सत्य व सदाव का जीवन और नामस्मरण का स्वभाव अपनाने से अपनी आत्मा जागृत हो उठती है यही उनके आत्मज्ञान का सार है।[2] माया के सम्बंध में मूलकदास की धारणा पूर्ववर्तियों के अनुरूप ही है। माया की विभीषिका का वर्णन करते हुए वे उसे एक ऐसी काली नागिनी का रूप देकर हमारा ध्यानाकर्षण करते हैं जिसने संसार के सभी छोटे बड़े को अपने गरल ज्वाल में दग्ध किया है। इन्द्र ब्रह्मा नारद व्यास और कवि पुंगव सभी इसके द्वारा प्रमित हो चुके हैं। भगवान् शंकर जैसे अकाम योगी को भी इसकी दुलत्ती सहनी पड़ी। कंस शिशुपाल और रावण जैसे पृथ्वीपति और वरेण्य महारथी इसके चंगुल से न बच सके। दशग्रीव की दुर्दान्त तपस्या जिसमें स्वकर से शीश काट कर साधना के सिद्धयर्थ शंकर को अर्पित किया जाता था से जिस स्वर्ण-मंडित लंका की प्राप्ति हुई है उसको विनष्ट होने विलम्ब नहीं लगा। सर्प का विष उन्मोचन करने वाले माया विनिमुक्त करनेवाले महायोगी तथा गोरक्षपाद जैसे सिद्ध पुरुष को भी माया ने अपने आकर्षणों से पृथक् नहीं रहने दिया। जग भर की आशाओं के मूल दीर्घकाय सूरवीरों को भी इसने अपने ग्रास की सामग्री बना ली। जो जड़मूल से परम विरागी व अप्रतिम त्यागी रूप में विश्रुत हैं माया ने उन्हें भी नहीं छोड़ा। क्या ही प्रपंचमय जगत् का सृष्टि उस कर्ता ने रचा है। आशा और तृष्णा से मुनि गर्व कोई भी नहीं अपनी सत्ता को अस्पृष्ट रख सका। यह पट का धंधा माया द्वारा ही रचित है। संसार अहर्निश प्रातः से लेकर संध्या तक क्षुधा तुष्टि के उपक्रम

१—रामचरितमानस—तुलसीदास, बालकांड।
२—उत्तरी की भारत की संत परंपरा, पृ० ५०६।

और मृत्यु का द्वार खुला है लोग नित्य आवागमन के चक्र पर चक्कर काट रहे हैं। इस समृद्धि में कुछ भी शाश्वत महत्व की वस्तु नहीं। माया के द्वारा प्राप्त इस मृत्तिका निर्मित पुतले को कोई बहन तथा कोई भाई नाम से सम्बोधित करता है। मलूक ने माया के इस चाकचिक्य और भावात्मक सम्बन्ध की इयत्ता और इत्तत्या बहुत नैकट्य भाव से परखने का प्रयत्न किया है। उन्हें इस बात से पूर्णतया परिचिति है कि माया के इंगितों का चुपचाप अनुगमन करने से हम हरिराय से अतिदूर चले जायेंगे और पुनः वहाँ पहुँचना कठिन ही नहीं असम्भव हो जायगा। प्रेम से 'नमो निरंजन निराकार' का सुमिरन करने से माया का चक्रमा कारगर सिद्ध नहीं होगा। "एकदयाल अविनाशी" की बाँह पकड़ लेने पर माया की प्रभावक स्थिति जिसे ध्वंसात्मक परिणामयुक्त स्थिति भी कह सकते हैं निष्फल हो जाती है और भक्त निष्कंटक हो जाता है।

सुन्दरदास

मध्ययुग के साधक कवियों ने हिन्दी भाषा में जिस भावयोग का ऐश्वर्य विस्तार किया है उसमें शान्तायनता के असाधारण वैशिष्ट्य प्राप्त सुन्दरदास का काव्य उच्च कोटि की साधना और काव्यत्व का एकान्त उदाहरण है। सुदीर्घा द्वारा प्राप्त ज्ञान सौन्दर्य ने इनके काव्यत्व को मणिकांचन योग समन्वित बना दिया है और साथ ही लोक धर्म की ऐतिह्यमूलक उपेक्षा को भी चून कर लिया। संस्कृत भाषा में वैदुष्यता प्राप्त होने पर भी इन्होंने साहित्यिक लोक भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हुए उसमें 'सुन्दरविलास' जैसे प्रथित ग्रन्थ का प्रणयन किया। केवल काव्य की स्वीकृत दृष्टि से देखा जाय तो शान्त रस के एकमात्र आधार ये ही माने जा सकते हैं। ये दादूदयाल के शिष्य थे। वेदान्त के सत्वज्ञान की छाया इनके काव्य में यत्र-तत्र सर्वत्र देखने को मिलती है।

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म निराकार निर्विकार तथा अनादि है। उसके सगुण और निर्गुण का भेद निरर्थक है क्योंकि उसका अस्तित्व इन दोनों से परे है। द्वैत की कल्पना का आधार माया है इसी के कारण एकल ब्रह्म में अनेकता की प्रतीति उद्भूत होती है। कवि के अनुसार जो ब्रह्म गुणादि को धारण करता है वह माया से प्रभावित है उससे संयुक्त है। उसका देह न रक्त न वीर्य है वह न शरीर है न आत्मा है उसकी न छाया दृष्टिगत होती है और न वह माया के बन्धन में निबद्ध होता है। वस्तुतः जीव और ब्रह्म के मध्य व्यवधान उपस्थित करने वाली तत्व माया है। जगत् में ब्रह्म सत्य है और शेष दृश्यमान वस्तुओं का अस्तित्व भ्रामक है। किन्तु माया इस सत्य पर एक आवरण डाल देती है। जिससे ब्रह्म की वास्तविकता तिरोहित हो जाती है और मिथ्या संसार ही सत्य प्रतीत होने लगता है। यह कार्य माया कामिनी और कनक के बल पर करती है। इन दोनों का अनुचित प्रभाव मानव मस्तिष्क पर इतना पड़ता है कि उसकी बुद्धि भ्रमित होकर भगवान से विमुख हो जाती है। सुन्दरदास ने

जीव का माया के पाश म पाशित होन का बडा ही उपयुक्त वणन किया है,—"मनुष्य माया के प्रभाव में आ कर बिल्कुल पागल सा हो जाता है। माया म मग्न होकर वह जर और जारु के हाथा बिक जाता है। उस यह नही समझ म आता कि "काल के केश पकडन पर मेरी रक्षा कौन करेगा ? कामिनी के परिणामा म अवगत होकर भी वह तथ्य की सार्वकता से सचेष्ट नही होता, इसम बढकर और अन्य दीवान का लक्षण क्या हो सकता है ? यह तो हुआ कामिनी क साहचय का परिणाम। कचन का एकत्र अथवा सचय करने का भी परिणाम तद्वत् ही होता है। यह सोचकर कि यह बटोरा हुआ धन एक दिन भविष्य म काम आयगा लोग लक्ष्य-नक्ष्य साधना क उपयोग से उस सचित कर रखते हैं। न तो उस सचित धन राशि को समाप्त होन दर लगती है और न जिस काय के निमित्त वह एकत्रित रहता है उसके काम ही आता है। मनुष्य रिक्त हस्त ही परलोक गमन करता है और एक कपर्दिका का विर्खणिताश भी उसके हाथ के साथ नही जाता। अत माया जोटन के प्रयोजन का पश्चात्ताप अन्त होता ही है। देह और गह का ममत्व भी इसमे कम घातक नही। पुत्र-कलत्र के प्रति 'ममता ताग" तो और भी इस माया पाश को मजबूत बना देता है। इनके पाशवश्य होन पर पुन निकलन का कोई प्रश्न ही नही उठता। नारि की ओर दृष्टि डालन ही मन उसका स्वरूप धारण कर लेता है। मन मे क्रोध लाने से वह उसी के तद्रूप हो जाता है उसी प्रकार माया-माया का रट लगाने से मन सद्य माया कूप म डूब जाता है। इसीलिए उस मन मे यदि ब्रह्म की विचारणा की जाय तो मन ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। माया के बधना और पाशो मे बद्ध होकर किस प्रकार उसकी आकृति तदनुकूल हो जाती है। सभी सन्ता ने मन को बारबार ब्रह्ममय करन का उपदश दिया है। मन की असद्वृत्ति स माया के अनेक अगा जैसे काम क्रोध मोह मद, लोभ, दम्भ, गव, अधम रति, हिंसा, तृष्णा, निन्दा ईर्ष्या, स्पर्धा विरोध अपयश लालच अविचार लोलुपता अपकीर्ति अनानादि की उत्पत्ति होती है।[1] कठोपनिषद् के अनुसार मानव शरीर रूपी सब साधन सम्पन्न रथ के लिए इन्द्रिय रूप बलवान् घोडे प्राप्त हैं जिनको मनरूपी लगाम (दन्तालिका) देकर ,बुद्धि रूपी सारथी के हाथा सौंप दिया गया है। जहाँ मनरूपी लगाम को ढीला किया गया अथात् उस चचलावस्था म ही छोड दिया गया कि शरीर रूपी रथ का फिर कल्याण नही। गीता म, अजुन स्वानुभूत सत्य को कृष्ण म पृच्छा स्वरूप चचलहि मन कृष्ण बताकर उसके निग्रहण के उपाय की जिज्ञासा करत हैं। भगवान् कृष्ण को भी यह स्वीकार करना पडता है— असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम् निस्सदह मन को वश मे करना बहुत कठिन है और यह बहुत चचल है और अभ्यास द्वारा ही इसे वश म किया जा सकता है। योग सूत्र म भी 'अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोध' ही नियन्त्रण का साधन बतलाया गया है। इस प्रकार सुन्दरदास न मन को माया क वश न रखन का तथा उस ब्रह्ममय करन का उपदश दिया है।

१—सुन्दर दशन—श्री त्रिलोकी नाथ दीक्षित, पृ० २१०।

सुन्दरदास ने माया के अंगों के प्रति जुगुप्सामूलक भाव उत्पन्न करने के लिए कहीं कहीं उनका दोष ही वास्तव वर्णन किया है। जैसे उन्होंने नारी को यथागुण विनाशिनी कहकर उन्हें माया का प्रसार, विष की क्यारी, सुविधा नाशक छुरी तथा भावना को च्युत करने की साधनादि कहा है।[1] सुन्दरदास नारी के शृंगार को एक जंगल मानते हैं जिसमें प्रवेश करने वाला निश्चित रूप से राह भूल जा सकता है। वन हाथी तथा भयानक सिंह निवास करते हैं। बाँके बाँके नागों की भी वहीं कमी नहीं। इस प्रकार वहाँ जाना भी निषेधपूर्ण है। इतना ही नहीं नारी-अनुरक्ति के एक प्रकार को ही घृणास्पद भावों के उद्भावक रूप में लिया है तथा उसकी सराहना करने वाले को मूर्ख (गँवार) की उपाधि दी है। भगवान से प्रेम आस्था रखने के लिए विश्वास के साथ आशा तृष्णा कनक कामिनी आदि अनेक अंगों का त्याग करना अनिवार्य है तभी माया मोह से निश्चिन्त रहा जा सकता है। तृष्णा के सम्बन्ध में सुन्दरदास की धारणा है कि यह अविद्या माया का एक प्रधान अंग है। कामनाएँ जितनी बढ़ाए और बढ़ाए उतनी तृष्णा और बढ़ती जाती है। तृष्णा का परित्याग ही सभी सुखों का मूल है। यह एक ऐसी व्याधि है जो कभी परिमित नहीं होती। यदि किसी को दस रुपए प्राप्त हो जाते हैं तो वह सौ प्राप्त करने की इच्छा करता है। सौ प्राप्त हो जाने पर पचास और पचास हो जाने पर भी फिर हजार लाख करोड़ और अरब खरब भी प्राप्त हो जाने पर समस्त धरती का स्वामी होने की अभिलाषा रह ही जाती है। स्वर्ग और पाताल में राज्य करने की लालसा बनी ही रहती है। इस प्रकार तृष्णा का यही धर्म है कि उसमें एक चाह की पूर्ति में अन्य अभिलाषाएँ घृतादि द्वारा अग्नि के सदृश उद्दीप्त होती हैं। उसको ही परिपूर्ण बनाने के लिए संताप जलते ही जाते हैं।[3] मानव तृष्णा की अतृप्ति का तुलसी ने भी समस्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार यदि किसी कृशकाय घसियार को जिसको दाल-रोटी की तरस है स्वर्णपर्वत के सदृश विशाल धनराशि प्राप्त हो जाय तो अपरिमित धन से घर भर जाने पर भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती। इस तरह धनाभाव और धनाधिक्य दोनों दुःख मूलक हैं। अतः तृष्णा विविध मानसिक विकारों की धात्री और जननी सिद्ध होती है।

सुन्दरदास ने चेतावनी की पर्याप्त चर्चा की है। 'काल चेतावनी अंग' के अंतर्गत सतहत्तर छंद हैं जिनमें कुछ माया सम्बन्धी भी हैं। उनके काव्य विषयों की चर्चा करते हुए त्रिलोकीनाथ दीक्षित ने उन्हें दो भागों में विभाजित किया है—

१—मानव व्यर्थ ही माया और तज्जनित प्रपंचों में लिप्त है।

२—माया भयानक डायन है।

१—सुंदर दर्शन, पृ० २०५।

२—सुंदर दर्शन, पृ० २८९।

३—सं० वा० सं० भाग २, पृ० १२१।

ममता और माया के बंधन दुखद और बीभत्स हैं।[1] एतदर्थ वे "बार-बार कह्यो ताहि सावधान क्यों न होहि" का "अतिमेरयम्" देते हैं। यह माया आज तक किया की न हुई है और न होगी—"न भूता न भविता।" अतः केवल 'मेरी मेरी कहत जात रैन दिन सारा" से लाभ की प्रत्याशा नहीं। यह तो प्रभु को विस्मृत करने का ही उपाय है। इससे नित्य माया के बंधनों का उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होगा। "सूरमा"[2] वही है जो माया और उसके सहायकों से वीरता और धीरतापूर्वक युद्ध कर सके और उन पर विजय प्राप्त कर सके, जो अपनी मानसिक शक्ति द्वारा प्रलोभनों का परित्याग कर सके, जो वासनाओं का दमन कर सके दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर स्व जिसमें परब्रह्म का निवास हो सके। सुन्दरदास ने 'सूरमा' या 'सूर" पर लगभग ४८ छंदों की रचना की है। प्रायः सभी संतों ने इस सूरमा" पर अपनी लेखनी चलाई है। सुन्दरदास के अनुसार "सूरमा" के प्रमुख शत्रु काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार और अन्य माया के सहायक अंग हैं। उन्हीं वस्तुओं से युद्ध करने में वह अपना जीवन लगा देता है।[3] भक्ति योग के प्रसंग में उन्होंने माया और भक्ति का सम्बन्ध संतों के परिप्रेक्ष्य में बताने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार भक्ति संतों की विवाहिता पत्नी है और माया दासी के समान है यद्यपि दोनों स्त्रियाँ ही हैं। भक्त [illegible] के साथ तो अहर्निश रमण करते हैं किन्तु दासी से उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह युवती भक्ति उन्हें अधिक प्रिय है इसी से संतों ने उसमें 'जोरी प्रीति [illegible]' की स्थिति स्थापित कर ली है। संतों की परंपरा में दासी को आदर पाने का अधिकार ही नहीं। दासी घर का सारा काम करती है उसे जहाँ भेजा जाय, जैसा आदिष्ट किया जाय उसे क्रमशः जाना और करना पड़ता है। उत्तम संत वे ही हैं जो भक्ति ही से काम रखते हैं और माया को निरादर की दृष्टि से देखते हैं। समासतः, वे उससे अपना संबंध विच्छेद किए रहते हैं। इसी प्रकार मध्यम और अधम संतों का माहात्म्य वर्णन इन्होंने माया में अल्पाधिक और अधिकाधिक संलिप्तता के आधार पर वर्गीकृत किया है।

सुन्दरदास ने माया शब्द का प्रयोग धन ऐश्वर्य के लिए भी किया है—

माया जोरि-जोरि नर राखत जतन करि
कहत हैं एक दिन मेरे काम आइ है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि ने माया—मोह सांसारिक विषयासक्ति त्यागकर परमात्मा का स्मरण करने का उपदेश दिया है—

सुन्दर भजिये राम कौं तजिये माया मोह।
पारस के परसे बिना, दिन दिन छीजै लोह।

—सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०२।

१—सुंदर दर्शन, पृ० २५८।
२—सुंदर दर्शन, पृ० २०७।
३—सुंदर दर्शन, पृ० २१५।

शंकर का मायावाद और सन्तों का माया-संबंधी दृष्टिकोण

कबीर के माया विभाजन के प्रसंग में हमने शंकर के तत्संबंधी विचारों के प्रभाव सूत्रों का अध्ययन किया है और उसमें यह सिद्ध है कि संतों की माया अद्वैत की ही माया थी जिसमें आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का आभास होता है।[1] वेदान्त ग्रन्थों में भ्रम के निरूपण के लिए दो विधियाँ—तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण—के सविस्तार वर्णन में द्वितीय अर्थात् स्वरूप लक्षण ब्रह्म के सगुण और सविशेष स्वरूप से सम्बन्ध है। अब यह प्रश्न जाग्रत होता है कि निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष जीव और जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई है ? शंकर का मायावाद इसी समस्या के समाधानार्थ प्रतिष्ठित हुआ है जो दार्शनिक मतवादों के क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण इकाई है। माया और ब्रह्म के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए माण्डूक्य कारिका भाष्य में यह कहा गया है कि अक्षर प्राण या माया ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। प्राण और माया का ब्रह्म में तद्रूप हो जाने पर उनकी अपनी क्रियाशक्ति का ह्रास हो जाता है। यही विकासावस्था में ब्रह्म अधिष्ठान बन जाता है और माया क्रियाशील शंकर नामरूप का विस्तार करती है। यह माया अपना विस्तार सिद्ध कर कारणरूप सूक्ष्मरूप तथा स्थूल रूप धारण करते हुए नामरूप की कल्पना को एक विस्तृत पटल प्रदान करती है।

शंकर के अनुसार माया अनिर्वचनीय है। अब प्रश्न यह उठता है कि उसे मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? जिसका निर्वचन वाणी नहीं कर सके उसका मिथ्यात्व निश्चित संदिग्ध है। किन्तु वास्तव में ब्रह्म की तुलना में उसे मिथ्या कहा जाता है। ब्रह्म की सादृश्यता ही उसके सापेक्षिक मिथ्यात्व की द्योतक है यद्यपि इससे कथमपि उसका अभावरूप होना भी नहीं सिद्ध होता। माया के कारण ही एक ही अनिर्वचनीय तत्त्व अनेक रूप धारण करता है। विवेच्य सन्त-साहित्य शंकर के माया सम्बन्धी सिद्धान्तों की बहुलांश में अधमर्ण है। सन्त लोग शंकर के सदृश माया के मिथ्या रूप के उपपादक हैं। सन्त सुन्दरदास के अनुसार नाम रूप की जहाँ तक स्थिति है वह सब मिथ्या माया है—

नाम रूप जहाँ लगि मिथ्या माया मानिए—सु० वि० पृ० १२६। कबीर ने शंकर के सदृश माया की त्रिगुणात्मकता को सत रज तम ने काही माया में उपलक्षित किया है। इन्हीं गुणों के साहाय्य से जगत् की एकात्मता सिद्ध होती है। शंकर ने माया के दो रूपों अथवा कार्यों को आवरण और विक्षेप नाम से अभिहित किया है। आवरण शक्ति का प्रभाव है कि अन्तर्निहित वस्तु-तत्त्व का इसके कारण साक्षात्कार नहीं होता। नाना लोक उसी अविद्या भ्रान्ति या भ्रम से ग्रस्त है कबीर की भी कुछ ऐसी ही धारणा है—

१—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ० ३०० ।
२—हिन्दी की निर्गुणकाव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० त्रिगुणायत, पृ० १४५

मर्म परा तिहु लोक मे, मर्म बसा सब ठाउ।
कहै कबीर पुकारि के मर्म के गाउ ॥

इसकी विशेष शक्ति माया का ठगिनी का रूप देकर नाना प्रपच कराती है। कबीर की माया समस्त देश का ही ठग रही है—

माया तो ठगनी भई ठगत फिरे सब देश।
माया महाठगिनी हम जानी ॥
ई माया जगमोहिनी मोहिहो सब जगधाम।

इस प्रकार सन्त मत के पुरस्कर्त्ता आचार्य कबीर जगत् को व्यावहारिक सत्ता के रूप में मानते हैं। उन्हें माया की आवरण तथा विक्षेप शक्ति दोनों स्वीकार है—

कहन सुनन कों जिहि जग कीन्हा।
जग भुलान सो किनहु न चीन्हा।
सत रज तम के कीन्हीं माया।
आपण माझे आप छिपाया ॥

जीव को भ्रम में डालकर माया नाच नचाती है। माया इतनी आकर्षक है कि सारे ससार को उसने खराब कर दिया है—

सारा खलक खराब किया है, मानस कहा विचारा।

एतद्वधि उपन्यस्त तथ्यों के आधार पर शकर-मायावाद का सन्तों के माया विभावन पर पडे प्रभावों का उपपादन कदाचित् नि सदिग्ध है, यद्यपि सन्तों ने माया को इसके अतिरिक्त एक विशिष्ट सरणि प्रदान की है जिसमें सब मिला वह बिल्कुल नवीन तत्व के रूप में दृष्टिगत होता है।

शैव-दर्शन

शैव सिद्धान्तों के अनुसार शिव ही शाश्वत, अनन्त तथा शुद्ध सच्चिदानन्द रूप परमतत्व हैं। इस दर्शन के प्रतिपाद्य शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन तत्व क्रमश ससृति के रचयिता शक्ति सहायिका, तथा उपादान रूप में माने गए हैं।[1] इस मत के अनुसार समग्र जीव पशु हैं क्योंकि वे पाश द्वारा आबद्ध हैं। वेदान्त इसे ही जीव की उपाधि देता है। शैव दर्शन का पशु प्रकाश रूप तथा सख्या में अनेक है। यह ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति से समन्वित होने के कारण कर्त्ता भी है। पशु भी तीन प्रकार का होता है—आणवमल कार्यणमल और मायायमल। इसी तरह पशुओं को बाधने वाला पाश भी चार प्रकार का होता है—मल, कर्म, माया और रोध शक्ति। ध्यातव्य है कि वेदान्त की भांति माया यहाँ मिथ्यात्मक कोटि की नहीं बल्कि वास्तविक रूप में और नित्य कही गई

१—मध्यकालीन सन्त साहित्य, पृ० १४२।

है। जैसा कि ऊपर कहा गया है शैव सिद्धान्तवादी आचार्य बिन्दु के क्षुब्ध रूप पर शुद्ध देह इन्द्रिय भोग और भुवनों की उत्पत्ति होती है।[1]

तन्त्र मत में शिव प्रकाश रूप माने गए हैं और शक्ति चेतन रूप या विमर्श रूप और परस्पर तत्व प्रकाश और विमर्श उभय प्रधान होता है। शक्तिमान की शक्ति भी उभयरूपा होती है। शाक्त मतानुसार माया एक शक्ति है जो ब्रह्म की आश्रयाधीनता पर ही निर्भर है। वह कोई वस्तु विशेष नहीं। ब्रह्म की शक्ति होने के कारण वह ब्रह्म के सदृश ही अनतलांत या निर्दृश्य है वही इस विश्व का उपादान कारण भी है। दूसरे शब्दों में माया को चिद्रूपी शक्ति का सगुण रूप मानते हैं। माया त्रिगुणात्मक है, प्रकृति माया की ही एक शक्ति है। यह माया या भेद बुद्धि कहलाती है। तन्त्र सद्भाव नामक ग्रन्थ में लिखा है कि माया जीवों को जो उनका अंश ज्ञान है भेद बुद्धि है। जिस प्रकार तट समुद्र को आच्छन्न किए रहता है उसी प्रकार माया आत्मा को आच्छन्न किए रहती है। माया शक्ति और विद्या शक्तियों में अन्तर है। जो शक्ति पशु में ऐश्वर्य युक्त का संचार करती है उसे विद्या शक्ति कहते हैं। (द गारलैण्ड आफ लेटर्स पृ० १८३) और पशु की आत्मशक्ति का तिरोधान करने वाली शक्ति मायाशक्ति है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में शिव के प्रधान दो क्रिया व्यापारों का उल्लेख है—तिरोधान और २—अनुग्रह। तिरोधान के सहायक से शिव अपने को अपने से ही छिपाए रहते हैं और अनुग्रह-व्यापार के सहारे वह शक्तिपात के माध्यम से भक्तों को अपना ज्ञान कराते हैं। यह शक्तिपात या शक्ति मधुमती या मायारूपा होती है यही कारण है कि माया मधु और आकर्षक लगती है। डा० गोपीनाथ कविराज ने कल्याण के साधनांक में तान्त्रिक दृष्टि नामक लेख में तन्त्र-मन्त्र के तीन शब्दों का हवाला दिया है—

१—महामाया २—माया और ३—मायातत्व

अब हम यहाँ तक तीनों का विश्लेषण करेंगे।

महामाया

इसके सम्बन्ध में तान्त्रिकों में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग शिव की शुद्ध परिग्रह शक्ति या बिन्दु को ही महामाया का रूप मानते हैं— परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशीला होती है। इसका नाम बिन्दु है। इसके शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं। इनमें साधारण तथा शुद्ध रूप का नाम महामाया है तथा अशुद्ध रूप का माया। दूसरे शब्दों में अशुद्ध परिग्रह शक्ति को माया कहते हैं। अन्य आचार्यों का कहना है कि बिन्दु की तीन अवस्थाएँ होती हैं उनमें से परावस्था महामाया कहलाती है जो परमकारण और नित्य मानी जाती है। इन महामाया के बिन्दु से क्षुब्ध होने पर ही शुद्ध धामों तथा उनमें निवास करने वाले मन्त्रों अथवा मन्त्रेश्वरों का जन्म होता है।[3]

१—हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ० १८२।
२—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० २०६।
३—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० २१०।

माया

माया के सम्बन्ध में प्रसिद्ध मत यह है कि वह बिन्दु की सूक्ष्मावस्था होती है। उसकी ज्ञानशक्ति में शिव का जगत् सम्बन्धी ज्ञान प्रकट होता है और उसकी क्रिया-शक्ति से जगत की रचना होती है। कुछ आचार्यों ने इस माया के दो भेद माने हैं—१—साधारण माया और २—असाधारण माया।

साधारण माया—इसका विस्तार बहुत बड़ा है। समस्त आत्माओं की योग-रूपा भुवनावली का आधार रूप यही है। यह माया बिन्दु का निम्नलिखित तीन कलाओं में स्थित रहती है—१—विद्या २—प्रतिष्ठा और ३—निवृत्ति। विद्या कला में सात भुवनाधार माने गए हैं वे क्रमशः माया, काल, नियति, विद्या, राग और प्रकृति के नाम से मान्यता प्राप्त हैं।

प्रतिष्ठा कला—इसमें गुणों से लेकर जल तक तेइस तत्व रूप भुवनाधार माने गए हैं। इन भुवनाधारों पर श्री कण्ठ भुवन से लेकर अमरेश भुवन तक ५६ भुवन माने गए हैं।[1]

निवृत्ति कला—इसमें केवल पृथ्वी तत्व ही भुवनाधार रूप माना गया है। इस भुवनाधार पर भद्रकालीपुर से लेकर कालाग्नि भुवन तक १०८ भुवन हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण माया सैकड़ों भुवनों का विस्तार करती है।

असाधारण माया—माया के इस विस्तृत साम्राज्य में सूक्ष्म देहमय असंख्य तत्वों की समष्टि विचरती रहती है। यह सूक्ष्म देह विकासशील होती है। उपरिकथित विभिन्न भुवनों में जो स्थूल देह उत्पन्न होते हैं वे इन्हीं सूक्ष्म देहों का स्थूल रूप होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण और असाधारण माया ने मिलकर विविध भुवनों और जीवों की सृष्टि की है। यह भुवन ही जीवों का बंधन है इन्हीं के पाशों में बद्ध होने के कारण जीव पशु कहलाते हैं। जिस साधारण और असाधारण माया का अभी वर्णन अभी किया गया वह अपने रूप में अद्वैत रूपा होती है। शक्तिमान की शक्ति होने के कारण वह विभु और नित्य रूप भी होती है। इस अवस्था में माया को माया-तत्व कहा जाता है। साधारण और असाधारण माया के रूपों का विकास, अनन्त नामक विद्येश्वर की शक्ति इस माया तत्व में विक्षोभ उत्पन्न होने से ही होता है।[2]

डा० त्रिगुणायत के अनुसार निर्गुनिया सन्तों पर तन्त्र दर्शन के मत दर्शन का ही प्रभाव अधिक है। वैसे सन्तों की माया सम्बन्धी धारणा तान्त्रिकों से मेल नहीं खाती। ढूंढने पर तान्त्रिकों की माया की केवल एक ही विशेषता सन्तों में प्राप्त होती है जिसे हम उसकी मधुरता कह सकते हैं। सन्त लोग माया को अत्यधिक मधुर मानते थे। कबीर ने उसे ही मीठी माया कहा है—[3]

१—वही पृ० २११।
२—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ० २११।
३—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा—डा० त्रिगुणायत, पृ० २३८।

प्रत्मान कारण यही है— माया तजू तजी नहिं जाय। फिर फिर माया माहि लपटाइ।' "सारा खलक' उसके सुन्दर आकर्षक एवं मनमोहक रूप के कारण ही पथ भ्रष्ट हो गया है। सन्तों ने स्त्री को "नारि विष्णु माया प्रगट' कहा है तथा उसे एक नित्य युवती के रूप में चित्रित किया है। यह माया की मोहनशीलता ही है जिसके कारण यह संसार और उसका प्रसार जो अवास्तविकता अयथार्थ की सीमा में मर्यादित होने पर सत्य प्रतिष्ठित मालूम होता है। यह उसकी मोहनशीलता ही है जिससे "ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंचजगत्यां जगत् ब्रह्म स्थित नहीं दृष्टिगत होकर भौतिक धरातल पर ही सत्य जान पड़ता है। अतः संसार में देवता दनुज और मानव कोई ऐसा नहीं जिस पर माया की मोहकता जादू न टोना हो। सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।" उसका मोह पाश इतना विस्तृत होता है कि यह जानकर भी कि माया दुःखदायिनी है लोग उसके बन्धन से मुक्त नहीं होते। उसका आकर्षक स्वरूप तथा उसके आकर्षण की प्रबलता ही इसके नियश्रेय योग्य है। वैभव, मान, शक्ति, यश मारा के अतिरिक्त इसके अनेक अंग माने जा सकते हैं।

माया की शक्तियाँ

सन्तों ने माया की प्रबल शक्तियों के रूप में जिसे माना है श्रीमद्तुलसी दास जी ने उसे "माया-कटक अथवा माया परिवार' की संज्ञा दी है— 'व्याप रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड' तथा 'यह सब माया कर परिवारा, प्रबल अमित को बरनै पारा' आदि वाक्यों में उन्होंने अनेक मानसिक विकारों का माया की प्रबलतम शक्ति के रूप में परिगणना की है। सन्त-कवि भी कनक और कामिनी के अतिरिक्त काम क्रोध मद लोभ यश, अविवेक अज्ञान दम्भ गर्व पाखण्ड तृष्णा, निन्दा इर्ष्या, लालुपता अविचार, हिंसादि को माया के सहायक रूप में मानता है। माया इसी शक्ति से अपना सम्पूर्ण साहाय्य प्राप्त कर समस्त संसार में अपना पसारा स्थापित करती है। समस्त सृष्टि में इन्हीं सहायकों के बल पर इस रमया को दुलहिन ने लूट मचा रखी है। नारद, शृङ्गी पराशर आदि मुनियों में लेकर "ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे' और परिणामतः संसार का कोई भी अछूता नहीं रह सका। सन्त कवि ऐसों से जो माया शक्ति का साहस के साथ सामना करने वाले को 'सूरमा' की उपाधि प्रदान करता है। ये सूरमा तोप तुपक के समक्ष अग्नि रहने वालों से कम महत्वपूर्ण नहीं। माया की शक्ति रूप इस प्रबल वाहिनी को देखकर सिव चतुरानन देखि डराहीं, अपर जीव केहि लेखे माहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि माया की ये उपरिकथित शक्तियाँ संसार को अपनी शक्ति से शासित करती हैं जिनका बन्धन सहजया उच्छेदित होनेवाला नहीं। जिनकी सीमा से बाहर जाना बड़ा ही कठिन है। यह "माया काटक' अपनी शक्ति की सम्पूर्णता में अप्रतिम है।[1]

१—माया शक्ति का विवेचन सन्तों के माया वर्णन प्रसंग में विस्तार से वर्णित है।

आत्मा "जीव के नाम से सुना है। सच पूछा जाय तो जीव का जीवत्व एकमात्र माया के कारण ही है। वस्तुतः जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। माया में आबद्ध हो जाने के कारण ही उसमें परस्पर व्यवधान आ जाता है और आत्मतत्व के व्यापकत्व को हम समझ नहीं पाते। आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता के मध्य माया ही बाधक तत्व है। माया में अविच्छिन्न जीव अपनी अद्वैतता को भूल जाता है। वह यह नहीं समझता कि उसकी आत्मा "शुद्धोसि बुद्धोसि नित्य स्वरूप है। वह अपने तुच्छ काय को ही सब कुछ समझ मोह, माया, धन, तृष्णा, का वशवर्ती हो जाता है। *माया की महत्ता उसे अपनी जकड़ में लपेट लेती है। इस तरह आत्मा और परमात्मा* का भेद एक विषय से दूसरे विषय का भेद, नाना तत्व का भेद तथा ब्रह्म और ईश्वर का भेद, ये सभी माया की सृष्टि है। सुन्दरदास के अनुसार यह जीव माया में मगन अति माया लपटाता है। दादू के अनुसार यदि पारस और लोहे को एक साथ रखा जाय और उन दोनों के बीच एक बाल बराबर भी अन्तर हो तो करोड़ों वर्षों के संसर्ग से भी लोहा सोने में परिवर्तित न हो सकेगा। जीव और ब्रह्म के सान्निध्य में माया का अल्पांश आवरण रूप में ही द्वैत की स्थिति बना रहता है। इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीव और माया का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। जीव की जीवता इसी के कारण है। वह माया के बस पर हो जाता है। उसी की माहाशक्ति में फंसा रहता है। माया उसे इतनी प्रिय लगती है कि उसकी मिठास के समक्ष किसी को कुछ नहीं समझता। पारमार्थिक दृष्टि से हम भले ही उसे ब्रह्म का अविभाज्य अंग स्वीकार कर लें किन्तु व्यावहारिक दृष्टि में माया ही जीव का अविच्छेद्य अंग प्रतीत होता है। क्योंकि कोटि में कोई ही ऐसे पृथक अस्तित्व वाले हुआ करते हैं जिनका जीवन मायामय नहीं होकर ब्रह्ममय रहा करता है।[1]

माया और जगत् का सम्बन्ध

माया का कार्यक्षेत्र यह जगत् ही है और यह माया द्वारा उत्सृष्ट भी है। वैसे ब्रह्म के द्वारा भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन सन्त-कवि करता है किन्तु भावावेश की अवस्था में ही। शंकर ने जगत् की उत्पत्ति के लिये *मायातत्व की कल्पना की है।* कबीर के अनुसार जगत् की स्थिति और लय दोनों माया के द्वारा होता है। सत रजतम ते कीन्ही माया। चारि खानि विस्तार उपाया। माया जगत् के मूल में है जिसमें वह टिका हुआ है। माया में ही उसका विस्तार भी है। इस प्रकार माया और जगत् का सम्बन्ध निःसंदिग्ध है। माया से ही ब्रह्म जीव और जगत् की एकता निश्चित होती है।

माया और गुरु का सम्बन्ध

भारतीय-साधना में गुरु माहात्म्य की परम्परा अत्यन्त पुरातन है। पुरोहित

१—सन्तों की माया विभावन द्रष्टव्य।

आचाय, उपदशक तथा अनक सिद्ध पीठा म यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रही है और लोक जीवन न ता इस परम्परा को इतना श्रेयस्कर स्थान प्रदान किया कि जाति व्यवस्था के अन्तगत किसी भी वग को गुरुमुख" हाकर "कान फुकान" का अनिवाय माना गया। सता के अनुसार साधना अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के माग म माया बाधक रूप मे विद्यमान है और गुरु की कृपा से ही उससे मुक्त हुआ जा सकता है, उसका मूलाच्छेदन किया जा सकता है। सन्त कवि गुरु और ब्रह्म की अभिन्नता स्थापित करता है। इतना ही नही गुरु तो गोविन्द स भी महाष है। हरि न जन्म दिया, आवागमन के चक्र पर आरूढ कराया। हरि न माया की वशपना दी। गुरु न उससे मुक्ति दी। मोह, माया, मद मत्सर काम क्रोधादि से सशय और भ्रम साधना पथ के कम व्याघातक नहीं। माया और भ्रम के कारण मनुष्य शलभ कुल सदृश जागतिक विषयो म लिप्त हाकर जलता रहता है। माया दापक नर पतग, भ्रमि-भ्रमि ह्वै उडत। सद्गुरु के ज्ञान से ही उससे अपना पीछा छुडाया जा सकता है उबरा जा सकता है—कह कबार गुरु ग्यान त एक आध उबरन्त। इस तरह माया के उन्मूलन म गुरु का अप्रतिम स्थान सन्त मानता है। सगुण भक्तो न भी बदउ गुरुपद कज' स "महामाहतम पुज जासु वचन रविकर निकर की चर्चा अनक स्थलो पर का है।

सन्त-साहित्य मे माया का विभिन्न अथ ग्रहीतत्व

सन्ता न माया शब्द का प्रयोग धन दौलत पुत्र-कलत्र के समुच्चय अथवा पृथक पृथक् एक अथ म भी किया है। कबार का कथन है कि माया एसी लता है जा मुक्ति तथा नरक उभय वस्तु को प्रदान करने म समर्थ है। इसका सदुपयोग करत रहन से खान खरचन म यह मुक्ति-दात्री है परन्तु सचय करने से नरक की ओर ले जान वाली भी है—

> कबीर माया रुखडी दो फल की दातार।
> खात खरचत मुक्ति मे, सचत नरक दुवार।
> —कबीर स० ग्रा० स० भा० १, पृ० ५०

यहा माया शब्द द्रव्य या धन के लिये प्रयुक्त है। पुन —

> बालापन सब खेल गवाया तरुन भयो जब रूप घना
> वृद्ध भया जब आलस उपज्यो माया मोह भयो मगना

उपयुक्त पक्तिया म माया शब्द धन सम्पत्ति पुत्र-कलत्रादि का द्योतक प्रतीक हाता है।[1] सुन्दर भजिय राम को तजिये माया मोह म सासारिक विषयासक्ति त्यागकर परमात्मा का स्मरण करने का उपदश दिया गया है।

१—भक्ति-काव्य मे रहस्यवाद-डा० रामनारायण पाण्डेय, पृ० ७४।

वेदों में माया शब्द अलौकिक शक्ति और अद्भुत कौशल के अर्थ में, उपनिषदों में इन्द्रजाल अथवा जादू के अर्थ में तथा जैन दर्शन में छल और कपटपूर्ण वृत्ति के रूप में, वेदान्त में माया भ्रम के रूप में विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करती रही है। तुलसीदास के रामचरित मानस में कहीं पर यह शब्द साधारण छल के अर्थ में और कहीं पर इन्द्रजाल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सन्तों ने इन सब अर्थों को अपनी रचनाओं में समेटने का प्रयास किया है। विशेषतया सन्त कवि माया शब्द का प्रयोग धन सम्पत्ति तथा सांसारिक ऐश्वर्य के अर्थ में अधिक करता है। व्यवहार में भी लोग शब्द का अर्थ इसी में लगाते हैं। आलोच्य कवियों की रचनाओं में भी इसका प्रयोग बहुलता से मिलता है।[1]

नाथ साहित्य और सन्तों की माया-धारणा

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा का मूल नाथ-सम्प्रदाय से होकर सिद्धों में माना जाता है। सिद्धों के द्वारा प्रदत्त अथवा उनकी रचनाओं में प्राप्त तत्व नाथों के द्वारा संशोधित होकर लोकभूमि के निकट सन्तों की विचारधारा में आकर मिल गए। सिद्धों ने जिन तत्वों की स्थापना की उनमें से प्रमुख स्कन्ध, भूत, इन्द्रिय, शून्य, चित्त, भव, निर्वाण, माया, सहज, अद्वय साधना, समरसता, युगनद्ध, निरंजन, गुरु, कर्म आदि को माना जाता है।[1] ये वस्तुएँ प्रत्यक्ष अथवा प्रकारान्तर से नाथ एवं सन्त साहित्य में ग्रहीत हुई हैं।

सिद्धों ने भव और संसार को एक ही मानते हुए इसका उद्भव चित्त से माना है। इसकी निर्मिति संकल्पों द्वारा होती है और संकल्प चित्त में ही निगत होता है। माया चित्त से निकलकर चित्त को ही ग्रस लिया करती है। सिद्धों का यह तत्व नाथों में सत्ताशाली दिखाई पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ, जिन्हें नाथ साहित्य का पुरस्कर्ता आचार्य माना जाता है, ने माया को २६ तत्वों में से छठा तत्व स्वीकार किया है। परमशिव में सिसृक्षा के महत्व से दो तत्व शिव और शक्ति बनते हैं। तीसरा तत्व सदा-शिव जगत् को अपने से अभिन्न मानता है। ईश्वर चौथा तत्व है जो जगत् को अपने से भिन्न इदं रूप में ग्रहण करता है। सदाशिव की शक्ति पांचवें स्थान पर शुद्ध विद्या के नाम से अभिहित है। छठा तत्व माया ईश्वर की शक्ति कहलाती है। इदं रूप ईश्वर की शक्ति माया शिव को तीन मलों से आच्छादित करती है—आणव, मायिक और कर्म। इन तीनों से आच्छादित होने पर शिव जीव रूप में परिणत होते हैं। यहां इस एक सिद्धान्त में माया की बलवत्तरता दृष्टिगत होती है और जीव, माया तथा शिव का सम्बन्ध अधिक स्पष्ट होता है।[2]

गोरखनाथ ने माया को छठा तत्व ही माना है पर उसका सम्बन्ध पिंडों से लगाया है। यह माया साकार पिंड नामक तीसरे पिंड में सम्बन्धित है। डा० सत्येन्द्र के

१—भक्ति काव्य में रहस्यवाद पृ० १०६।

२—मध्ययुगीन साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र, पृ० १००।

अनुसार गारख के द्वारा माया त. कोई विशेष महत्व नहीं मिला । किन्तु माया का मौलिक रूप वस्तु व शक्ति तत्व भूला नहीं जा सका था । फलत दूसरी परम्परा मे आन वाले माया तत्व की प्रधानता न मत मन मे माया का महत्व पुन स्थापित किया। सदा शिव क शक्ति के नाम म 'शुद्ध विद्या' न ईश्वर की इदपरक शक्ति माया का "अविद्या म सम्ब ध करन की प्रवृत्ति की होगी । माया और अविद्या के मिलने पर "माया' ने शक्ति रूपिणा नारी के साथ समस्त प्रपच रचना का श्रेय प्राप्त किया । कबीर न माया क सम्बन्ध म बताया कि यह ठगिनी और फँसान वाली है । यह सवत्र व्याप्त है यह मिथ्या व सारहीन है । यह ईश्वर की इच्छा है, यह डाइन है जो मनुष्य को छलता है, डसती है । क्राध माह लाभादि इसक पाच पुत्र हैं । इसे नानाग्नि म एक बार भस्म कर दन पर भी काम नहा चलता क्योंकि जब तक इसके मोहरूपी फल का कामना रूपा बीज अवशष है इसके पुन अकुरित हाकर लहलहा उठने का भय बना हुआ है ।

इस प्रकार माया न एक नया रूप ग्रहण कर लिया तथा सन्ता ने इसको हृदयगम कर लाक प्रनाका का आश्रय लेते हुए अपन अनुभूत तात्विक सत्य को अपनी रचनाओ मे समाविष्ट किया । सन्ता का ज्ञान अर्जीत नहीं ज्ञान पर भी वह अपन पूववर्ती वा मय के बहुत निकट है यद्यपि लाकमानस के नैकट्य म उसकी शास्त्रीयता उनकर हो आती है प्रत्यक्ष नहीं ।

निर्गुण काव्यधारा के प्रेममार्गी कवि और उनकी माया विचारणा

हिंदी साहित्य की भक्तिधारा का जिस निगुन-काव्य की विशिष्ट शाखा का प्रश्रय प्राप्त हुआ है उसम प्रेममार्गी कवियो का यागदान विशिष्ट कोटि का रहा है। इस काल म प्रेमगाथा की परम्परा का पूण प्रौढता प्राप्त दृष्टिगत होता है । सूफीमत के व्यापक सिद्धान्तो को लेकर जिनका आधारफलक वेदान्त की पृष्ठभूमि पर ही विनिर्मित था [1] सूफी कवि ने पार्थिव प्रेम मे अपार्थिव प्रेम की अभूतपूर्व अन्त सलिला प्रवाहित कर हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियो को जो परस्पर विभिन्न जान पडती थी खूब निमज्जित किया तथा भारतीय काव्य शैली म पूर्ण रत हुए भी मसनवी की वर्णनात्मकता स अभिपूरित हिन्दू घर की कथाओ का नये बिन्दुओ स आलोकित कर साहित्य के क्षेत्र म एक नवीन कीर्तिमान स्थापित किया । इस क्षेत्र के कवियो म लब्ध-प्रतिष्ठ रचनाकार जायसी ही हुए। कला और दशन की एकत्रित चरम परिणति हम इनकी रचनाओ मे पाते हैं। यद्यपि इनके पहले कुतुबन और मझन क्रमश मृगावती मधुमालती के रचनाकार हो चुके हैं, जिसका उल्लेख स्वय जायसी ने अपन 'पद्मावत

१—भारत मे सूफी सप्रदाय का स्वागत इसलिए भी विशेष रूप से हुआ कि उसम वेदान्त की पूरी पृष्ठ भूमि है ॥ हिंदी सा० का आलोचनात्मक इतिहास,—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६३० ।

में किया है। इन रचनाओं में प्रेमतत्त्व की व्याख्या और उसकी अभिव्यक्ति का ही आद्यन्त वर्णन है। ईश्वर की विरह मूर्तियाँ के यहाँ भक्त का प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेममार्गी सूफी सम्प्रदाय के सब कवियों में पाये जाते हैं।[1]

जहाँ तक हमारे आलोच्य विषय माया का सम्बन्ध है जायसी में इस माया शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है। पिछले अध्यायों में हमने माया-धारणा की वैदिक प्रतिष्ठा से लेकर उसके वैदिक व्याख्याओं तक निहित सिद्धान्तों का समाहरण करने का प्रयास किया है और उससे यह बात सिद्ध है कि शंकर के गुरु गौडपाद से लेकर भक्ति परक ग्रन्थों के विभिन्न संदर्भों में माया सम्बन्धी धारणाओं में परस्पर बहुत अन्तर है। शंकर ने अपने मायावाद की प्रतिष्ठा विज्ञानवाद शून्यवाद स्वप्नवाद कल्पनावाद वैतथ्यवाद आदि के अपने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के वादों की आधारभूमि पर की थी। शंकर ने माया को ब्रह्म के रूप में भी माना। दूसरे यह कि ब्रह्म अपनी माया से जीवों को तीन अवस्थाओं का भोग कराता है। इसमें अविद्या अज्ञान का वाचक है। माया के मूल हेतु के रूप में इसी की प्रतिष्ठा है। *अज्ञानता से माया की उत्पत्ति होने के कारण* अज्ञान के उन्मूलन से माया का उन्मूलन स्वतः हो जाता है। पंचदशीकार ने तो माया का निरूपण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि प्रकृति जब सत्व से शुद्ध होती है तब उसे माया कहते हैं और सत्व से अशुद्ध प्रकृति को अविद्या की संज्ञा दी जाती है। इससे माया और अविद्या एक दूसरे के पर्याय सिद्ध होते हैं।

भारतीय प्रेमाख्यान काव्य के ऊपर शोध करने वाले डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार किया है कि इन प्रेमाख्यानों में ईश्वरोन्मुख प्रेम-व्यंजना से परिपूर्ण कथानकों में गुरु दीक्षा, मन्त्र शास्त्र माया यौगिक क्रियाएँ तथा मन्त्र आदि की बहुलता मिलती है।[3] किन्तु सूफी मत से प्रभावित प्रेमाख्यानों में भी माया का वर्णन हुआ है। सूफी मत में माया का काम शैतान से लिया गया है जो साधक को उसके पथ से विचलित करता है। पद्मावत में राघवचेतन रत्नसेन को विचलित करने के फलस्वरूप कवि द्वारा शैतान के रूप में ही चित्रित है। इस शैतान से त्राण पाने की आवश्यकता साधक को पग पग आवश्यक है जिसके लिए पीर (गुरु) एक उपयुक्त व्यक्तित्व के रूप में सन्निहित है। किन्तु जायसी के सन्दर्भ में

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६०

२—जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० २१६ २१७।

३—भारतीय प्रेमाख्यान काव्य,—पृ० ४६।

यह द्रष्टव्य है कि उन्होंने माया का भी संकेत किया है। अ याक्ति तोडो समय अलाउद्दीन का 'माया' कहा गया है। इतना ही नहीं जायसी में माया शब्द का प्रयोग कई बार मिलता है। कुछ प्रसिद्ध उद्धरण उल्लेख योग्य हैं—

क—जो य जान होति फुरमाया। सैंतत सिद्ध न पावत राया।

ख—एहि भूठा माया मन भूला। जा पखी तैस तन फूला।

ग—उलटि द ठि माया सो रूठी।

घ—मोहि यह लोभ सुनाव न माया।

ङ—काकर सुख काकर यह माया।

उपर्युक्त उद्धरणों में जायसी की माया सम्बन्धी निम्नलिखित मान्यताएँ प्रगट हैं।

१—माया मिथ्या है।

२—माया का साम्राज्य बहिर्जगत है।

३—सांसारिक वैभव ही माया है।[1]

जायसी ने माया के मिथ्यात्मक स्वरूप का ही विशेषतया वर्णन किया है। उनके अनुसार यदि माया सत् रहती तो सिद्ध जन उस साधना के द्वारा अवश्य प्राप्त कर लेते किन्तु वह तो भूठा है इसलिए उसकी प्राप्ति अथवा उसके संचय का उनके लिए कोई महत्व ही नहीं। ध्यान य है कि जिस प्रकार वेदान्ती लोग भ्रान्ति या माया को तात्विक दृष्टि से असत् या झूठ मानते हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे सत् भी कहते हैं। इसी प्रकार जायसी ने अपनी माया की बहिर्सत्ता व्यंजित कर उसकी विपत्र मूलकता व्यंजित की है।

जायसी के माया सम्बन्धी विचारों को 'पद्मावत' की पृष्ठभूमि में देखने पर पता चलता है कि उन्होंने दर्शन क्षेत्रीय माया विभावन तथा लोक क्षेत्र में प्रचलित माया विचारणा का समन्वय अपने उक्त काव्य में किया है। अब हम प्रथम दर्शन क्षेत्रीय माया का सिंहावलोकन प्रस्तुत कर जायसी के विचारों के साथ उसका सम्बन्ध निदर्शन करेंगे।

असत् और सत् के पूर्व विवेचन में हमने देखा है कि जायसी का माया या तत्सत् दृष्टिकोण वेदान्तियों के अनिर्वचनीय वाद के अधिक समीप है इसी प्रकार उनका माया सम्बन्धी दृष्टिकोण वेदान्तियों के ही अनुरूप है।[3] डा० रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में पुष्कल प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि अपने मूल रूप में सूफी सम्प्रदाय वेदान्त का रूपान्तर मात्र है।[4] वेदान्त के प्रभाव को लेकर सूफीमत ने अपना स्वतन्त्र विकास किया जिसमें कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का विशेष

१—जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन—डा० त्रिगुणायत, पृ० २१।

२—वही, पृ० २१६।

३—जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन, पृ० ११६।

४—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४२०।

यद्यपि इस अन्योक्ति का आधुनिक समकालीन शास्त्रकार प्रश्न ही मानते हैं । जो भी हो इसके सम्बन्ध में विवाद करना यहाँ अभीष्ट नहीं । हम केवल इतना ही कहना है कि माया का इस स्थान पर अज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्ति हुई है । अज्ञान की अनेक विशिष्टता अपनी सपूर्णता में इसमें व्यजित हुई है । कवि ने अलाउद्दीन में अपरिमित शक्ति का अध्यवसान माना है । भौतिक शक्ति की दृष्टि से अज्ञान या माया शक्ति की सामा भी अपरिमेय है । अलाउद्दीन की क्षमता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उसके समक्ष रतनसेन जैसा सिद्ध महाबली को भी घुटने टेक देना पड़ता है । उसके छत्र उद्दम और असामान्य वाहिनी की अपार शक्ति के सामने वह परिणाम की दृष्टि में पराभूत हो दिखाई पड़ता है । उसकी अतुलित शक्ति का वर्णन करते हुए कवि बादशाह चढ़ाई खड" में कहता है— बादशाह हठि कीन्ह पयाना । इन्द्र भंडार डोल भय माना ।' इसी तरह उसकी वाहिनी को देखकर स्वर्ग और पाताल कंपित हो जाते हैं । लगता है उसका भार उससे सहा नहीं जाता । इस तरह का वर्णन अनेक स्थलों पर पद्मावत ' में आया है ।

स्त्री को नारी में माया का प्रतिरूप कहकर सबोधित किया जाता है । साहित्य ग्रन्थों में भी इस तरह के पुष्कल प्रयोग मिलते हैं । संतों ने तो नारी को माया के पर्याय के रूप में उल्लेख किया है इसी प्रकार तुलसी जो इसे नारि विष्णु माया प्रगट' लिखकर प्रबल अग्नि की वरन धारा की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अलाउद्दीन की स्त्री आसक्ति उच्च कोटि की है । शुक्ल जी ने लाभ और प्रेम के निदर्शन में लोभ की की जिस कोटि क्रमता का निर्धारण किया है उसकी चरम सीमा तक स्थिति हम अलाउद्दीन में पाते है । लगभग २६०० स्त्रियों के साथ विलास रमण करने पर भी उसका पद्मिनी की प्राप्ति के प्रति सचेष्ट होकर अनधिकार चेष्टा करना माया की अप्रतिम आसक्ति का ही द्योतक है । माया की अन्य विशेषताओं में अहंकार का उल्लेख योग्य स्थान है । तुलसी आदि संतों ने मैं अरु मोर तोर तैं माया लिखकर अहकार को माया का प्रतिरूप माना है । अलाउद्दीन में ये सब तत्त्व वर्तमान हैं । अन्य विशेषताओं में उसकी कपट बुद्धि तथा प्रवचना है । रतनसेन को पराजित करने के लिए वह उससे मैत्री स्थापित कर अपने इन्द्र-जाल में फसा लेता है और उसे बन्दी बना लेता है । यह माया की जड़ता के विपरीत उसकी पृथक विशेषता है जिसे हम प्रवचना की स्थिति कह सकते हैं ।

इस प्रकार कवि ने यथाशक्ति माया की प्रमुख विशेषताओं को अलाउद्दीन में घटित करने का प्रयास किया है जिसमें उसे सफलता भी मिली है ।[1]

पुनः नागमती के प्रतीकत्व से भी नागमती के एक पक्ष का उद्घाटन कवि ने किया है । वास्तव में 'नागमती यह दुनिया धधा' है । दुनिया का धधा स्वयं प्रपंच रूप होने से माया का ही एक पक्ष है । माया का स्वरूप प्रपंचात्मक है । वैसे माया का प्रतिरूप अज्ञानमयी नारी ही माना गया है ।

१—जायसी पद्मावत काव्य और दर्शन,पृ०

जायसी की माया-धारणा कैसी रही है यह [illegible] समानान्तर भी प्रकट हुई है। सूर के समान ही कवि इस संसार की असारता और माया के पाश का वर्णन करते हुए कहता है— "एहि झूठी माया मन भूला। ज्यों पंखी तैसे तन फूला।" इस विषमय संसार में सोचने विचारने की बुद्धि नष्ट हो जाती। मन को मारना बड़ा कठिन है। वह हमारे वश में नहीं रहता। चारे को लेकर लालच में फँसकर वह उसके पीछे छिपे काल को नहीं देख पाता। माया का बाह्य आवरण बड़ा ही आकर्षक हुआ करता है। इसी से वह जीव को अपने प्रलोभन में फाँस लेता है और अन्त में उसे अनेक प्रकार की प्रताड़नाओं में बाँध देता है। यहाँ वर्णित माया [illegible] जीव माया के प्रलोभन विषमय चारा और दुःखद परिणाम मृत्यु माना जा सकता है। काम क्रोध तृष्णा मद और माया ये पाँचों चोर अहर्निश शरीर के अन्दर घुसे रहते हैं। इन्हीं से मानव शरीर इनका वशवर्ती बना रहता है। नौ छिद्र (नव इन्द्रियाँ) के किसी न किसी मुख से ये काम-गृह में प्रविष्ट होकर इसको भरपूर लूटते हैं। अर्थात् आत्मा इन्हीं के चक्कर में पड़ा रहता है। ज्ञान दीपक से माया-अंधकार के विनाश का वर्णन करते हुए कवि का मत है कि हृदय में ज्ञान रूपी दीपक का प्रकाश फैलते ही ज्ञान पर तत्व का दर्शन आसान हो जाता है। माया मोह से सर्वथा मुक्ति मिल जाती है। माया का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष हो जाता है।[1] और तब उसके त्याग के प्रति आत्मा सचेष्ट होता है। माया मोह के नाश से प्राणी कायाकल्प कर निर्मल हो जाता है और तब उसके [illegible] की प्राप्ति सहज में हो जाती है, ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।[3] वस्तुतः यह सब मठ, घर और लोक वित्त धनादिरूप माया मोह क्षणिक हैं अर्थात् ये किसी का भी साथ नहीं देते। ये सब उसी ब्रह्म के हैं जिसके कि हमारे यह शरीर और प्राण हैं। वस्तु के स्वामित्व का दंभ करना निरर्थक है। इस संसार की सभी वस्तुएँ असत्य हैं और हैं माया मय। यहाँ के द्रव्य राजपाट, धन दौलत और परिजन कुछ भी स्थायी नहीं है। ईश्वर ही सत्य है और वही समय पड़ने पर अपनी प्रदत्त वस्तु को लौटा लेता है। इस प्रकार जायसी ने जीव और जगत् की अनित्यता सिद्ध कर उसे माया से आपूर्ण माना है तथा ईश्वर को ही शाश्वत महत्ता का अधिकारी करार दिया है। माया का बाह्य रूप दृष्टि के समक्ष तो सत्य जान पड़ता है पर उसका आभ्यन्तरिक पक्ष उतना ही खोखला है।

जायसी ने माया शब्द के प्रयोग विभिन्न अर्थ सम्पन्न हेतु भी किए हैं —

माया—दया अनुकम्पा

जैसे—रानी उत्तर दीन्ह कै माया (जन्मखंड) (४८)

तुम्ह कहँ गुरु माया बहु कीन्हा (पद्मावती-सुआ भेंट खंड) (१८७)

उतरा चाबु बहुरि करि माया (नागमती वियोगखंड) (३३०)

१—प्रेमखंड (१२६)

२—वही (१२७)।

३—जा० ग्र० पदमावती सुआ भेंट खंड (१८७)

दर एक माया कर मार (बादशाह दूती खड) (६४७)

माया-गृहासक्ति, लिप्सासक्ति ।

सिद्धहि सग होइ नहिं छाया । सिद्धहि होइ भूख नहिं माया ।

यहा सिद्ध पुरुष की पहचान के सम्बन्ध म कवि उसकी विशेषताओ का वर्णन कर रहा है ।

माया-धन सम्पत्ति

माया माया सग न आयी । जेहि निउ सौंपा सोई साथी ।

यहा काया के साथ माया का प्रयोग स्पष्ट ही धन सम्पत्ति के अर्थ म प्रयुक्त है ।

मोह के साथ माया का प्रयोग जैस 'माया-मोह' लोक म हुआ करता है उसी प्रकार किया गया है । (माया मोह बाध अरुझाना) (रतनसेन बिदाई खड)

(माया मोह हरा सेई हाथा)[1] (जोगी खड) (१३७)

जायसी न जैसा पहले कहा गया है—काम क्रोध, तिस्ना मद माया)[2] इन पाँचो शरीर के चारो का वर्णन किया है किन्तु यहा काम क्रोध माया के अन्तर्गत नही बल्कि माया के साथ प्रयुक्त हैं । तुलसी तथा कबीरादि सतो न माया कारक या उसके परिवार के अन्तर्गत काम क्रोध मन, लोभ आदि का वर्णन किया है । गीताकार ने 'त्रिविध नरकस्यद" म काम क्रोधस्तथालोभ' को ही रखा है ।

पुन माया का माता के अर्थ म भी प्रयोग हुआ है । "मात' संस्कृत 'माआ" माया, मया का हो जाना भाषा की क्रमश मुखरता की ओर उन्मुख होने का द्योतक है ।

चितवे रतनसेन के माया (जोगी खड) १३२

माहि यह लाभ सुनावन माया (वही) १३३

बादल केरि जसो वे माया (गोरा बादल युद्ध यात्रा खड) (६५४) माया का 'छल' के अर्थ म भी जायसी न व्यवहार किया है—

राजा वह वियाध भइ माया (रतनसेन बधन खड (६१२) ।

अर्थात् बादशाह की वह माया अर्थात् छलपूर्ण व्यवहार राजा के लिए दुख का कारण बन गया । इसी तरह 'अमियवचन और माया को मुण्ड रसभीज (रतनसेन बधन खड) ६१० अर्थात् अमृत के समान मीठे वचन और माया अर्थात् छल पूर्णवातो के रस म क्व कौन नहीं मारा गया ।

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थों म जायसी न माया शब्द का प्रयोग किया है । जायसी की भावना की अन्यतम विशेषता है दर्शनक्षेत्रीय माया भावना तथा लोकक्षेत्र मे प्रचलित मायावाद का समन्वय । यद्यपि कुछ विद्वानो न उनके सूफी होने के कारण जीव

१—जायसी ग्रन्थावली-स० प० शुक्ल, पृ० ५४ ।

२—जायसी ग्रन्थावली सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६५६ ।

और ब्रह्म के मध्य अंतर का शैतान को करता माना है माया के कारण नहीं। उनके अनुसार शैतान के भुलाव में आकर जीव अपने नमाज और नमाज को भूल गया है। इसमें उसके अल्लाह के और प्रकृति के बीच परदा पड़ गया है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि भारत में प्रचलित यह विचार कवि का ही प्रमुख स्वर प्राप्त रहा है कि जीव और ब्रह्म की एकता में माया का आवरण ही उसे पृथक् बना देता है। वेदान्त की विचार-धारा के बिल्कुल अनुरूप होने पर भी इसका वाममुखी स्वर इतना प्रबल है कि अधिकांश के मुख में भी यह बात सुनने को मिल जाती है। अतः जायसी ने अवश्य इस तत्व को अपने काव्य-स्थान का आधार बनाया होगा। कवि के रचना-अध्ययन क्रम में हमारा यह मन्तव्य पुष्ट होता गया है और इस उपयुक्त धारणा में पुष्कल प्रमाण हम प्राप्त हुए हैं जो जायसी के विचार क्रम में अनुस्यूत है।

स्वयं अतिरिक्त जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवियों ने भी माया का विस्तृत विवेचन किया है। डा० सरला शुक्ल ने अपने शोध प्रबन्ध में इसकी चर्चा की है।[1] इस आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१—इन सूफी कवियों ने माया की परिकल्पना विद्या माया के रूप में नहीं की और न माया के किसी सुस्वरूप को ही माना।

२—साधक की अपनी साधना में अग्रसित होकर इनके प्राप्त के प्रयास-काल में इन्द्रियगत विषय भोगों के आकर्षण एवं उनके दुष्प्रभाव से बचने का सर्वाधिक प्रयत्न विधेय है। सयानपिणी माया के आकर्षण से आच्छन्न मनुष्य बार बार कामना करने के बदले भोग की इच्छा सवारने लगता है— माया माया के बन्ध नाग नाग न चाहे कैहो चाह भोग। (नर मुहम्मद अनुराग बासुरी पृ० १२१)।

३—पंचेन्द्रिय जनित भोग ही मनुष्य की बुद्धि को सब तरह से घेरे रहते हैं। मानव इनके द्वारा नाना भांति नचाया जाता है— पांचो नाच नचावहिं आपनि आपनि यार बिनावना—उसमान पृ० १३१।

४—सूफी कवियों ने साधक के मार्ग की सभी विघ्न बाधाओं को माया के स्वरूप के अन्तर्गत परिगणित किया है। यह स्वरूप कल्पना दो रूपों में उद्घाटन की है। एक तो शरीर या कायान्तर्गत वर्तमान नफ्स अर्थात् विषय वासना की भावना और दूसरा मिथ्या बाह्य जगत् का आकर्षण। बाह्य जगत् का नश्वर व्यय है। कामिनी कांचन के द्वारा ही माया अपना प्रभाव डालती है। अतः साधक को इनसे हमेशा सजग रहना चाहिए।

जोगिहि काम भोग सो काजू। चहै न धन, धरनी औ राजू।
जायसी—पद्मावत पृ० ५८।

५—रूप पर सभी आकर्षित होते हैं किन्तु यह रूपाकर्षण भी मिथ्या है। इसमें अन्यथा के साथ परिवर्तित होता रहता है रूपवती नारियों का उदाहरण इसका ज्वलंत प्रमाण है।

१—जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य—डा० सरला शुक्ल।

६—माया या ममता नष्ट करने में गुरु के प्रवचनों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उनके वचनों को आँख में अंजन लगाकर हृदय रूपी दर्पण को परिमार्जित करके परमरूप का ज्ञान संभव है—

"गुरु वचनचषु अंजन लेहू। हिया मुकुर मंजन करि लेहू।
माया जारि भसम के डारो। परम रूप प्रतिबिंब निहारो।।"[1]

७—सूफियों ने अव्यक्त को व्यक्त करने तथा इंद्रिय जनित विषय वासनाओं की मादकता उपस्थित करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है। 'हंस जवाहिर' में विषय वासना के लिए ठग एवं बटमार जैसे प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार 'इंद्रावती' में राजकुंवर की आगमपुर यात्रा में माया के विभिन्न रूपों का मार्ग के अनेक अंतरायों के रूप में वर्णन मिलता है। रूप रस गंध स्पर्श और शब्द सुख के लिए 'प्रथम वन' से लेकर 'पंचम वन' तक अभियान प्रस्तुत है जिसमें साधक इन वनों पर सफलतापूर्वक अधिकार प्राप्त करें। वन का स्वरूप कवि ने माया की गहनता का ध्यान रखकर दिया है।

इस प्रकार जायसी से लेकर उनके अनेक परवर्ती कवियों तक इस माया-वर्णन की परम्परा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित दृष्टिगत होती है जिसमें साधक को माया के विभिन्न रूपों का दर्शन कराकर उसके विपरिणामों का उद्घाटन कर उससे सदा विलग रहने की बात कही गई है।

———

१—चित्रावली-उसमान, पृ० ६१

पंचम अध्याय

कृष्ण-भक्ति-काव्य का दार्शनिक आधार और उसमें माया का स्थान

हिन्दी साहित्येतिहास का स्वर्णयुग भक्तिकाल ही था जिसका समस्त वैष्णव-काव्य माना जाता रहा है जिसमें साकार-भक्ति के दो अनन्य गायक सूर और तुलसी ने सगुण ब्रह्म की नाना भावनाओं के अन्तर्गत अनन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म और उत्तम भावानुभूतियों के विश्वव्यापी मानवीय भावनाओं की वर्णमय अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम राग झंकृत किया। विषय की व्यापकता की दृष्टि से यद्यपि हमारा आलोच्य कृष्ण काव्य अपेक्षया अधिक संकुचित रहा तथापि साकार भक्ति की तरंग में जिस उच्च कोटि के साहित्य की सृष्टि हुई वह गहराई में परिणाम की दृष्टि से अभूतपूर्व अथवा 'न भूतो न भविष्यति' बनकर रह गई। डा० एस० एलियट ने 'क्लासिक्स' की जिस परिभाषा में परिभाषित किया वह इसकी सम्पूर्णता में इसमें संप्राप्त है। 'क्लैसिकल' की इस तरह सारी अभिष्ट विशिष्टताएँ इस वैष्णव काव्य में एकत्र मिल जाती हैं। इस युग के जिन दो अनन्य उद्गाताओं का नाम ऊपर आया है उनमें प्रथम कृष्ण भक्ति काव्य के मुकुटमणि तथा प्रस्तुत प्रसंग के विवेच्य श्री सूरदास जी हैं और दूसरे हैं कवि सार्वभौम तुलसीदास जो कि रामभक्ति धारा के अन्तर्गत हम समाविष्ट पाते हैं। (जिनका परिशीलन अगले अध्याय का विषय बनेगा)।

इस आलोच्य कृष्ण-काव्य धारा का उपजीव्य ग्रंथ श्रीमद्भागवत है यद्यपि इस भागवत परंपरा से भिन्न लीलागान की एक शास्त्रीय परंपरा लोक में अवश्य प्रचलित मिलती है जिसका स्रोत जयदेव के गीतगोविन्द, क्षेमेन्द्र के 'दशावतार चरितम्' तथा चंडीदास और विद्यापति के पदों में उपलब्ध है तथापि इस परंपरा को महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुभागमन के पश्चात् ही उत्तर भारत में एक नए आदर्श और प्रेरणा की एक सर्वथा नव्य धारा संप्राप्त हुई। गीतगोविन्द के जिस रूप का वर्णन आया है उसका स्वरूप प्रबंध काव्य से अधिक गीतकाव्य के सामीप्य में है। इसके प्रथित दार्शनिक पृष्ठाधार और भक्ति सिद्धान्त के विवेचन में आचार्य और भक्तों ने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता और गीता का ही सुन्दर आधार लिया है, महाभारत के अन्तर्गत 'नारायणीयाख्यान', शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, नारद पांचरात्र तथा नारद भक्ति सूत्र की वाणी भी इनकी रचना तथा भक्ति के आयाम में निनादित हुई है।[1] इस प्रकार

१—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५२६।

शुक्लजी के शब्दों में, "आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं।"[1] इन अष्टछापी कवियों ने भगवान् के व्यक्त रंजनकारी प्रेममय छवि का ऐसा माधुर्यपूर्ण अंकन किया, जिसमें भक्तिमार्ग में भगवान् के प्रेममय स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई और उसने आकर्षण द्वारा 'साख्य भक्ति' का मार्ग प्रशस्त बना। श्रीमद्वल्लभ ने 'भगवान में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सतत् स्नेह को भक्ति माना तथा मुक्ति का सरलतम उपाय इसे ही निर्धारित किया। इस प्रकार अष्टछाप के कवियों में भक्ति का जो स्वरूप हमें प्राप्त होता है उनमें श्रीवल्लभ के मत का ही अनुसरण मिलता है।" एवंविध प्रेम और भक्ति की भाव समाधि में भगवान् के नाम और लीला द्वारा चरम आनन्द तथा रूप-सुधा के आस्वादन कराने का इष्ट व्रत हम प्रस्तुत काव्य धारा के कवियों में निदर्शन में पाते हैं।

अष्टछाप का कवि अपने हार्दिक उद्देश्य में सदा सचालित रहकर अहर्निश कीर्तन सेवा में आसक्त रहता है। भगवल्लीला गान का महत्व ही उसके समक्ष सर्वाधिक है। उसके प्रभु भूभार हरनाथ दुष्ट दलन करने वाले रसरूप श्रीकृष्ण हैं। मायामानुष देह धृत लीला में सांसारिक जनों के समक्ष उनका पूर्ण ब्रह्मत्व प्रतिपादन करना कवि कभी विस्मृत नहीं करता। वल्लभ मत में ईश्वर का शुद्ध प्रेम साध्य माना गया है। अष्टछाप भक्त ने इस प्रेम-भक्ति की महिमा सरल कंठ से मुक्त कंठ पदों में गाई है। बिना प्रभु अनुग्रह के उस ईश्वर की प्रेमभक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। प्रभु के चरणों का नैकट्य तो तभी संभव है "जो यह लीला गावे चित दे सुन सुनावे' और तब प्रेम भक्ति सो पावे अरु सब जिय भावे।" इस प्रेम साधना में वल्लभ ने लोकमर्यादा और वेद मर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया है। इस प्रेम लक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है तब भगवान् का अनुग्रह होता है जिसे 'पोषण' या पुष्टि कहते हैं। वल्लभाचार्यजी ने अपने मार्ग का नाम इसी से पुष्टिमार्ग रखा।[3] हम पूर्व निवेदन कर चुके हैं कि सभी अष्टछाप के कवि सम्प्रदाय के आचार्य वल्लभ तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे अतः सभी के दार्शनिक विचार वल्लभ सिद्धान्तानुसार ही रचनाओं में प्रकट हैं। अतः कृष्णदास की दार्शनिक विचारधारा में पूर्णतः अवगत होने के लिए यह आवश्यक है कि महाप्रभु के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय यहाँ उपस्थित किया जाय। यद्यपि यह निश्चित है कि अष्टछाप के कवियों का उद्देश्य पूर्णतया दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण नहीं था और वे इन सिद्धान्तों की जटिल गुत्थियों में नहीं उलझे तथापि इन भक्त कवियों के काव्य में यत्र-तत्र दार्शनिक विचारों की छाप मिल ही जाती है।[4]

१—सूरदास—आचार्य शुक्ल, पृ० १४६।
२—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५३०।
३—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १५२।
४—कविवर परमानंद दास और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६२।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" के द्वारा ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है वहीं साथ ही "आनन्दमात्र कर पाद मुखोदरादि" कह कर उसे सगुण भी माना गया है। वल्लभ ने ब्रह्म की वह शक्ति जिससे वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है 'आविर्भाव तिरोभावर्मोत्मि बहुरूपता' के अन्तर्गत माना है। वस्तुओं का आविर्भाव और तिरोभाव ब्रह्म से ही हुआ करता है। वल्लभ सम्प्रदाय में आविर्भाव और तिरोभाव से तात्पर्य प्रकटीकरण और गुप्तीकरण से हैं। जगत् का ब्रह्म में तिरोभाव अर्थात् समावेश होना है उसका लयात्मक नाश नहीं होता। इसी तरह आविर्भाव के अर्थ में पहले से ही ब्रह्म स्थित ब्रह्म रूप जगत् का प्राकट्य होना है। वल्लभ के मतानुसार जड़-जगत् और जीव सृष्टि सच्चिदानंद ब्रह्म के अंश हैं। जड़ तत्व में चित् और आनंद दोनों धर्म तिरोभूत हैं, प्रकट केवल सत् धर्म है जीव में सत् और चित् दो धर्म प्रकट हैं और आनंद तिरोभूत है और उस ब्रह्म का आनंदांश अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक जीव में स्थित है। ब्रह्म अपने तीनों धर्म सच्चिदानंद सहित अन्तर्यामी रूप में सर्वव्यापक है। जीव और ब्रह्म में यही अन्तर है कि रस रूप परब्रह्म छः अप्राकृत धर्मों ऐश्वर्य, वीर्य, यश श्री, ज्ञान और वैराग्य से व्याप्त है किन्तु उसी की इच्छा से प्रेरित जीव के ये ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते हैं और यही उसके जागतिक दुख के हेतु बनते हैं।[1] ईश्वर की भक्ति द्वारा उसका कृपापात्र बन जाने के पश्चात् ये उक्त गुण पुनः प्राप्त हो जाते हैं और तब वह अपने आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त कर ब्रह्म हो जाता है। इस तरह जीव को मोहने वाली या बंधन में डालने वाली माया जैसी वस्तु वल्लभ की अवमाया है। जीव को माया ब्रह्म से हटा केवल उसका आनंद स्वरूप आवृत रहता है। इस प्रकार जो माया परमात्मा के शुद्ध अद्वैत भाव का प्रतिपादन करने से भी वल्लभ का सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहलाता है।[2] अब प्रश्न उठता है कि जीव के आविर्भूत होने के कारण क्या है? इसे वल्लभ ने भगवान की रमणेच्छा को ही सर्वप्रमुख माना है अतः जीव ब्रह्म से पृथक नहीं अपितु भगवत्स्वरूप ही है। जीव ब्रह्म से उसी प्रकार निर्गत हुआ है जिस प्रकार अग्नि से उसके विस्फुलिंग—यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा। जीव नित्य है और वल्लभ के अणुभाष्यानुसार यह अणु ही है। शंकराचार्य नाना जीवों को ज्ञानस्वरूप मानते हैं परन्तु वल्लभ उसे नाना रूप में ही। शंकर जीव को ब्रह्म सदृश अकर्ता अभोक्ता मानते हैं परन्तु वल्लभ जीव को कर्ता और अभोक्ता मानते हुए भी उसमें दुख में परे मानते हैं।[3] इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव की तीन कोटियाँ हैं—शुद्धजीव—इसमें आनन्द रूप का तिरोधान तो रहता है पर अविद्या से सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरा स्थिति में अविद्या से सम्बन्ध हो जाने पर जीव संसारी कहलाता है। इन्हें दैवासुर दो विभागों में रखा गया है। तीसरा में मुक्त का परिगणना है। जगत् के संबंध में आचार्य

१—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ४०१।
२—महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० ५३।
३—वही पृ० ५३।

इस मार्ग की विशेषता निस्साधय भक्तों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। यह मार्ग भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि का मार्ग है। पुष्टिमार्ग का नामकरण "कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टि" श्री कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है इसी आधार पर हुआ है। इस प्रकार भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि के मार्ग को पुष्टि मार्ग कहा गया है। इस भगवदनुग्रह की प्राप्ति लिए भक्ति विधान है। भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ और सर्वाधिक स्नेह हो उसे भक्ति माना गया है। आचार्य जी के अनुसार पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु अनुग्रह द्वारा ही साध्य है तथा भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है। वल्लभ के अनुसार भगवान् का प्रेम बिना अविद्या का नाश हुए नहीं मिल सकता और अविद्या का नाश विद्या द्वारा ही सम्भव है। भक्ति विद्या का एक पर्व है और सब छोड़कर दृढ़ विश्वास के साथ सदा श्रवण कीर्तन आदि साधना द्वारा हरि के भजनामृत का पान करने से अविद्या का नाश निश्चित है। भगवान् सर्वभाव से भजनीय है। उन भगवान् के समान जो इहलोक के दुख हर्ता तथा परलोक के बनाने वाले है केवल शरण में जाने की ही अपेक्षा है। 'भाव, कुभाव अनख आलसहू' किसी प्रकार उनकी शरण में जाना फलदायक है। "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप" के अनुसार सर्वात्मभाव से कृष्ण का स्मरण और भजन ही सारी भक्ति साधना के मूल में है। इसके लिए भक्त को संसार के विषयों का "मनसा वाचा कर्मणा" त्याग आवश्यक है क्योंकि विषयों से पूर्ण देह में भगवान् का वास नहीं होता। श्रवण कीर्तन और स्मरणादि नवधा भक्ति ही साधन रूप में क्रियार्थ आदिष्ट हैं। यद्यपि इसमें अनन्यता के भाव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है।[1]

अब हम उपर्युक्त विवेचित कृष्णकाव्य के दार्शनिक विभावन के पश्चात् उसमें अपने विवेच्य माया का स्थान निरूपण करेंगे।

शंकर के मायावाद के प्रतिवर्तन-स्वरूप जितने भी सम्प्रदाय आए उन सबका लक्ष्य सर्वप्रथम मायावाद का खण्डन था ऐसा हम पूर्व कह चुके हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि इस माया का किसी न किसी रूप में प्रयोग प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। श्रीमद्वल्लभ ने भी अपने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना में सर्वप्रथम यह घोषित किया माया सम्बन्ध रहितं शुद्ध मित्युच्यते बुधैः' माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म। शंकर सिद्धान्त से इस सम्प्रदाय का जो स्थापित वैभिन्य है वह यह कि शंकराचार्य के सिद्धान्त में जिस प्रकार परब्रह्म के साथ एक अनिर्वचनीय माया शक्ति मान ली गई है। उसी प्रकार माया शक्ति को भी उस सम्प्रदाय में अनादि नहीं कहते। उस माया शक्ति का पर ब्रह्म से ही प्रकट होना माना जाता है। यद्यपि उपनिषदों में शक्ति या माया का परब्रह्म से प्रकट होना नहीं मिलता। पुराणों में बहुधा शक्ति को परब्रह्म की सहचारिणी माना गया है। जैसा कि कहीं कहीं विष्णुपुराणादि में शक्ति या विष्णु नाम

1—अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५२४ ५२५।

माया के द्वारा जगत् के पदार्थों के मध्य परस्पर भिन्नत्व का उद्भव होता है। ऐसा लगता है कि ये सभी वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न हों, डॉ० दी० द० गुप्त के शब्दों में 'इस प्रकार का अहंभाव और अन्यभाव भाव माया में उत्पन्न होता है। रज्जु में सर्प के भ्रम में जैसा आभासित होता है उसी प्रकार से अविद्या माया सत्य का आच्छादन कर देती है। इसके द्वारा ही जीव शोक मोह के घन पटल में दिग्भ्रमित होकर अपनी इयत्ता खो देता है। इस माया का कार्य विषय वासनाओं में जीव को आबद्ध कर भ्रान्त बुद्धि का संचार करना है जिससे वह शोक मोह, राग द्वेषादि भावों की संसृति में भ्रमने लगता है। भागवत की सुबोधिनी टीका में श्रीमद्वल्लभ माया की व्यामोहिका-शक्ति का वर्णन इस प्रकार करते हैं जो वस्तुओं में अन्यथा प्रतीति कराती है। यह माया जीव के अन्तःकरण बुद्धि आदि की मोहनी है[2] और यही मोह अथवा भ्रम युक्त बुद्धि रंगीन चश्मे की भाँति पदार्थों को उस रूप में देखती है जिस रूप में वे वस्तुतः रहते नहीं। एवं विध भ्रम उत्पन्न कर कभी तो यह जो कुछ विद्यमान है उसका प्रकाशन नहीं करती और दूसरे में अविद्यमान को प्रकाशित कर अपने द्विविध रूप आवरणत्व को चरितार्थ करता है। यही कारण है कि "माया" शब्द के यथानुसार संसार की अविद्या माया के अनेक नाम जैसे अज्ञान अध्यास भ्रम स्वप्नादि आचार्यों द्वारा प्रयुक्त हैं। ये नाम उसकी कार्यसत्ता और परिविस्तार पर ही आधृत हैं। आचार्य ने अपने तत्त्वदीप निबन्ध में इस माया को 'पंचपर्वा' बताकर उसमें आबद्ध जीव के अनेक विध सांसृतिक क्लेश की चर्चा की है। इस उक्त क्लेश से त्राण तो तभी मिल सकता है जब अविद्या का मूलोच्छेदन हो जाय और वहाँ विद्या की स्थिति पूर्णतया स्थापित हो जाय।[1] ऊपर अविद्या के जिन पाँच पर्वों की चर्चा हुई है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—पहला अज्ञान या अध्यास, दूसरा प्राणाध्यास, तीसरा इन्द्रियाध्यास, चौथा देहाध्यास और पाँचवाँ स्वरूप का ज्ञान। मुक्ति काल में जब विद्या द्वारा अविद्या का नाश हो जाता है उस समय देह इन्द्रिय अन्तःकरण का अध्यास भी मिट जाता है और संसृति क्लेशों से मुक्त जीव 'जीवन्मुक्त' की संज्ञा प्राप्त करता है। इस प्रकार विद्या अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिए पंचपर्वा माया का ध्वंस हो और जीव अपने सत्यस्वरूप को जानकर मुक्ति लाभ करे। वल्लभ मतानुसार साधक को भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त भगवद्प्रेम करना चाहिए[3] क्योंकि अविद्या नाश करने के अन्य मार्ग अत्यन्त दुस्तर दुरन्त हैं। अतः भगवान् के अनुग्रह अर्थात् पुष्टि या कृपा द्वारा भगवद्भक्ति ही सरलतम मार्ग है।

१—सुबोधिनी टीका, भागवत्, अ० २, स्कन्ध ६ श्लो० ३३।

२—सुबोधिनी भागवतम् २, ६, ३३।

३—त० दी० शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक २६, पृ० १०० १०६।

४—वही, श्लोक ३५, पृ० १००।

५—अष्टछाप—डा० दी० द० गुप्त, पृ० ४५०।

ये कृष्णभक्त कवि सम्प्रदाय मे दीक्षित थे और तन्मय होकर उन्होने एक भाव मे उसके दर्शन को काव्य परिधि मे स्थान दिया है। इधर डा० शशि अग्रवाल ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य पर पुराणो का प्रभाव' शीर्षक के एक परिच्छेद "पुराणो मे माया और उसका हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य पर प्रभाव" मे अपना निष्कर्ष दिया है— पुराणो मे माया सम्बन्धी दार्शनिक विवेचन पर्याप्त रूप से हुआ है जिसका प्रभाव हिन्दी के कुछ कृष्ण भक्त कवियो पर भी दिखाई पडता है।[1] उनकी यह स्थापना निश्चित रूप से तथ्यपूर्ण है किन्तु वल्लभमत मे स्वयं पुराणो का माया भावना का सार गृहीत हुआ है। आचार्य ने पुराणो के मुकुटमणि भागवत का चूडान्त अध्ययन किया था और उस पर अपनी सुबोधिनी टीका भी लिखी थी जिसका महत्व केवल शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे ही नही अपितु सर्वत्र विद्वमण्डली मे है। इसी तरह जहाँ सूर नन्दादि भाषा कवियो ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का 'भाषा' का रूप दिया है वहाँ स्वयमेव भागवत के माया सम्बन्धी भाव आ गए है अत पुराणो की भावना का प्रत्याहार उन्हीं मे हो जाता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के "माया की परम्परा" शीर्षक मे हमने पुराणो की माया-भावना पर विस्तार से विचार किया है अत यहाँ भी पुराणो के कुछ विशिष्ट सन्दर्भो को लक्षित कर उनके माया कवियो पर पडे प्रभावो की चर्चा करेंगे।

श्रीमद्भागवत् मे परब्रह्म की त्रिविध माया छाया का वर्णन हुआ है। एक तो सृष्टि की 'उद्भवस्थिति संहार कारिणी' आदि शक्ति स्वरूप माया है और दूसरी वह माया जो मनुष्य मे अहंता, ममता लाकर ईश्वरीय गुणो का तिरोधान कर देती है। अविद्या माया की चर्चा करते हुए एक स्थल पर भागवतकार परमसुख के साक्षात्कार स्वरूप भगवान् को ही मायारूप कहता है। इस संसृति का सारा दृष्ट विभिन्नताएँ माया ही हैं जिसके निषेध कर देने पर केवल ईश्वर बच जाता है। परन्तु विचार करने पर उसके स्वरूप मे माया का उपलब्धि निर्वचन नहीं हो सकता। अर्थात् सारे नाम रूप और माया ईश्वर ही है।

स वै ममाशेष विशेष माया निषेधनिर्वाण सुखानुभूति ।
स सर्वनामा स च विश्वरूप प्रसीदताम निरुक्तात्मकशक्ति ॥

माया के स्वरूप पर विचार करते हुए भागवत पुराण मे स्पष्ट लिखा है 'आदि पुरुष परमात्मा जिस शक्ति से सम्पूर्ण भूतो के कारण बनते है और उनके विषय भोग तथा मोक्ष की सिद्धि के लिये अपने उपासको की उत्कृष्ट सिद्धि के लिये स्वनिर्मित पंचभूतो के द्वारा विभिन्न प्रकार के देव, मनुष्यादि शरीरो की सृष्टि करते हैं उसी को माया कहते है। यह ब्रह्म का आदि शक्ति स्वरूप माया है। (भागवत २।९।१६)

इसी तरह अविद्या माया के सम्बन्ध मे भागवतपुराणकार का कथन है कि माया द्वारा जब तक मनुष्य जीव को ईश्वर से भिन्न देखता है तब तक वह स

संसार से छुटकारा नहीं पाता। 'जब तक मनुष्य इन्द्रिय और विषय रूपी माया के प्रभाव से बाहर न आकर अपने को भिन्न देखता है तब तक उसके लिए इस संसार चक्र की निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि यह मिथ्या है तथापि इसका भोग का क्षेत्र होने के कारण उसे विभिन्न प्रकार के दुखों में डालता रहता है।'[1] (भागवत ३।८।६)। इसी प्रकार भगवान् की माया किस प्रकार आँख झेंपकर दूर से ही भाग जाती है। परन्तु संसार के अज्ञानी जन उसी से मोहित होकर 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है', इस प्रकार बकते रहते हैं।

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥
—भा० २।५।१३

इसी प्रकार विष्णु पुराण में भी अविद्या माया के मोहनकारी रूप का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि वासुदेव आपकी माया परमार्थतत्त्व को न जानने वाले पुरुषों को विमोहित करने वाली है जिससे मूढ़ पुरुष अनात्मा में आत्मबुद्धि करके बन्धन में ग्रस्त हो जाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में भगवान् की अविद्या माया का वर्णन करते हुए राधा जी श्रीकृष्ण से कहती हैं कि अपनी माया के वशीभूत होकर ही मैंने आपसे छल किया। इस प्रकार के शतशः उदाहरण पुराणों में दिये जा सकते हैं और जो अपने आप में एक महाप्रबन्ध का विषय हो सकता है। हिन्दी के कुछ कृष्णभक्त कवियों ने भी माया का इसी प्रकार वर्णन किया है। डा० अग्रवाल के अनुसार स्पष्टतः हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य पर यह प्रभाव पुराणों से ही आया है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य का माया-विभावन

हिन्दी का कृष्णभक्ति साहित्य विशेषतया अष्टछापी कवियों का ही साहित्य अपने मूल रूप में है। इसमें उम्र की प्रौढ़ता की दृष्टि से तो प्रथम स्थान कुम्भनदास को मिलता है किन्तु काव्य शक्ति और परिमाणात्मक तथा गुणात्मक गुणों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल रत्नमणि महात्मा सूरदास ही प्रथम पंक्ति के अधिकारी सिद्ध होते हैं। अतः सर्वप्रथम उन्हीं का परिशीलन युक्तिसंगत जान पड़ता है।

सूर के काव्य में माया चित्रण की दृष्टि से अपूर्व विस्तार प्राप्त है। वे माया को ईश्वर की अपरिमेय शक्ति के अन्तर्गत परिगणित करते हैं और उसकी करामातों का अनेकविध वर्णन करते हैं। सूर के इस वर्णन के दो विभाग किये जा सकते हैं। पहले में माया की दार्शनिक अभिव्यक्ति और दूसरे में वह जीव अनेक तृष्णाओं का कराट वितुल कर प्रत्यक्ष होती है। सांसारिक विषय वासना, ऐश्वर्य और शक्ति, काम और क्रोध आदि अनेक प्रपंचों की स्थिति इसी माया के अन्तर्गत मिलती है जिसमें जीव अपने परमकल्याणमय ईश्वर को भूलकर अनेक जागतिक दुःखों में पिसता रहता है। सूर ने इस

---

[1]—हिन्दी कृष्णकाव्य पर पुराणों का प्रभाव, पृ० ७६।

माया का जो सत्पथ से विमुख कर ईश्वर-भजन में अनेकानेक व्याघात उपस्थित करती है विस्तृत वर्णन किया है। इस माया के अनेक रूप हैं जैसे मन की मूढ़ता, तृष्णा, ममता, मोह, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ तथा अनेक मानसिक विकार। सांसारिक विषय से भ्रमित जीवों को दुःखावर्त में डालने वाले इस माया के अनेक कृत्यों का सूर ने विविध रूपकों, प्रतीकों एवं दृष्टान्तों द्वारा वर्णन किया है।[1] वे कहते हैं—कोई किस प्रकार भगवल्लीला गाकर भगवान् को अपनी प्रार्थना सुनावे। इस अविद्या माया के हाथ में प्राणी जैसे बिक गया है। उसकी स्थिति नटी के बन्धन में पड़े कपि के जैसी हो गई है जिसे डंडे के भय से 'कोटिक नाच नाचने पड़ते हैं'। इसने बुद्धि को भ्रम भरित कर दिया है। इस माया-जनित लोभ के कारण नाना स्वांग बनाने की निर्लज्जता प्रदर्शित करता है। अनेक मिथ्या अभिलाषाओं के पाश में बद्धकर यह माया सुख शान्ति का अपहरण कर लेती है। स्वप्निल सुखों में मन को लुभाकर यह अनेक पाप कर्म कराती है। यह महाप्रभु मोहन शाला है जो प्राणी को मुग्ध करके सत्य सबधा से पृथक् लोक के मिथ्या सम्बन्धों में बहका देती है। जैसे दूती परवधू को अनेक प्रलोभनों में मुक्त कर पर पुरुष की ओर आकर्षण बँधाती है।[2] इतिहास साक्षी है कि इस हरि की माया ने किसे नहीं बहकाया। शत-द जन की मर्यादा से पूर्णसिंधु को राम ने पल में मिटा दिया नारद इसी की माया में मग्न होकर ज्ञान बुद्धि और बल सबको विनष्ट कर दिए। कामिनी के आकर्षण में पड़कर शंकर को सेज छोड़कर भूमि की शरण लेना पड़ा और उस पर भी अयत्त सुन्दरी मोहिनी ने इस प्रकार अंगा दगाया कि वे जीवन भर रोते रहे। राजा दुर्योधन से एक से एक सौ भाई क्षण में धूलि में मिट गए। वास्तव में यह माया ही है जो सोना और शीशे को एक धागे में पिरो कर जन को नचा रही है।[3] सन्तों ने तो केवल माया को चटकीली साड़ी ही पहनाया था सूरदास ने एक पद में माया की वेष भूषा का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत कर उसकी अकथ कथा पुनरालेखित की है। संसार को अपने वश में करने वाली माया सामान्य नहीं हो सकती वह निःसन्देह महाबली है। वह किंचित् दृष्टि देकर मुस्कराने भर देने में ही संसार का मन अपने में आकर्षित कर लेती है। उसकी साज सज्जा भी आकर्षण के क्षेत्र में कम महत्वपूर्ण नहीं। 'लाल चूनरी' पर 'सेत उपरना' कटि देश से चतुर्दिक नाना लहंगा अमर उपरना के नीचे झाँकती हुई चोली तथा झिलमिल अतरौटा को पहने हुए यह माया, चतुरानन, असुरकुल तथा शिवादि को कैसे नहीं मुग्ध और मदमस्त बना दे सकती है। उसे उस स्थिति में देखकर देवताओं अथवा शिव की सारी योग साधना काफूर हो जाती है और काम, क्रोधादि जाग्रत हो जाते हैं। इससे लोक-लज्जा पर आवरण पड़ जाता है और व्यक्ति मनचाहा करना चाहता है। इस उत्पात को सुनकर सुक सनकादि डर के मारे भागते फिरते हैं। सचमुच इससे मुक्त होना सहज नहीं अगर

१—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४७८।

२—सूरसागर पृ० १, प० ४७।

३—सूरसागर, प० १०५।

सका। मधुमक्खी स्थान-स्थान से कठिन परिश्रम कर मधु संचय करती है किन्तु उसके काम वह नहीं आता और वह हाथ मलकर रह जाती है। उसी प्रकार पुत्र कलत्र धन ऐश्वर्य कभी काम नहीं आ सकते। इनमें, भगवान का चरण-रज छोड़कर प्रीति लगाना पाखंड मात्र है केवल दिखाने के लिए है। इनकी पारमार्थिक सत्ता बिल्कुल शून्य है।[1] हरि के नाम स्मरण के बिना ही सारा समय परनिंदा के श्रवण में समाप्त हो जाता है। केवल तिलक धारण करने स्वच्छ वस्त्र पहनने और इत्रादि सुगंधित वस्तुओं के प्रयोग द्वारा स्वामी बनकर विषय-वासना में उलझना ठीक नहीं। समय ने ब्रह्मादिकों पर भी अपनी विजय पाई है। उदर-पूर्ति कर सोनेवाले सामान्य जीव की बात ही क्या? एवंविध माया की गति अति विचित्र है जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। जान बूझ कर उसके दल दल में आदमी जा फंसता है। पतंग यह निश्चित जानता है कि दीपक से प्यार करने का तात्पर्य जीवन-दहन ही है। किन्तु वह उस पूजाभूत अग्नि से डरता नहीं भय नहीं खाता। मानव भी उसी प्रकार हरि नाम को छोड़कर सांसारिकता में उसी प्रकार पाशित हो जाता है। वह भय दुख-कूप में इस प्रकार गिर जाता है कि उस में से निकलना दूभर हो जाता है। काल-सर्प की फुंकार की ज्वाला में स्वयमेव जल जाता है। कृष्ण का भजन ही इस भव-जल की अगाध धारा से निकाल सकता है। आशा तृष्णा के रूप को भी कवि ने गर्हित माना है। धन आदि मद के हेतु हुआ करते हैं और साथ ही साथ लोभ में इसमें अभिवृद्धि होती है। अतः कृष्ण की कृपा के अभाव में सब कुछ निरर्थक है। स्वार्थ के अखाड़े ताडव के मध्य भला 'श्यामसुन्दर' की कृपा कैसे प्राप्त हो सकती है? संसार में आकर मनुष्य माया-जाल में फंस कर किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। काम और क्रोध ही जीव के परिधान हैं जो उसके याथार्थ्य रूप को आवृत किये रहते हैं। विषय की माला उसके कंठ-प्रदेश में रहती है, मोह के नूपुर से गुंजित निन्दा के कटु शब्दों को वह रसमय समझता है। भ्रान्ति पूर्ण मन पखावज का काम देता है तथा कुमणा असंगत चाल चलता है। हृदय में स्थित तृष्णा नाना प्रकार के ताल दे कर नाद करती है। माया का फेंटा बाँधकर लोभ का तिलक लगाकर मनुष्य अपने को सुसज्जित समझता हुआ देश और काल किसी की भी परवाह न करता हुआ करोड़ों प्रकार का कलाबाजी से युक्त नृत्य करता है। अविद्या के दूर होने पर ही इस मायिक नृत्य से मुक्ति मिल सकती है। विषय वासना में मन जब रम जाता है तो उसे वही सब कुछ लगता है किन्तु अन्त में सेमर के शुक के सदृश उसका खोखला स्वरूप प्रकट हो ही जाता है। कनक और कामिनी का संग कभी लाभप्रद नहीं हो सकता। उसका बाह्य आवरण हृदयहारी अवश्य होता है किन्तु आभ्यन्तर शून्य रूप ही होता है। इसी-लिये कवि अभी भी सभल जाने की नेक सलाह देता है। माया के चक्कर में मदोन्मत्त मन इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ जन्म ग्रहण करना ही बना दिया है। विषय वासना का रंग बड़ा गाढ़ा होता है एक बार उसमें रंग जाने पर बिना ठीक से धोए छूटने को

1—सूरसागर ५०।

उत्पन्न करने में समर्थ है। लोभ और मोह मादा के रूप में विराजमान हैं तथा अहंकार रूपी द्वारपाल अहर्निश पहरेदार बना है। ममता जैसे सुझाव देने वाले वृद्ध भी हैं और माया का अधिकार तो सर्वतोप्रमुख है। तृष्णा दासी एक क्षण भी विश्राम नहीं लेती वह सदा अनाचार रूपी सेवकों से मिलकर अपना काम करती रहती है। राजाओं के पास हाथी, घोड़े, रथ, सारथी, पायक (पैदल सैनिक, बाण चलाने वाले योद्धा) गढ़, मना द्वार पर नौबत बजाने वाले जैसे गाने वाले बंदीजन भी रहते हैं। कवि ने क्रमशः गर्व मनोरथ कुमति, मन दुष्टमति, अधीरज नरककुंड निंदा उपहास हठ अन्याय अधमादि को इस रूपक में स्थान दिया है। तुलसी ने काम क्रोध मद लोभ अपारा। तथा मायापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड, में तत्सम्बन्धी रूप का ही चर्चा की है। यद्यपि राजा का वर्णन सूर के यहाँ सांग रूपक के अन्तर्गत किया गया है तथापि इसमें माया-परिवार के सभी सदस्यों का नाम एक एक कर चला आया है। इसी प्रकार अन्य पद में भी यह सब माया का परिवारा प्रबल अमित कं. वरन पारा का सांगोपांग वर्णन कवि ने किया है जिसमें माया परिवार के प्रत्येक सदस्य की विशिष्टता एवं कार्यदक्षता (संसार की दुःख भावना) के रूप में बड़ी ही सूक्ष्म ढंग से वर्णित है। इन सबका सारांश यही है और इस मत पर सारे भक्तिकालीन कवि भी सहमत हैं कि इंद्रियों के अनेक विषयों में संलिप्त हो जाने के कारण,[1] सभी तरह के कुटुम्ब सामाजिक पारिवारिक व्यक्तिक तथा आर्थिक धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस भगवान् ने हमें जन्म दिया तथा पालन पोषण कराकर बड़ा किया उसके प्रति हम माया के पाशक में पड़कर उदासीन हो जाते हैं। इंद्रियों का काम विषय वासना के अनेक पशुओं को इष्ट कर कराट खाते देना है जिसमें विष वायु का संचार हो और अनेक व्याधियों का आगमन समस्त शरीर में हो जाय। अतः उनपर समुचित प्रतिबन्ध होना अनिवार्य है। यही कारण है कि सारी व्याधियों की एकमात्र औषधि है प्रभु की कृपा से उनके चरणों में प्रीति स्थापन करना। वे ही इस माया जलराशि में डूबने से बचा सकते हैं यह माया सांसारिक प्राणी को अनेक कष्ट देती है। पुनः कलत्र अन्न जल प्रासाद शाश्वत महत्व के नहीं बल्कि ये मानविक गुणों के ह्रास करने वाले तत्व हैं। इसीलिए कवि अब भी मन को संताप देते हुए कहता है कि सम्प्रति सावधान हो जाने से भी सारा विगम्भ बन जाता है। इस माया रूपी भुजंगिनि का विष इस मन के ऊपर चढ़ गया है जिससे उत्पन्न मूर्च्छा बिना ज्ञान के औषधि सेवन किए दूर होने का नहीं। यह विष तो तभी उतरेगा जब गुरु विष उतारने वाला गारुड़ी बनकर कृष्ण नाम का मंत्र श्रवण द्वार से पहुँचाकर कृष्णलीला के अमित यश का गान सुनायेगा।[2]

१—परमारथ सों विरत विषय रत भाव भगति नहिं नेकहु जानी।
दिनि दिन दुखित मनोरथ करि करि पावन हू तृस्ना न बुझानी।
२—अजहू सावधान किन होहि।
माया विषम भुजंगिनि को विष उतरयो नाहिं न तोहि।
कृष्न सुमंत्र जियावन मूरी, जिन जन मरत जिवायो।

पूर्व निवेदन के अनुसार वाल्लभ मत में माया के दो रूपों की चर्चा है—एक विद्या और दूसरा अविद्या। विद्या माया भगवान् के अधीन है। और अविद्या जीव की प्रकृति स्वरूप सृष्टि का असारता माया के वैतथ्य प्रमाण हेतु ही निष्पादित है। भक्त कवियों की दृष्टि प्रेम भक्ति की ओर सर्वाधिक तत्परता के साथ उन्मीलित है और उन्ह उस साधन रूपा स्वीकार करने के पश्चात् भी माया के पाश से दूर रहने का ही अपरिहार्य आग्रह प्रयत्न तत् सन्निहित है। इस भक्ति को परम पुनीत मानमथ परम कल्याणकारी का वरद हस्त प्राप्त है जो माया के प्रत्येक बन्धन को पल में काट देने वाला है। जाकर भ्रू विलास खगराज ना[illegible] नटी ज्यों सहित समाजा। उसकी कृपा कटाक्ष अतुलित वैभव और अलभ्य सुख का प्रदाता है। इस निमित्त समस्त भक्ति-काव्य में माया-भावन और भक्ति-स्थापन प्रसंग को अनेक प्रकार से विविध दृष्टान्तों द्वारा आलेखित प्रत्यालेखित किया गया है।

सूरदास ने यत्र तत्र अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत भी माया-विषयक भाव-योजना को प्रमाणान्विति दी है। उन्होंने माया को अविद्या और कृष्ण बनाकर अनेक रूपकों की योजना करते हुए उस गाय के रूप में सम्बोधित करते हुए गोकुलपति के गोधन में मिलाने की प्रार्थना की है। अविद्या आशा सदृश जीव को भरमाती है और तृष्णा भी ऐसी माया का स्वरूप है। जिसका वर्णन सूर ने एक बड़े सुन्दर रूपक में किया है। माधव। अपनी इस गो (तृष्णा माया प्रकृति) को थोड़ा सा हटक दो यह अहर्निश घूमने वाली तथा पराये खेतों में चरने की आदी है जो सहज में पकड़ानी नहीं। इसकी बुभुक्षा कभी शान्त नहीं होती। वेद रूपी वृक्ष के पत्ते और पुराण रूपी घड़ों के जल से भी इसकी तृष्णा शान्त नहीं होती। यह षड्दर्शन रूपी षटरस आपूर्ण रस को सामने रख लेती है, जिनसे मुक्तावली सुधा का उन्मेष होता है। इसके अतिरिक्त वाणी के द्वारा अवर्णनीय अनिर्वचनीय अभक्ष्य पदार्थ भी इसके ग्रास बनते हैं। नभ, नदी पृथ्वी वनादि सर्वस्थलों पर इसका चारागाह तथा भ्रमणस्थल प्रतिष्ठित है फिर भी इसे तृप्ति नहीं मिलती। इसका सम्मोहक प्रभाव [illegible], मानव राक्षस और दुष्ट सब पर समान पड़ता है। यह द्विविवती मुख जाति को बना बनाकर मानव-मन को आकर्षित करती रहती है। तमोगुण रूपी नल खुर रजोगुण रूपी नेत्र तथा सतोगुण रूपी श्वेत रंग से युक्त यह चतुर्दश भुवन में अहर्निश कौतुक करती घूमती रहती है। नारद से लेकर शुकादि मुनीश्वरों तक इसे वश में करने का उपाय सोचते थक गये उसे भला सूर जैसा मनुष्य कैसे अपना वशवर्ती बना सकता है? एक पद में पुनः इसी गाय के रूपक में वे अविद्या का वर्णन करते हैं। यह गाय अत्यन्त खोटी है कितना ही डाँटिये पर सदा कुमार्ग पर चलने को उतारू है। इसलिए कवि अपने उपास्य से ही इसके चारण गाय का भार ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। यह गाय निरन्तर दद बन में इस उत्पादित करती हुई घूमती है कवि उसे गोकुलनाथ द गाया

१— सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा पृ० ३०५।

ने स्थावर जंगमात्मक विश्व का सृजन सृष्टि-काल में माया से मीलित होकर किया है। भागवत के अनुसार 'सगुण विभु ने गुणमयी सदसद्रूपा आत्म-माया के द्वारा ही यह सारी सृष्टि की है। माया और प्रकृति सर्वथा एक नहीं है—प्रकृति मायाशक्ति का एक विशेष क्रियात्मक रूप है और माया विश्वमूल व्यापिनी भ्रमशक्ति है। यद्यपि वैष्णवाचार्यों ने इस विभाजन नियम को माना है—[1] नित्यानाथ लीला युक्त भगवान् ने स्वेच्छया एक अनेक सत्ता से 'बहु' के अस्तित्व को प्रतिभासित किया है। भागवद्गीता में जहाँ कहीं सृष्टि का प्रसंग आया है वहाँ 'प्रकृति' शब्द का ही व्यवहार प्राय मिलता है और जहाँ जीव को मोह कराने का प्रसंग है वहाँ प्राय 'माया' शब्द का ही व्यवहार किया गया है।[2] निष्कर्ष रूप में जगदुत्पादन करने वाली शक्ति के लिए "प्रकृति" तथा जैविक व्यामोहनशाली शक्ति के लिए माया शब्द की प्रयुक्ति हुई है। सूर ने 'प्रकृति पुरुष एक करि जानो बातनि भेद करायो' में राधा को प्रकृति रूपा कृष्ण को पुरुष की व्याप्ति दी है।[3] राधा यहाँ भगवान की जगत् उत्पादिका शक्ति मानी गई है और उसके उस रूप की वंदना की गई है। इस तरह का संकेत पुराणों में भी मिलता है। पुराणों में विष्णु माया के दो रूप मिलते हैं। (१) विष्णु की आत्म माया। (२) त्रिगुणात्मिका ब्रह्म माया। त्रिगुणात्मिका माया विष्णु की आश्रिता मात्र है। विष्णु की आत्ममाया को ही वैष्णवी माया कहते हैं। इस प्रकार सूर की राधा, कृष्ण की आह्लादिनी-शक्ति स्वरूप अभिन्न प्रकृति अर्थात् उन्हीं की माया या योगमाया है जो उनसे अभिन्न है। गीता की व्यावृत्ति में यह भी 'अपनी योगमाया में छिपा हुआ मैं सबके सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ'[4] उक्त कथन को स्पष्ट करता है।

सूर ने माया शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है जो वेद वेदांत तथा उनके पूर्ववर्ती भाषा-कवियों के भावानुरूप ही है। विशेषतया कृष्ण काव्य कवि की भावनाओं के सर्वथा निकट है। इसके अतिरिक्त धन शक्ति, सुंदर स्त्री, पुत्र, कपट मोह आसक्ति, ममता इन्द्रजाल अविद्या आदि का व्याश्रय भी इस आलोच्य कवि ने ग्रहण किया है। मोहिनी रूप यद्यपि माया का दूसरा रूप है और जो प्रयुक्त विषय में वर्तमान रहता है। ब्रजभाषा सूर कोश के सम्पादक डा० प्रेमनारायण टंडन ने निम्नलिखित अर्थों का अभिधान इस माया प्रसंग के अंतर्गत किया है।

माया—संज्ञा स्त्री (सं) १—धन सम्पत्ति २—अज्ञानता, अविद्या

१—वही, पृ० २६।
२—वल्लभ दर्शन में माया का स्वरूप—पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० ७६।
३—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५१०।
४—ब्रजहिं बसे आपहु बिसरायो
प्रकृति पुरुष एक करि जानों बातनि भेद करायो।
जल थल जहाँ रहौ तुम बिन नहिं भेद उपनिषद् गायो।

धाम धन—वनिता माया सबल धाम धन वनिता, बाँध्यो हो इहि सात।
पृ० ३५

कपट—माया कपट युवा कौरव सुत, लाभ मोह मद भारी। ४८
छल—बका सुर रचि रूप माया रह्यो छल करि आई। ४०८
माया मोह—माया मोह लोभ के लाहू जानी न बृन्दावन रजधानी।
पृ० ४८

तिनु अपराध पुत्र हम मारे। माया मोह न मन में धारे। पृ० १८२
इन्द्रजाल—अति कुबुद्धि मन हारन हार माया झूआ दीन्हौ। पृ० ६०
धन-सम्पत्ति—मात्र झूठ करि माया, जारी, आपु न रखो खाना। पृ० ६६
जनन जनन करि माया नार ल गया रक न राना पृ० १०६
ईश्वर की शक्ति—मद् मिथ्या मिथ्या मन लागत मम माया सो जानि
पृ० १२०

आँख का मालि जब नृपति दख्यो बहुरि कह्यो हरि प्रलय मायादिखाई।
१००६।

पारिवारिक मोह—बाबा नन्द भरवन किहि कारन यह कहि माया-मोह अरुझाई।

आसक्ति—जागी जनी रहित माया ते तिनही यह मत सोह। १५३६।

सूरदास के अन्य ग्रंथ सूरसारावली में माया के सम्बन्ध में कुछ विचार अनुस्यूत है। योग और ज्ञान की तुलना में भक्ति का महत्व बतलाते हुए कहा गया है कि योगी और ज्ञानी ध्यान और ज्ञानपूर्वक माया के बन्धनों को तोड़ते हुए भी केवल निर्वाण प्राप्त कर सकते है किन्तु प्रेमपूर्वक भगवद्यश गाने वाले भक्त के हृदय में साक्षात् भगवान् का निवास होता है। इस विमर्शन का फलितार्थ स्पष्ट है—भववृत्प्राप्ति का रहस्य है प्रमामिक्त होकर प्रभु का यशोगान करना जो योग और ज्ञान मार्ग से अत्युत्कृष्ट है। [1] इस ग्रन्थ के अनुसार क्रीडा काल में उत्थित, सृष्टि विस्तार के विचार को प्रभु ने अपनी त्रिगुणात्मक माया द्वारा सम्पन्न कर दिखाया। [2] उनके अवतार विवाद की पृष्ठभूमि भी इसी धरातल पर स्थित है। अवतार विनिवशन का हेतु क्वचित् विनिर्दिष्ट गीतोक्त परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ही निम्न कर तदनुसार चौबीसों अवतारों की चर्चा की गई है। शरणागति की रक्षा करने वाले इस अवतार पुरुष की जिस पर कृपा होती है उसे वे अपने धाम ले जाकर अपने स्वरूप का दर्शन लाभ कराते हैं। वहाँ माया पर उसकी विजय होती है और तद्विनिष्ट विकारों का विनिर्दहन स्वयमेव हो जाता है। वामनावतार के प्रसंग में राजा बलि को यही आश्वासन मिलता है जिसमें

१—सूर सारावली प० ६०।
२—सूर सारावली प०।

धाम धन—वनिता माया सबै धाम धन वनिता बाँध्यो हो नहिं ज्ञान।
पृ० ३८

कपट—माया कपट-जुवा, कौरव सुत, नाम मोह मद मारी। ८८
छल—वका सुर रचि ल्यो माया रह्यो छल करि आई। ८०८
माया मोह—माया-मोह लाभ के लोह जानी न वृंदावन रजधानी।
पृ० ४८

बिनु अगाध पुण्य हम मारे। माया मोह न मन में धारे। पृ० १८२
इन्द्रजाल—अति कुबुद्धि मन हाकत हारे, माया जूआ दीन्हों। पृ० ६०
धन-सम्पत्ति—धान झूठ करि माया जारा, आपु न रुख्यो खाना। पृ० ९६
जतन जतन करि माया जोरी ले गया रंक न राना, पृ० १०६
ईश्वर की शक्ति—सब मिथ्या मिथ्या सब लागत मम माया सो जानि
पृ० १२०

औरवों की ग्वालि जब नृपति देख्यो बहुरि कह्यो हरि प्रलय-मायादिखाई।
१००६।

पारिवारिक मोह—बाबा नन्द झरखत किहि कारन यह कहि माया-मोह अरुझाई।

आसक्ति—जोगी जना रहित माया ते तिनही यह मत सोहै। १५३६।

सूरदास के अन्य ग्रन्थ, सूरसारावली में माया के सम्बन्ध में कुछ विचार अनुस्यूत हैं। योग और ज्ञान की तुलना में भक्ति का महत्व बतलाते हुए कहा गया है कि योगी और ज्ञानी ध्यान और ज्ञानपूर्वक माया के बन्धनों को तोड़ते हुए भी केवल निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं किन्तु प्रेमपूर्वक भगवद्यश गाने वाले भक्त के हृदय में साक्षात् भगवान् का निवास होता है। इस विमर्शन का फलितार्थ स्पष्ट है—भगवत्प्राप्ति का रहस्य है प्रेमासिक्त होकर प्रभु का यशोगान करना जो योग और ज्ञान मार्ग से अत्युत्कृष्ट है।"[1] इस ग्रन्थ के अनुसार क्रीड़ा काल में उत्थित, सृष्टि विस्तार के विचार को प्रभु ने अपनी त्रिगुणात्मक माया द्वारा सम्पन्न कर दिखाया।" उनके अवतार विचार की पृष्ठभूमि भी इसी धरातल पर स्थित है। अवतार-विनिवेशन का हेतु क्वचित् विनिर्दिष्ट गीतोक्त 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' ही निर्दिष्ट कर तदनुसार चौबीसों अवतारों की चर्चा की गई है। शरणागति की रक्षा करने वाले इस अवतार पुरुष की जिस पर कृपा होती है उसे वे अपने धाम ले जाकर अपने स्वरूप का ज्ञान दान कराते हैं। वहाँ माया पर उसकी विनिजय होती है और तद्विनिष्ट विकारों का विनिष्टन स्वयमेव हो जाता है। वामनावतार के प्रसंग में राजा बलि को यज्ञ आश्वासन मिलता है जिसमें

१—सूर सारावली प० ६०।
२—सूर सारावली प०।

जीव के अन्दर माया ममता का जन्म इसी के फलस्वरूप होता है। वह अपने आत्मस्वरूप को विस्मृत कर जाता है। महाकवि परमानन्ददास ने इसी बात को लक्षित करते हुए लिखा है कि यह जीव त्रिकाल में भगवद्स्वरूप है परन्तु मध्य में अविद्या के कारण अपने आत्मस्वरूप को भूला हुआ है। वस्तुतः जगत् भगवत्सृष्ट होने के कारण सत्य है परन्तु संसार अहंता ममता से आपूर्ण है। यह अविद्या का ही परिणाम है और अविद्या भी विद्या के सदृश भगवत्शक्ति का ही पर्याय है। अविद्या का कार्य है द्वैतभाव को उत्पन्न करना। यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि विशेषताओं के कारण पंचपर्वा कही गई है। बिना नामस्मरण और भजन के यह पंचपर्वा अविद्या जीव को पाशित कर लेती है। अतः भवाम्बुधि से तरने के लिए भजन ही एक अमोघ उपाय है। लीला रस उद्गायक भक्त हृदय परमानन्द दास ने अपने अनेक पदों में माया, ममता, अहंता जनित संसृति क्लेशों की चर्चा की है। यह सब गुरु कृपा और भगवद्भजन की महत्ता अथवा उत्कृष्टता के सम्पादनार्थ ही समायोजित है। श्रुति प्रतिपादित तथ्यों में भगवान् ने अपने एकाकी रमण नहीं करके एक 'अपर' की इच्छा रखते हुए माया का आश्रयण प्राप्त किया। भगवान् में सवरूप होने की शक्ति प्रतिष्ठित है। यह माया है और उसकी सत्ता निश्चित रूप से उस भगवान् से भिन्न नहीं। भागवत में अन्य कार्य-क्रम उनकी बारह शक्तियों की चर्चा है जिनके द्वारा वे अपना समस्त कार्य संपादित करते हैं। इनमें माया दो प्रकार की है—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्या माया भगवत्साक्षात्कार कराती है और अविद्या जीव को पाशबद्ध करती है। इस तरह इस शक्तिस्वरूपा भगवान् की कार्यसाधिका यह योगमाया ऐश्वर्यादि षट्धर्मों से युक्त है और दूसरी अविद्या अथवा व्यामोहिका माया है। उस माया के अतिरेक से बुद्धि ज्ञान के याथार्थ्यबोध से वंचित रहती है। भ्रम का साम्राज्य चतुर्दिक छा जाता है। भक्तों के लिए भगवान् की लीलोपयोगिनी माया का ही महत्व सर्वमान्य सिद्ध है। यही प्रभु के पाद-पद्मों में अलौकिक प्रीति जाग्रत कर देह गेहादि की आसक्ति और व्यामोहनशीलता से रक्षण प्रदान करती है। आगमिक जनों की बुद्धि मायिक कार्यों के संक्षेप से अपहृत होकर आसुरी वृत्तियों को सदय आयत्त कर लेती है। एवं विध, प्रभु की शरण प्रपन्नता प्राप्त कर लेने पर माया का कष्ट संप्रज्ञानत्व और प्रज्ञाहरणत्व वाला यान्यता समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि मध्ययुगीन साधक एक स्वर से 'अब जनि कबहूँ व्यापे प्रभु मोहिं माया तोरि' की ही प्रार्थना अपने प्रभु के समक्ष करता है। कविवर परमानन्द दास ने अविद्या माया का प्रभाव मनुष्य को कौन कहे, ब्रह्मा-मार्कण्डेय और शंकर तक पर माना है। उसकी प्रबल मोहिनी शक्ति को कोटि कोटि उपायों से भी अधिक बलवती ठहराया है। उनका विश्वास है कि यह प्रबल व्यामोहिका माया केवल भगवत्कृपा से ही दूर हो सकती है। यह प्रभु की कृपा ही है जिसके कटाक्ष प्रभाव से सर्वसाधन विहीन गोप बालाएँ भगवत्तत्व को समझकर उनके साहचर्य

लाभ-जनित आनन्द सरोवर में निरवश गोते लगाता है और नाभि सरोज से उत्पन्न ब्रह्मा अपनी भ्रम भरित बुद्धि से वत्सहरण जैसे अपराधपूर्ण कार्य में संलग्न हैं। ऋषि-श्रेष्ठ मार्कण्डेय की बुद्धि इस माया द्वारा हरवन हुई। शंकर जैसा दुराराध्य तपस्वी मोहिनी के पीछे-पीछे दौड़ते फिरे। इस प्रकार माया से विनिर्मुक्त होना प्रयत्नसाध्य नहीं अपितु कृपासाध्य है। देहाध्यास को छुड़ाने के लिए भगवद् भक्ति का पक्का रंग चढ़ाना चाहिए तभी विषयों की ओर से प्रवृत्ति हटती है। इस शरीर के अन्दर मन बड़ा ही लम्पट है। वह सदा अविद्या का ही साधन करता हुआ काम क्रोध लोभादि विकारों में संलग्न रहता है। पर निन्दा रत रहकर परधन का हरण कर पर भग्न की तृष्णा से ही वह सदा जाग्रत रहता है। उसके समक्ष साधु संगति और भूत दया भाव आदि सद्गुणों के आयत्तीकरण का कोई महत्व नहीं। और जब तक सांसारिक राग द्वेषों को निकाल कर हृदय को स्वच्छ नहीं किया जायगा तब तक भगवान् का वास होना अत्यन्त कठिन है। उसका एक ही उपाय है जो उस चिह्ला से चर्चित भगवान् के चरणारविंद का ध्यान करे, जिससे मायाकृत दोष उसे एकदम नहीं व्यापे।[1] क्योंकि जिस पर वे प्रसन्न हो जाते हैं उसे अविद्या से मुक्त कर देते हैं वे अविद्या समर्थ हैं।[2] इसलिए परमानन्द जी नामस्मरण को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और भोगों को जो मोक्ष का सबसे बड़ी बाधा है त्राण दिलाने भव जाल से मुक्त होने का सरलतम विधि इसे ही निर्दोषित करते हैं।[3]

इस प्रकार परमानन्ददास ने बलवती माया की व्यामोहिका शक्ति की ओर यत्र तत्र संकेत करते हुए उससे मुक्ति हितार्थ भगवच्छरण और नामस्मरण यही दो उपायों का विधेयत्व स्वीकार किया है। इन दो यत्नों का विनियोजन माया जवनिका को जीव के आगे से बिल्कुल पृथक कर देता है और याथार्थ्य ज्ञान का रहस्य उद्भेदित हो जाता है। इस संदर्भ में यह अवधारणीय है कि ब्रह्मा इन्द्र तथा अनेक महर्षियों को भी यही भ्रम-तम पटल ज्ञान के स्रोत से अभिवंचित करता रहा है। इसी से भगवत्कृपा की अनिवार्यता उसके विभ्रम से बचाने के लिए गृहीतव्य माना गया है।

नन्ददास

कृष्णकाव्य की अष्टछापी भक्ति के अन्तर्गत विद्याध्ययन जन्य प्रतिभा से भास्वर व्यक्तित्व सम्पन्न नन्ददास जी की रचना सम्पदा इस क्षेत्र में गुण और परिमाण, साहित्य और अध्यात्म-शास्त्र सम्मत दर्शन नाना दृष्टियों से समृद्ध है। उनकी भक्ति सिद्धान्त, अध्ययन और कविजनार्जित भावुकता की रस सिद्ध चन्द्रायणी से सम्पृक्त युक्ति और तर्क के वाग्विलास से पूर्णतया आपूरित है। रासपंचाध्यायी का रस माधुर्य और

१—परमानन्द दास पृ० १०८।

२—परमानन्द सागर पृ० ६०२।

३—परमानन्द सागर पृ० ६१०।

"भवरगीत" की प्रवाहपूर्ण सरसता हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ निधि के अन्तर्गत स्थापित है। लीलागान और भगवान् के रूप माधुर्य वर्णन के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों को भी अपनी कविता के विषय-रूप चयन करने वाले समस्त अष्टछाप के अन्तर्गत ये एकल कवि हैं। नन्ददास दर्शन की दृष्टि से भी अपने काव्य को सम्प्रदायानुमोदित तथ्यों तथा ब्रह्म माया और जीवादि के दार्शनिक विषयों से एक सीमा में काफी हद तक आवेष्टित किया है। विशेषतया अपने 'भवरगीत' में गोपिकाओं की विरह दशा का करुणापूर्ण चित्र खींचते हुए ब्रह्म माया और जीव की जो विवेचना की है वह उनके पांडित्य की परिचायिका है। हिन्दी के समस्त भ्रमरगीतों में नन्ददास का 'भवरगीत" दार्शनिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।"[1]

जहाँ तक विवेच्य विषय माया का सम्बन्ध है नन्ददास ने भी अन्य अष्टछापी सूर और परमानन्द की तरह परब्रह्म की दो प्रकार की माया के कृत्यों का वर्णन किया है। 'दशम स्कन्ध भाषा' के अट्ठाइसवें अध्याय में यह कहा गया कि "माया लोक (संसार) और सृष्टि (जगत्) का सृजन करती है।"[2] इस कथन में शोधकर्त्ताओं ने दोनों प्रकार की माया का उल्लेख पाया है। इसी प्रकार 'भवरगीत' के गोपी-उद्धव प्रसंग में कवि ने गोपियों के वचनों द्वारा शुद्ध स्वरूपा माया तथा मलमयी अविद्या माया दोनों का वर्णन किया है। भाव इस प्रकार है— हे उद्धव तुम कहते हो कि ईश्वर निर्गुण है तो इस सृष्टि के, जो उससे द्वारा निर्मित है ये दुष्ट गुण कहाँ से उत्पन्न हो गए? वस्तुतः ईश्वर सगुण है और उसके गुणों का प्रतिबिम्ब ही उसकी माया (प्रकृति) के दर्पण में पड़ रहा है। अविद्या माया के संसर्ग से ईश्वरीय गुणों से प्राकृत गुण भिन्न दिखाई पड़ते हैं। स्वच्छ जल के सदृश ईश्वर के शुद्ध गुणों को जो प्रकृति माया के माध्यम से परिणाम रूप में व्यक्त हो रही है, अविद्या माया ने कर्दम ने उसे एकमेक बना दिया है और उन्हीं में सने हुए एकमेक गुणों को संसारी जन अपनाते हैं।[3] इस तरह दोनों प्रकार की माया का वर्णन कवि को अभीष्ट है। जैसा सूर के प्रसंग में निवेदित है कि पहले प्रकार की माया ब्रह्म की आदि शक्ति स्वरूपा है, जिसे सृष्टि के उद्भव स्थिति और संहार तीनों का समस्त श्रेय प्राप्त है और दूसरी वह माया है जो मनुष्य से अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि कराकर उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है। अष्टछाप काव्य में माया के इन दोनों रूपों में से प्रथम का संक्षेप में और दूसरे का विस्तार से वर्णन हुआ है किन्तु इस क्षेत्र में नन्ददास एकल कवि सिद्ध हैं जिन्होंने विद्या माया का इतना सुस्पष्ट वर्णन किया है। इनकी सम्मति में पंच महाभूत दस इन्द्रियां, अहंकार, महत् त्रिगुणादि विद्या माया के ही विकास हैं, अर्थात् विद्या माया पर ब्रह्म की इच्छानुसार

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ० ८०४।
२—हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव, पृ० ०८।
३—नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १५५।

कर सबों का मन मोहती रहती है। सत सामान्य मनुष्य समाज के ऊपर हुआ करता है किन्तु माया वृहत रूप धारण कर उन्हें माद में डालकर अनेक नाच नचाया करता है।[1] माया मनुष्य को उन्मद बना कर नष्ट कर देती है। जो इसके पाशक में एक बार भी पड़ा वह निगत होने के प्रयत्न में और उलझ ही जाता है। यह प्रभु की माया अद्भुत है। कौन संसारी है जो इस माया के भ्रमजाल में न पड़ा हो? संसार एक हिंडोर के समान है जिसमें बार बार जन्म धारण कर माया के अनेक यातना में आग्रस्त होना पड़ता है। प्रभु ही इसके आश्रयदाता है। उन्हीं की कृपा से माया ज्ञानी मन को भी मोह लिया करती है। लोक-जगत् की सृष्टि इसी माया के द्वारा होती है। तब इस माया से भला मनयुक्त काया कर्म दूर रह सकती है। ब्रह्म रूप कृष्ण ही इसको जानने वाले हैं। संसारी जन में यह शक्ति नहीं है जो इससे विलग रह सकें वे तो विशेषतया काल और कर्म के वश होकर अविद्या में आपादमस्तक डूब हुए हैं। नन्ददास ने जीव के स्वरूप लक्षण की ओर ध्यानाकृष्ट करते हुए लिखा है कि जीव (बद्धजीव) और ईश्वर में यह अन्तर है कि ईश्वर काल, कर्म और माया के बन्धन से पृथक है और जीव कर्म और माया के वश होकर विधि निषेध और पाप पुण्य के विकार में प्रभावित है। सूरदास आदि कवियों की धारणा भी कुछ इसी प्रकार है। वस्तुतः समस्त तत्व सगुण सृष्ट प्रकृति, पुरुष, देवता तथा सम्पूर्ण जीव सब भगवान कृष्ण के अंश है। पर ब्रह्म श्रीकृष्ण का अंश रूप जीव इस संसार की माया में पड़कर अपने सत् स्वरूप को विस्मृत कर जाता है तथा अनेक प्रकार की विघ्न बाधाओं में पड़कर दुःख भोगता है। नन्ददास ने सुदामाचरित के प्रसंग में गंधर्व नगर का वर्णन किया है, जिसका पृष्ठाधार स्वप्न और माया प्रसंगों पर आधृत है। यह ममता माया आधारहीन और स्वप्न के समान "सपन भ्रम है। उसका रूप 'छिन जात' दूर होने वाला नहीं। नन्ददास ने माया जननी का भी स्वरूप वर्णन किया है। उनका विचार है कि ईश्वर कृष्ण को यशोदा के समक्ष पुत्र रूप समझा जाना यह माया के ही कारण है यद्यपि उनकी ईश्वरता किसी के समक्ष गुप्त नहीं सभी उससे अवगत है तथापि स्नेह और मर्यादा में वहाँ व्यवधान नहीं आता। कभी-कभी भगवान् भक्त को अपनी माया का प्रचंड रूप दिखलाता है और उसको एहसास कराकर वह उसे अपने स्वरूप के प्रति आकर्षित कर भक्ति की महत्वशालिता प्रमाणित करता है। पुराणों में ब्रह्म की माया-दर्शन, अर्जुन को भगवत्स्वरूप दर्शन तथा रामचरितमानस में काकभुशुण्डी द्वारा राम का अद्भुत-अभूतपूर्व रूप दर्शन इसी के समानान्तर वर्णित है। कृष्ण ने अर्जुन को अपना विस्मयकारी विराट रूप इसी के द्वारा दिखाया था। इसे ही योग माया कहा गया है। नन्ददास ने भी योग माया वर्णन किया है। उनके अनुसार कृष्ण योग माया के स्वामी है। गीता के ७वें अध्याय में 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' के द्वारा यह बताया गया है कि भगवान् अपनी योगमाया में छिपे हुए होने के

१—तु० विनयपत्रिका, पृ० ११६।

कारण सबके नेत्रों के सामने नहीं आते। श्रीमद्-भागवत में कृष्ण की मुरली कृष्ण से अभिन्न उनकी आकर्षण शक्ति के प्रतीक रूप में वर्णित है। सूरदास की मुरली-वर्णन भी कृष्ण की योगमाया शक्ति के रूप में ही कल्पित है। श्रीमद्भागवत और अन्य पुराणों में यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई उस कन्या को योगमाया कहा गया है जिसे वसुदेव कृष्ण से बदल ले गये थे। (भागवत १० २०) तथा जिसे कंस ने देवकी से छीनकर शिला के ऊपर पटका था। उस समय वह विष्णु की अनुजा योग माया आकाश में जाकर दिव्यायुधधारिणी अष्ट भुजामूर्ति में विराजने लगी और कंस को चेतावनी देकर अंतर्हित हो गई थी। इसी प्रकार वैष्णववादि पुराणों में और भी संदर्भ हैं, जिनमें शक्ति को विष्णु की योगमाया बताया गया है।[1]

इस प्रकार, नन्ददास के माया विभावन का विश्लेषणात्मक करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अन्य भक्त-कवियों की भाँति इन्होंने भी माया की मोहन-शीलता उसकी दुर्निग्रहता, और जीव के बहुविध दुःखों के मूल रूप का वर्णन कर भगवान् की अशेष कृपा को ही इसके पाश से निकलने का एकमात्र उपाय माना है। प्रभु की माया का वर्णन कवि का अभीष्ट है व उसका विशद वर्णन चाहते हैं। "हौं कछु हरि की माया जानि। सो प्रभु नाके बरनत नाहिं। संसार में वस्तुतः ऐसा मानव कोई नहीं बचा है जो मायामद में कुछ समय के लिए उन्मत्त नहीं हुआ हो उसकी आँखें नहीं बंद हो गई हों। केवल भगवान की भक्ति ही इससे उबार सकती है। उनकी कृपा प्राप्त हो जाने से चतुर्दिक में सुरक्षा का आश्वासन मिल जाता है। क्योंकि रूप, प्रेम, आनन्दरस आदि गुण और भाव जो कुछ भी इस जगत में है, उन सबका मूल आधार गिरिधर देव ही हैं। संसार उनकी माया के हिंडोले पर झूल रहा है। नन्ददास ने इस तथ्य को अनेक बार कई स्थानों पर स्वीकार किया है कि दोनों प्रकार की माया के मूल में "मोहनलाल" ही हैं। डा० गुप्त ने नन्ददास की माया भावना पर अपना निष्कर्ष देते हुए यह बताया है कि भ्रमरगीत में नन्ददास ने जिस माया के दर्पण और जिन ईश्वरीय गुणों की परछाईं का उल्लेख किया है, वह शंकर के मायावाद से बिल्कुल भिन्न है और इस तरह उनके विचार वल्लभ मत के अनुसार ही है। वस्तुतः अविद्या माया का भ्रम विद्या माया के द्वारा ही हटाया जा सकता है और तभी भगवान् की सृष्टिकारिणी सत् चित और आनन्द शक्ति रूपिणी माया का दर्शन संभव है, जिससे शरीर के सारे पाप-ताप स्वतः विनष्ट हो जाते हैं। और तब परमानन्द की अनुभूति का उद्रेक मानस में हुआ करता है। इस आनन्द की अवस्था में भक्त ईश्वर के सतत् ध्यान में जिस सान्निध्य भाव का अनुभव करता है उसका वर्णन कवि इन पंक्तियों में करता है—

> पुनि रंचक धरि ध्यान पीय परिरम्भ दियो जब।
> कोटि सरग सुख भोग, छिनक मंगल भुगते तब।

१—हिन्दी साहित्य कोश पृ० ६१२।

अष्टछाप के अन्य कवियों की प्राप्त रचनाओं के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि उनमें अविद्या और भगवान् की शक्ति स्वरूपा माया के विषय में सूर नन्द तथा परमानन्ददास की रचनाओं के सदृश एक विस्तृत धरातल पर, उल्लेख नहीं हुआ है। फिर भी जहाँ कहीं इन्होंने सामारिकता से मुक्ति पाने की आकांक्षा अथवा ससार की अनित्यता एवं गोपियों के "लोकलाज कुलकानि छोड़कर श्रीकृष्ण में आत्मसमर्पण की बात कही है वहाँ अविद्या की ओर उसका सकेत किया जा सकता है। और ऐसा स्पष्ट होता भी है कि कवियों द्वारा किए गए उल्लेख में, अविद्या माया के कृत्यों की ही ओर सकेत है और उस माया को कुत्सित समझकर छोड़ने का ही वर्णन है। कुम्भनदास, कृष्णदास और गोविन्दस्वामी ने एक स्थान पर भगवान् की योगमाया का उल्लेख किया है तथा उसे मथुरा भजने की बात कही है— 'निज सजोग योगमाया से मथुरा देहु पठाइ' यह योगमाया भगवान की जगत् सृष्टिकारिणी शक्ति है। शब्दस्तोम महानिधि में इस भगवतो जगत् सृजनार्थाया शक्ती कहा गया है जिसे विद्या कहा जाता है।

इस प्रकार उक्त भक्त कवियों ने माया के विषय में कुछ स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है फिर भी सुर, नर, मुनि के ध्यान न आवत अद्भुत जाकी माया है" की पुष्टि समारिकता से मुक्ति पाने के प्रसग में होना गई है और श्री कृष्ण से यह प्रार्थना की गइ है कि वे भवसागर में जिसमें कवि डूब रहा है, उसे उबारकर अपनी शरणगति का महत्त्व आरे ।

षष्ट अध्याय

रामकाव्य और तुलसीदास की माया धारणा का स्वरूप

रामभक्ति की प्राथमिक अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से हो हुई यह रामकाव्य की अपनी विशिष्टता है। यद्यपि प्रधान ब्राह्मण धर्म के प्रतिक्रियास्वरूप जिस भागवत धर्म का उद्भव और उन्नयन हुआ उसमें सर्वप्रथम भारतीय भक्तिमार्ग को पल्लवित होने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। पश्चात् भागवत तथा ब्राह्मण धर्म के समन्वय से वैष्णव धर्म की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ जिसमें विष्णु नारायण वासुदेव कृष्ण में ही सारी भक्ति भावना आत्मभूत रही। विद्वान् लेखक भण्डारकर के अभिमत से भक्ति क्षेत्र में राम की प्रतिष्ठा विशेषतः लगभग ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में हुई। वैसे भी ११ वीं शती में लेकर रामभक्ति सम्बन्धी कोई रचनाओं का वाङ्मय प्रयोगत होता है जिनमें स्तोत्र साहित्य जैसे रामरक्षा स्तोत्र और रामसहस्रनाम स्तोत्र आदि का स्थान सर्वप्रमुख है।

जैसा पूर्व निवेदन में कथित है कि रामभक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से हुई, उसी प्रकार सर्वप्रथम इसको शास्त्रीय प्रतिपादन श्री सम्प्रदाय के अंतर्गत एक समारोह के साथ उपस्थित प्राप्त होता है। शास्त्र की साहाय्य पाकर रामभक्ति का विपुल विस्तार हुआ। वास्तव में शास्त्रीयता से कविता की आयु बढ़ती है और उसमें शाश्वतता की प्रतिष्ठा होती है। श्री सम्प्रदाय ने अवतारवाद की मान्यता दी तथा शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत अन्य चतुः सम्प्रदायों से आगे बढ़कर भक्ति का दार्शनिक पृष्ठाधार प्रस्तुत किया। यद्यपि उक्त सम्प्रदाय के पुरस्कर्ता आचार्य रामानुज की भक्ति श्री नारायण में केन्द्रित थी तथापि श्री भाष्य में अवतारों के वर्णन क्रम में राम और कृष्ण का उल्लेख परवर्ती सम्प्रदाय जनों को परमपुरुष राम के अवतार को प्रभूत प्रश्रय प्रदान करने के लिए अक्षुण्ण प्रमाणित हुआ क्योंकि इसी सम्प्रदाय में सर्वप्रथम परमपुरुष अवतार राम तथा मूल प्रकृति सीता की दास्यभक्ति का प्रतिपादन किया गया।[1] पुनः रामभक्ति की अद्वितीय लोकप्रियता का श्रेय बहुत कुछ स्वामी रामानन्द को दिया जाता है। श्री सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर भी उन्होंने रामभक्ति को एक नये आयाम दिया और रामावत सम्प्रदाय की स्थापना की। उनकी दो रचनाएं श्री वैष्णवमताब्जभास्कर तथा 'रामार्चन पद्धति' में उन्होंने

१—हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७०२।

राम को ही अपना इष्ट माना है और राम नाम को अपनी साधना का मूल मन्त्र सिद्ध किया है। रामानन्द के द्वारा राम-काव्य परम्परा में जो दो ऐतिहासिक कार्य हुए उनमें प्रथम तो यह कि उन्होंने ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सभी जातियों को दीक्षा लेने का अधिकार स्वीकृत किया तथा दूसरे में देववाणी संस्कृत के स्थान पर 'भाषा भणिति" में भी रामभक्ति के प्रचार का पथ प्रशस्त बनाया। स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित इस रामभक्ति ने दो मार्गों में अपने आपको प्रकट किया। निर्गुण मार्ग के रूप में उसका विकास कबीर दास आदि निर्गुण परम्परा के भक्तों में हुआ यद्यपि स्वयं स्वामी जी निर्गुणमार्ग के उपासक नहीं थे।[1] रामानन्द की शिष्यपरंपरा ने एकान्तिक भक्ति में निर्दिष्ट 'रामनाम" जैसे मंत्रनामी यन्त्र को सत्तामभाव से ग्रहण किया। सगुण मार्ग की रामभक्ति को यद्यपि तुलसीदास जैसा भक्त कवि 'निर्गुनियों' की अपेक्षा कुछ बाद में प्राप्त हुआ फिर भी उनका एकाधिपत्य हिन्दी राम साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। वैसे सगुणमार्गी रामभक्ति के क्षेत्र में तुलसी के पूर्व भी महान् साधकों की कमी नहीं थी परन्तु साहित्य के माध्यम से इस साधना उज्ज्वलतम प्रकाश १६ वीं सदी के अन्त में गोस्वामी जी के आविर्भावकाल में ही प्राप्त हो सका।[2] रामकथा विषयक रचनाओं की तुलसी पूर्व प्रतिष्ठा और तुलसी के अनन्तर आधुनिक काल तक की सृजित सम्पदा जो परिणाम की दृष्टि से 'असंख्यता' का अभिधान ग्रहण करती है रामचरित मानस के समक्ष, दिन में भास्कर की प्रखर रश्मियों में निष्प्रभ उडुगन-समूह सी प्रतीत होती है। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता निर्विवाद है पर उससे कम निर्विवाद उसकी काव्य व उसकी शास्त्रीयता और उसकी दार्शनिकता नहीं। मानस एक ऐसा नवा विमल विधु है जो उदित सदा अथइहि कबहूँना। घटिहि न जगनभ दिन दिन दूना' है। भाव और भाषा की साधना और साहित्य के 'सर्वोत्तम' का ऐसा विरल संयोग केवल उस युग को ही धन्य नहीं बनाता उस भाषा और साहित्य को युग-युग तक धन्य बनाए रखता है। गोस्वामी जी और उनका 'सृजित' उक्त कथन का एकान्त प्रमाण उपस्थित करता है। रामकाव्य के इन शताब्दीपुरुष गोस्वामी जी ने साहित्य की प्रचलित सभी विधाओं, (प्रबन्ध और मुक्तक) तत्कालीन युग के प्रचलित अथवा प्रचलित पश्चात् समस्त सभी छन्दों, वर्णन परम्पराओं, तथा मध्यकाल की प्रमुख भाषाओं में 'रामचरित चिन्तामणि चारु' संत सुमति तिय की सुभग सिंगार किया तथा उस राम नाम रूपी मणि दीप का अनुसंधान किया जो निरगुन ते एहिभाँति बड नाम प्रभाउ अपार' के साथ ही भीतर और बाहर समस्त ज्ञान प्रकाश विकीर्ण हेतु सर्वसमर्थ था। गोस्वामी जी का मर्यादापुरुषोत्तम राम का गुणगान अभीष्ट अवश्य थी किन्तु उसके व्याज से उन्होंने जिस नाटकग्राही दास्य भक्ति का रूप प्रतिपादित किया वह जन जन का कण्ठहार बनकर रह गया और विचारकों ने उसे ही परम्परागत आदर्शवादी राम-

---

1—हिन्दी साहित्य-डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २१६।
2—वही पृ० २२०।

काव्य का वास्तविक स्वरूप माना। यद्यपि ऐसी बात नहीं है कि रामकाव्य धारा के उन्नायक एकमात्र तुलसी ही कवि रहे प्रत्युत् उनके समकालीन और उनके परवर्ती अनेक कवियों ने रामकथा के आख्यानों को लेकर अपनी काव्य प्रतिभा की आजमाइश की।[1] किन्तु तुलसी जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि की व सारी रचनाएँ जो कालजयी पन्थ उद्धार करने वाली समुद्र मन्थन के निकाले रत्न की भाँति देव लोक के समान नव निधि रूप में सुरक्षित प्रमाणित हुई क्योंकि बिनु रवि के भला गति का अवसान कब सम्भव है? रामकाव्य के क्षेत्र में तुलसीदास हिमालय के सदृश उस शिखर पर अधिष्ठित हैं जिनके आगे दूसरे कवियों का लघु रूप दृष्टिगत होकर मानो एक विशिष्ट कान्तार दिखाई पड़ता है। इसी कारण है कि इनके तत्त्व आलोच्य के अन्तर्गत तुलसी की कृतियों तक ही अपने आपको परिसीमित रखा है। ऐसा करने में विवेच्य विषय की प्रस्तुत सामग्री तथा तत्तत् विषय का एकान्तिक बोध इन तुलसी की रचनाओं में एकत्रित प्राप्त हो जाता है तथा अन्य कवियों की रचनाओं में जो एतादृश तत्वों का अभाव खटकता है उसकी प्रतिपूर्ति भी प्रकारान्तर से हो जाती है। तुलसी ने जीवन और अध्यात्म के अनेक क्षेत्रों में प्राप्त सामग्री जिसे उन्होंने नाना पुराण निगमागम कहा है उनके समन्वय मात्र से अपनी रचनाओं में जनवृत्त करने का महान प्रयत्न किया तथा उन्हें उसमें अभूतपूर्व सफलता भी प्राप्त हुई।

अब तक इसमें संस्कृत वाङ्मय से लेकर हिन्दी साहित्य के रामभक्ति काव्य तक की माया भावना की अनेक परिकल्पनाओं पर विचार किया है। हिन्दी मध्ययुगीन भक्ति काव्य के संदर्भ में माया सम्बन्धी अनेक धारणाओं के विकास एवं परिच्छेदों की अपनी विशिष्टता है। इस विकास की पृष्ठभूमि में माया सम्बन्धी पौराणिक और दार्शनिक धारा का महत्वपूर्ण स्थान है। तुलसी-साहित्य में माया सम्बन्धी भावना का अपेक्षाकृत अन्य समसामयिक कवियों में विस्तृत वर्णन और विचार मिलता है। अपनी सुगमता के लिए उक्त साहित्य के सिद्धान्त पक्ष के समस्त विस्तार को निम्नलिखित विषयों में विभाजित किया जा सकता है। वे विषय हैं—ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और भक्ति।

इनमें से जीव और जगत् का एक ही विशिष्ट स्थान में किया जा सकता है क्योंकि ब्रह्म अथवा माया को आधार मानकर ही दोनों हैं। जीव का पसारा जहाँ तक जो जिस तरह फैला होता है उसे जगत् कहते हैं। इसी प्रकार भक्ति के अन्तर्गत हम मोक्ष को भी परिगणित कर सकते हैं। सामान्य तौर पर अपने अन्तरतम आदर्श (ब्रह्म) से विच्छुरित हो जाने के पश्चात् जिस सम्पर्क को लेकर जीव पुनः उसमें मिलने का उपक्रम करता है उसे ही दार्शनिकों ने मोक्ष निर्वाणादि के नाम से अभिहित किया है। तुलसी उस भक्ति का नाम देते हैं। हमारा आलोच्य विषय माया का केन्द्रस्थित बिन्दु है जिसका सम्बन्ध प्रायः उक्त सभी विषयों से है। यद्यपि अपने मूल रूप में सभी परस्पर पृथक सत्ता रखते हुए भी माने गए हैं तथापि ब्रह्म से निकलकर जीव का अपने आश्रय (ब्रह्म) से भिन्न रूप आसक्ति के वात्याचक्र में पड़कर संसार के सृष्टिचक्र का परि-

---

[1]—साहित्य कोश ६४० के आधार पर।

चालित करने का समस्त श्रेय इसी माया को ही है। निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? एक अद्वितीय या केवल ब्रह्म से अनेक नाम रूपात्मक जगत् का निर्माण कैसे सम्भव हुआ ?[1] अनुभूत दृश्यप्रपंच की क्या व्यवस्था होगा उसके उरस का निदान कैसे होगा ? शून्य से तो प्रपंच का निगम हो नहीं सकता, क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति असम्भाव्य है। इस प्रकार इन शंकाओं का एकमात्र समाधान माया है। यह माया इस प्रपंचात्मक विश्व का बीजरूपा शक्ति है जो ईश्वर से विलग नहीं, और जिसकी विशेषताओं में त्रिगुणात्मिका एवं अनिर्वचनीयता एक है।

तुलसीदासजी ने माया के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण दार्शनिक की भांति किया है। इस रूप में माया का विशद् विवेचन उनके किसी भी समसामयिक कवि में नहीं मिलता। माया की स्वरूप व्याख्या के क्रम में तुलसीजी ने सर्वप्रथम माया का स्वरूप तदनन्तर माया का कार्य पुनः माया का विस्तार तथा माया के भेदों की मीमांसा करते हुए 'मैं अरु मोर" को ही समस्त अनर्थों का मूल कहा है।[3] वास्तव में मनुष्य के मध्य अहंभाव की स्फूर्ति, मैं और मेरा' अर्थात् मैं हूँ और यह वस्तु मेरी है तथा वह तुम हो और यह वस्तु तुम्हारी है इसी के द्वारा होती है। 'मैं' की स्वाभाविक प्रतिद्वंद्विता 'तैं' से है। "मैं" के स्फुरण के अनन्तर 'तैं" का स्फुरण होता है। शारीरिक भाष्य में आचार्य कहते हैं कि स्वाभाविक ब्रह्मात्मता को त्यागकर अविद्या वश हो सब जन्तु विकारों में 'मैं' 'मेरा' इस प्रकार आत्म और आत्मीय भावरखते हैं।[4] इस प्रकार 'मैं' अरु मोर तोर तैं' माया है[5] जिसकी निस्सत्वता स्वतः प्रमाणित है। फिर यह निस्सत्व होते हुए भी जीव मात्र को अपने वश में किए हुई है। कबीर ने माया का विस्तार पशु पक्षी स्थावर जंगम तक में माना है। कूटस्थ चिदाभास और कारण शरीर के समूह को जीव कहते हैं। ये जीव असंख्य हैं तथा सभी माया के वशवर्ती हैं। जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान जीव माया के इशारे पर नाचता है। माया का विस्तारण भी अपूर्व है। इन्द्रियों के विषय नाम और रूप एवं मन के विषय और उनके संस्कार सभी माया में लिप्यमान हैं।[6] अतः इन्द्रियाँ और इन्द्रियगम्य समस्त जगत् माया के अन्तर्गत परिगणित है। माया की पहुँच मन में भी अधिक है। कबीर ने मन और माया का सम्बन्ध माना है। श्रीगिरिधरशर्मा के अनुसार इन्द्रियों के विषय नाम और रूप मन के विषय और उनके संस्कार, इन सबों को यहाँ माना गया है।[7] तदनन्तर माया के भेदों की चर्चा करते हुए विद्या और अविद्या

१—तुलसी दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानु सिंह, पृ० ८१।

२—रामचरितमानस का तत्व दर्शन—डा० श्रीश कुमार पृ० ११३।

३—मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ॥ मा० अ० २

४—रामचरित मानस का तत्व दर्शन—, पृ० १२०।

५—सूरदास का भी ऐसा ही विचार है।

६—गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥—मा० अ०।३

७—मानस पीयूष, प १३४॥

कर्नाधि के अप्रिय प्रिय" होने की पृष्ठभूमि में गन्य तथ्य है। विष्णुपुराण में वह भगवती अपराविद्या संसार की रचना करती है, ऐसा कहा गया है।

इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने माया को केन्द्रस्थितकर उसकी परिधि में ज्ञान विराग जीव ईश्वर आदि के स्वरूप का स्पष्ट आख्यान किया है। लक्ष्मण को "कहहु ज्ञान विराग अरु माया" की प्राञ्जल जिज्ञासा में सर्वप्रथम माया का स्वरूप कथन इसी तथ्य का वाचक है। वस्तुतः ज्ञान वह है जहाँ विद्या अथवा अविद्या कोई भी माया माना नहीं जाता और समस्त ब्रह्म ही ब्रह्म की सत्ता दृष्टिगोचर होती है। जीव वह है जो (वास्तव में माया का ईश होते हुए भी) अपने को माया का ईश नहीं समझ रहा है। ईश्वर वह है जो ब्रह्म भी है और शिव भी है। ब्रह्म वह है जो सर्वव्यापी है और ज्ञान से देखा जाता है उसके आगे माया की एक नहीं चलती। वह व्यक्तित्व विहीन है। और शिव वह है जो व्यक्तिसंयुक्त होकर बंधमोक्षप्रद सर्वपर और माया प्रेरक है। जैसा कि अविद्या माया को ऊपर में दुष्ट और दुःख रूप कहा गया है आनन्द का स्वारस्य लाभ करने के लिए विषयों का काम देती है। अग्नि आतप से व्याकुल व्यक्ति ही तरु छाया का सच्चा सुख प्राप्त करता है इस प्रकार भगवान् की लीला में अविद्या माया की भी एक विशिष्ट उपयोगिता है।

माया की रचनात्मक शक्ति राम में ही अधिष्ठित है। राम के बल से ही वह प्रसूति रचना सामर्थ्य से अभिपूर्ण होती है और सब पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करती है। राम की भौंहों के संकेत पर सृष्टि की रचना और उसका संहार तत्क्षण संभव है। उन्हीं की प्रेरणा से माया पंचस्थ भूतों को उत्पन्न करता है तथा इसी स्थूल भूत समूह से संपूर्ण स्थावर जंगम जगत उत्पन्न होता है। माया स्वतः जड़ है वह राम का आश्रय पाकर ही सत्य भासती है। माया धीश होने के कारण राम उसके स्वामी हैं। उन्हीं के द्वारा माया गतिशील हुआ करती है। सूरदास भी माया को जड़ मानते हैं। माया अकेली नहीं उसका अपरिमित परिवार है। गोस्वामी जी मोह काम तृष्णा क्रोध लोभ, मद, ममत्व, मत्सर, शोक, चिंता मनोरथ इषणा, आदि परिवारस्थित सदस्यों के नाम गिनाते हैं। यही माया नाना प्रकार के छल छद्मों और मोहादि के रूप से सामने आकर सबको अंधा बनाए रखता है यही नाना प्रकार के नशे में चूर रखती है लोभ और लोलुपता में उन्मत्त बनाता है क्रोध की आग सुलगा कर आत्मिक शांति को जला डालती है, लक्ष्मी के लालों को ऐश्वर्य मद से वक्र कर देता है वही हम यौवन सुलभ उत्तेजना ज्वर से पीड़ित करता है। यही मिथ्याभिमान में हमारा सिर फेर देती है। यही ईर्ष्या और द्वेष को उभाड़कर हमारी आत्मोन्नति में बाधा व्यवधान उपस्थित करता है। क्षोभ और उद्वेग की लहरों में यही हम विचलित कर देता है। नाना प्रकार की चिंताओं और त्रिविध एषणाओं के प्रपंच विस्तार से विनाशिता के वातावरण की सृष्टि कर अनिष्ट कीटाणु के रूप में यही हमारा क्षय साधन करती है। गोस्वामी जी ने विभिन्न व्याधियों का रूपक देकर इसी अविद्या माया के परिवार की चर्चा की है। उनके अनुसार व्याधि रूपी इन सब दुर्गुणों का मूल है—

है जिसके द्वारा इस अक्रम विश्व का निर्माण और उद्गम क्रमबद्ध सा प्रतीत होता है।[1] काल भी अविद्या ही है। राम काल के भी काल हैं। उसके सारे कार्य भगवान् की माया से ही प्रेरित होते हैं। राम के शक्तिरूप होने के कारण ही उसे तुलसी ने काल जासु कोदण्ड कहा है। उनकी भक्ति प्राप्त कर लेने पर जीव काल के परिवेश से मुक्त हो जाता है राम का भक्त काल धर्म के प्रभाव से वैसे ही अछूता रहता है जैसे ऐन्द्र-जालिक का सेवक इन्द्रजाल के प्रभाव से।[2]

तुलसी ने ऐन्द्रजालिक राम की माया द्वारा रचित इन्द्रजाल रूप इस विश्व को भी मिथ्या कहा है। स्वप्न में देखे गये पदार्थों की भाँति जाग्रतावस्था में अनुभूत यह जगत् भी मृषा है। इसका स्वरूप मायिक है, वह माया ही है। माया की रचना होने के कारण वह मायिक है, माया की भाँति दुर्ज्ञेय एवं अनिर्वचनीय होने के कारण मायास्वरूप है। माया के स्वरूप में अविष्ट समस्त विशेषताएँ जगत् की विशेषताएँ हैं। जगत् की रचयित्री विद्या माया है। वह राम की शक्ति है। वह अपने शक्तिमान् से अभिन्न है। जगत् के मिथ्यात्मक वर्णन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिये कि गोस्वामी जी को जगत् का अस्तित्व ही अमान्य है। इसके परिवर्तनशील रूप होने के चलते परमार्थ रूप राम की तुलना में यह असत्य है। असत् का अर्थ ही यहाँ 'दृश्य असत दुखकारी' है।

इस प्रकार 'जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार" के चलते संसार के समस्त गुण दोष, सुख-दुःखादि राम की माया द्वारा निर्मित हैं।[3] माया राम की दासी है अतः मिथ्या भी तथापि अतिशय प्रबल भी। अतः माया मुग्ध जीव का निस्तार रामकृपा से ही हो सकता है।[4] राम के भक्त को अविद्या माया नहीं व्यापता। उसके बिना सुख की प्राप्ति कथमपि सम्भव नहीं है।[5]

भव सम्भव श्रम और खेद को दूर कर कैवल्य की सम्प्राप्ति हेतु ज्ञान की सोद्देश्यता भी विचार विशारदों द्वारा प्रमाणित है। वैराग्य योग तथा ज्ञानादि का इस दृष्टि से अपूर्व महत्त्व है। किन्तु गोस्वामी जी ने एक निसर्ग सिद्ध वस्तु की योजना से उक्त सबमें भक्ति की दृढ़ता और श्रेष्ठता प्रमाणित की है। उनके अनुसार वैराग्य ज्ञानादि पुरुष वर्ग के अन्तर्गत हैं।[6] अतः माया रमणी के प्रति उनमें निसर्गसिद्ध निर्बलता

१—वही, पृ० १४६।

२—केशव ! कहि न जाय का कहिय। विनय पत्रिका।

३—हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।—मा० उ० १२० दो०।

४—अतिशय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जो दाया।—मा० उ० ७१।

५—हरि सेवकहिं न ब्याप अविद्या। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।—मा० उ० ११५।

६—ज्ञान विराग जोग विज्ञाना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना।—मा० उ० ११८। ८

जीव

जीव का स्वरूप विवेचन करते हुये सूत्र रूप म तुलसी कहते हैं—

ईश्वर अश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुख रासी ।
सो मायावश भयउ गोसाई । बध्यो कीट मर्कट की नाई ॥
(मा० उ०)

इस प्रकार सच्चिदान द स्वरूप ईश्वर का अश ही जीव सिद्ध होता है उसका ससारी होने का हेतु ईश्वर से पृथक्त्व है। वह माया के चलते अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है - माया जीव न आपु कह जान कहिअ सो जीव'। फलस्वरूप उसे अनेक प्रकार का कष्ट झेलना पडता है।[1]

इस प्रकार ईश्वर और जीव म निम्नलिखित भेद हैं जिसके मूल मे माया ही है। एक अशी है और दूसरा अशमात्र। ईश्वर एक है और जीव अनक। एक मायापति है दूसरा मायावश, एक यदि मायाप्रेरक है तो अपर मायाप्रेरित। एक यदि "कालकम सुभाव गुन भच्छक' है तो दूसरा 'काल कम सुभाव गुन घेरा।"

एव विधि माया की तुला पर स्थित कर ही इश्वर का ईश्वरत्व और जीव का जीवत्व 'तिलतण्डुल याय से पृथक् पृथक् स्पष्ट होता है।

जगत्

यह विश्व भगवान् की माया द्वारा रचित है। उसकी असत्यता उसकी परिवर्तनशीलता के कारण है जो माया द्वारा सम्पन होता है। इस जग की गति मायिक है। माया का रचना और दूसरी क्या हो सकती है? वह माया की भाँति दुर्ज्ञेय एव अनिर्वचनीय है उसके सम्ब ध मे कुछ कहा नही जा सकता। तुलसी ने "धुआ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि र" उपमान द्वारा जगत् की मायिकता एव निस्सारता का अपूव द्योतन किया है। यद्यपि वह राम की सत्यता के प्रकाश मे ही असत्य है—

जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीश ग्यान गुन धामू।
जासु सत्यता ते जड माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
यदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
एहिविधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥

भक्ति

जीव को वस्तुत अपन अात्श से विच्छुरित करने का समस्त श्रेय माया का

१—जिव जब ते हरि त बिलगायो तब ते देह गेह निज जायो।
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो।—वि० १३६।१

ही है ऐसा हम पूर्व कह आए हैं। यह कार्य माया जीव को विषय वासनाओं में पूर्णतः लगाकर ही सम्पन्न करती है। माया कटक के समक्ष बड़े बड़े ज्ञानियों का धैर्य भी समाप्त हो जाता है—

"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥"

भगवान् के चरणकमलों में प्रेम और तज्जनित कृपा के बिना माया का मन धुन नहीं धुनता। राम अपने सेवक की रक्षा सहस्र बाहु होकर करते हैं। उनके भक्त के प्रति किया गया अपराध कदापि क्षन्तव्य नहीं। अपराधी को उनकी क्रोधाग्नि में प्रज्वलित होना ही पड़ता है।[1] अतः माया जनित दुर्गुणों से भगवान् का भक्त भली भाँति मुक्त है।

उपरिनिर्दिष्ट कथन में माया के मानवीय एवं उसके महत्व का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जाता है। गोस्वामी जी ने माया के स्वरूप की एतादृश व्याख्या द्वारा मायावाद की परम्परा में एक ऐतिहासिक कार्य किया है। यहाँ माया की भावात्मक सत्ता का एक पार्थिव एवं मनोविज्ञानिक पृष्ठाधार तथा उसकी विविध भावों का सम्भगन व्याख्या का एक सूक्ष्म मर्मवित्ति का उपहार मिला है।

तदनन्तर तुलसी के माया सम्बन्धी विचारों के साथ उनसे सम्बद्ध तथा तद्-नुकूल विचारों में मर्मवेत्ता विचारों का अध्ययन इस प्रसंग में अयुक्तिसंगत नहीं होगा। वैसे "माया की परम्परा" शीर्षक अध्याय में हमने वेद से लेकर मध्ययुग के पूर्व तक के विभिन्न पहलुओं में सम्पर्कित माया विभावन का अध्ययन कर उस पर निष्कर्ष गठित किया है।[2]

शंकराचार्य का मायावाद और तुलसी

यद्यपि शंकर के सुदूर परवर्ती काल से ही माया भावना की विस्तृत परम्परा चली आ रही है तथा भारतीय मनीषा ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में माया की सत्ता को ब्रह्म, जगत् और जीव के सम्बन्ध में स्वीकार किया है तथापि स्पष्ट घोषणा के रूप में माया को सत्ता को उक्त सर्वमान्य सत्ताओं के मध्य स्वीकृति प्रदान करने का सर्वप्रथम श्रेय शंकर को ही दिया जाता है। शंकर मायावाद की ख्याति इतनी हुई कि जब हम माया की चर्चा करते हैं तो इसका तात्पर्य शंकर के मायावाद से ही लिया जाता है।

शंकर के अनुसार परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति का नाम माया है जो विश्व की रचना और जीव के बन्धन का हेतु है। माया ही प्रकृति है। ईश्वर को प्रेरक

१—मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥—मा० अ० २१८।
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥—मा० अयो०

२—लेखक की पुस्तक मध्ययुग के भक्ति काव्य में माया।

है।[1] उसी में महत्तत्व आदि के क्रम से सृष्टि रचना हुई है। जगत् असत्य है—स्वप्न और मायारचित गर्धवनगर के समान दृश्य नष्ट स्वरूप है रज्जु में सर्प शुक्ति में रजत, किरण में जलादि की भाँति अपने अधिष्ठान ब्रह्म में सत्य भासता है। किन्तु वह व्यव हारत सत्य है, स्वप्न की भाँति सर्वथा अलीक नहीं है।[2] शकर की दृष्टि मे माया के सदृश मायाविनिर्मित यह जगत् भी अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार जीव अनेक हैं फिर भी वह ईश्वर का अश है। जगत् का चक्र कर्म मे ही चलायमान है। जीवात्मा अविद्या के कारण ही दुःख भोगता है। अविद्यारूप हृदयग्रथि का उन्मोचन ही मोक्ष है। मोक्ष का साधन ज्ञान है क्योंकि ब्रह्म ज्ञानी सासारिक बन्धन से दूर रहता है।

इस प्रकार तुलसी का माया सम्बन्धी अभिमत शकर की पद्धति पर है फिर भी उसमें विभिन्नताएँ हैं। तुलसी माया को एक शक्ति के रूप मानते हैं जो नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न कर दुःख और द्वैत भावना का विकास करती है। शकर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण निरुपाधि है जो माया से सगुणत्व ग्रहण करता है अत सगुण रूप मुख्य नही है। तुलसी जी माया को एक शक्ति के रूप में स्वीकारते हैं—सीता ही वह योगमाया है। निर्गुण ब्रह्म अपनी शक्ति से सगुण रूप धारण करता है यथा नट का अनेक रूप धारणत्व। शकर आदि माया और अविद्या को पर्याय मानते हैं।[3] तुलसी अध्यात्म-रामायण के समान माया को विद्या तथा अविद्या माया दो भागों में विभाजित करते है। अद्वैत वेदान्त में माया चतुष्कोटि विनिमुक्ता मानी गई है। तुलसी के अनुसार माया भगवान् की मातृरूपा अभिन्न शक्ति है। वे केवल अविद्या माया को मिथ्या मानते हैं। शकर दर्शन में माया किसी के अधीन नही है। तुलसी उसे राम की दासी मानते हैं। शकर माया का अस्तित्व नही स्वीकारते किन्तु तुलसी राम के बल पर उसका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं। शकर के लिये रचना भ्रममात्र है तुलसी के लिये वह एक तथ्य है। राम के अस्तित्व में उसका अस्तित्व है।[4] तुलसी के अनुसार जीव ईश्वर का अश है शकर उसे 'अश इव कल्पित' मानते हैं। शकर के अनुसार तत्त्व ज्ञान से अविद्या का नाश होता है क्योंकि अद्वैत वेदान्त ज्ञानमार्गी है। तुलसी के अनुसार भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। वही भक्ति का साध्य है और ज्ञान भक्ति का एक अग है।[5] इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि गोस्वामीजी की कुछ विशिष्ट पक्तियों को उदाहृत कर विद्वानो ने उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध करने का पर्याप्त प्रयास किया है और इसके लिये पदों के अर्थ परमार्थ के साथ खींचातानी भी की गई है, परस्पर पौन पुन्य खडन मण्डन का धरातल भी

१—माया तु प्रकृति विद्यान् मायिन तु महेश्वरम्।—श्वेताश्वतर ०४।१०।

२—तुलसी दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानु सिंह पृ० ३४३।

३—वही पृ० ३४८।

४—तुलसी दर्शन—डा० बलदेव प्र० मिश्र, पृ० २२०। इन्होंने उक्त श्यामसुन्दर दास के मत पर आक्षेप किया है।

५—तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ० ३४५।

उपस्थित किया गया है। किन्तु इस खण्ड में उठाए गए प्रश्नों का एकमात्र उत्तर तुलसी की समन्वय साधना ही है। जहाँ उन्होंने किसी विशिष्ट मत का खण्डन प्रायः नहीं किया, मत के सार अथवा उत्कृष्ट अंश का निरूपण निःसंकोच किया है।

रामानुज और तुलसी

अपने श्रीभाष्य में रामानुज ने शंकर मायावाद की तर्कसम्मत आलोचना की है यद्यपि माया की सत्ता इन्हें अमान्य नहीं। तथापि माया सम्बन्धी इनके विचार भिन्न हैं। रामानुज के अनुसार ईश्वर सत्य है और सृष्टि भी सत्य है। माया के विषय में वे स्वीकारते हैं कि उपनिषद् में ईश्वर को मायावी कहा गया है। इसका वे यह अर्थ लगाते हैं कि ईश्वर जिस अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना करते हैं वह मायावी की शक्ति के समान अद्भुत है।[1] ईश्वर की गुणमयी आवरणी शक्ति को माया कहते हैं। यह विचित्रार्थसर्गकारिणी अर्थात् अद्भुत विषयों की सृष्टि करनेवाली है। इसमें कभी-कभी अघटन घटनापटीयसी प्रकृति का भी बोध होता है।[2] जीव ईश्वर का अंश नित्य एवं ज्ञाता होने पर भी उससे भिन्न है। वह कर्ता है उसकी प्रवृत्ति ईश्वर के अधीन है। जड़ प्रकृति और अविद्या का संसर्ग जीव के संसार और दुःख का कारण है। विवेक के द्वारा जगत् सुखदायक हो जाता है। ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति मोक्ष के साधन हैं।[3] इन समानताओं के होते हुए भी तुलसी के विचार रामानुज से भिन्न भी हैं। विशिष्टाद्वैतवाद जीव और ईश्वर में शेष-शेषी सम्बन्ध की मान्यता देता है तुलसी जीव को राम का शेष अथवा प्रकार नहीं मानते।[4] रामानुज के अनुसार ईश्वर निर्गुण नहीं है, वह सगुण और सर्वशक्तिमान है। तुलसी के राम ब्रह्म हैं—सगुण निर्गुण दोनों। रामानुज के अनुसार जगत् ब्रह्म का शरीर है किन्तु वह जगत् के दोषों से सर्वथा मुक्त है। गोस्वामीजी के अनुसार जगत् मिथ्या भी है और ब्रह्म के शरीर रूप होने के कारण सत्य भी। जगत् रघुवंशमणिरूप है। रामानुज माया का अस्तित्व नहीं मानते पर तुलसी उसकी सत्ता मानते हैं। रामानुज के अनुसार जीवात्मा की मुक्ति ज्ञान से नहीं ध्यान और उपासना द्वारा आत्मसमर्पण से होती है गोस्वामीजी के अनुसार जीवात्मा की मुक्ति तत्त्वज्ञान द्वारा तथा ध्यान उपासना और भक्ति द्वारा संभव है।

वाल्लभ-दर्शन और तुलसी

शुद्धाद्वैतवाद की अनेक बातों की स्वीकृति तुलसी-दर्शन में उपलब्ध है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप मायाधीश आनन्दाकार और प्राकृतिक पदार्थों से विलक्षण है। वह जगत् उत्पत्ति पालन, और प्रलय का हेतु है। भगवान् की शक्ति

१—भारतीय दर्शन—ले० चटर्जी एवं दत्त। अनु० श्री हरिमोहन झा पृ० २००।

२—गीता, ७।१३ तथा ब्रा० सू० पर रामानुज भाष्य।

३—तुलसी दर्शन, मीमांसा, पृ० ३४०।

४—वही, पृ० ३४०।

"माया ' है तत्वत भगवत्काय जगत् माया द्वारा निर्मित है ।[1] इस शक्ति के दो रूप है—विद्या आर अविद्या ।" द्रव्य (माया) काल, कम, स्वभाव और जीव भगवद्-भाव रूप हैं । माया का उपादान प्रकृति है । प्रकृति से ही महदादि क्रम म सृष्टि विस्तार होता है । जीव ईश्वराश है, ज्ञाता है, कर्त्ता भोक्ता नथा दवाधीन है । उसके ससार का कारण अविद्या माया है । अविद्या पचपवा है । विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने पर जाव मुक्त हो जाता है ।[3] ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साधन हैं । केवल ज्ञान की अपेक्षा केवल भक्ति महान् है । भगवान् भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं ।[4] उक्त समानताओं के अतिरिक्त वाल्लभ-वेदान्त से तुलसी के सिद्धान्त बहुत भिन्न हैं । माया के सम्बन्ध म इतना जानना आवश्यक है । वल्लभ ने जाव को अणु मात्र बतलाकर, जगत् की सात्यत्य सिद्धि के लिए उसकी मायिकता और नश्वरता का खडन किया है । तुलसी ने जीव के अणुत्व का उल्लेख नही कर जगत् की व्यावहारिक सत्यता स्वीकार करते हुए पारमार्थिक दृष्टि से उसकी मायिकता और नश्वरता का वारवार निरूपण किया है ।[5]

माध्वमत और तुलसी

इस मत म हरि से बढकर कोई अपर तत्व नही । वे ही उत्पत्ति, स्थिति, सहार, ज्ञान आवरण मोक्ष के कारण हैं चेतन के दो भेद हैं जीव और ईश्वर। जीव हरि के अनुचर और स्वल्प भक्ति सम्पन्न हैं । ईश्वर, जीव और प्रकृति म तात्विक भेद है । मुक्ति म दुख नाश के अनन्तर आनन्द का उदय होता है । मुक्ति का सर्वोच्च साधन अमला भक्ति है । यह भक्ति अनन्य और अहेतुकी होनी चाहिये । वेदों के द्वारा जानने योग्य हरि ही है । वेदों के नाना देवता उसी हरि के नाना रूप हैं ।[6] उक्त विचार बिन्दुओं से यह स्पष्ट हुआ कि माध्वमत म ईश्वर की सत्ता स्वतन्त्र है और वह अनन्त और असीम गुणों से युक्त है । तुलसी के राम सर्वशक्तिमान अनन्त होते हुए भी ससार के बन्धन मे बँध जाते हैं मध्व जीव को जड और परतन्त्र मानते हैं गोस्वामी जी यद्यपि जीव की परतन्त्रता स्वीकार करते हैं पर भक्ति द्वारा असीम और अनन्त शक्तियों का अनुभव कर स्वतन्त्र अद्वितीय चेतन राम जैसी स्वतन्त्रता का बोध कर सकते हैं । ब्रह्म सम्प्रदाय म माया की सत्ता अमान्य है तुलसी को इसका अस्तित्व स्वीकृत है । मध्व सम्प्रदाय मे जीव और ब्रह्म का भेद नित्य है पर गोस्वामी जी के अनुसार

१—प्रपचो भगवत्कायस्तद्रूपो मायया भवेत्—तत्वदीप, १।२०
माया हि भगवत शक्ति
२—विद्या विद्ये हरे शक्ति माययेव विनिर्मिते ।—तत्वदीप १।३५
३—विद्यया विद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ।—वही १।३७
४—तुलसी दर्शन मीमासा पृ० ३५० ३५१ से उद्धृत ।
५—वही ३५१ ।
६—भक्ति का विकास—डा० मुशीराम शर्मा पृ० ३६६

जीव और ब्रह्म का भेद अनित्य है और नित्य भी। माध्व के मत में भक्ति ही अन्तिम निष्ठा है। गोस्वामी जी का ज्ञान और भक्ति दोनों मान्य है।

निम्बार्क और तुलसी

निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी हैं। इनके मत में ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान तथा अंश और अंशी का है। इनके मत में भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म हैं। जीव प्रपत्ति के द्वारा भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी होता है। भगवत्कृपा से ही आत्मा के अन्दर भक्तिभाव का आविर्भाव होता है।[1] जैसा पूर्व कथित है ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप अद्वैत पदार्थ है जो सृष्टि स्थिति और लय का एक मात्र कारण है। तुलसी के ब्रह्म सगुण होते हुए भी रामरूप हैं कृष्णरूप नहीं। निम्बार्क मत में जीव और मन दोनों ब्रह्मात्मक एवं अविभाज्य हैं। तथा ब्रह्म के अंश और अंशी भी। गोस्वामी जी ऐसा नहीं मानते। इनके अनुसार जीव और जड़ दोनों ब्रह्मात्मक और अविभाज्य होते हुए भी माया के कारण पृथक् मालूम पड़ते हैं। निम्बार्क के अनुसार जगत् ब्रह्म का ही रूप है पर तुलसी के अनुसार जगत माया और भ्रम तथा सत्य ब्रह्म रूप भी है।

सांख्य की प्रकृति और तुलसी की माया-भावना

सांख्य-योग में प्रतिपादित त्रिगुणात्मिका प्रकृति सृष्टि प्रक्रिया और अष्टांगिक मार्ग के द्वारा विवेक ज्ञान से कैवल्य प्राप्ति आदि के सिद्धान्त तुलसी को मान्य हैं। किन्तु उनके मूल सिद्धान्त सांख्य योग से सर्वथा भिन्न हैं तुलसी ईश्वरवादी और अवतारवादी हैं। उनकी दृष्टि में इस जड़ चेतनमय विश्व में ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं वह ईश्वर का ही अंश एवं ईश्वर रूप है। उसी के द्वारा सृष्टि उत्पादित प्रेरित और शासित है। प्रकृति उसी की माया है। जीव (पुरुष) उसी का दास है।

गीता का माया दर्शन तथा तुलसी

गीता के अनुसार माया भगवान् की दैवी शक्ति का नाम है। वह गुणमयी एवं दुरत्यया है। भगवान् के चरणों में अविरल भक्ति रखने वाले ही इससे मुक्त हो सकते हैं। गीतारहस्यकार ने इसको परिभाषित करते हुए लिखा है सृष्टि के आरंभ काल में अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म जिस देश कालादि नामरूपात्मक सगुणशक्ति से व्यक्त अर्थात् दृश्य सृष्टि रूप हुआ सा दीख पड़ता है उसी को माया कहते हैं।[3] माया के द्वारा ही ईश्वर इस भौतिक जगत् की सृष्टि करता है।[4] यद्यपि गीता में 'अविद्या'' शब्द

१—भक्ति का विकास—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३६८ के आधार पर।

२—तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ० ३५२

३—गीता रहस्य, पृ० २७४।

४—प्रकृतिस्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः
भूतग्रामिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्— गीता ९

का व्यवहार कहीं भी नहीं हुआ है तथापि प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" और भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया" आदि प्रयोगों से सिद्ध होता है कि गीता में माया के दो रूप स्वीकृत हैं—रचयित्री माया और मोहकारिणी माया।[1] इन्हीं को गोस्वामी जी ने विद्या और अविद्या का अभिधान दिया है।

जीव की दृष्टि से विचार करने पर माया उसका ज्ञान हरण कर लेती है और दाम्पत्य की भाँति उसे भ्रमाती रहती है।[2] संसार चक्र से मुक्ति पाने के अनेक साधनों में से कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति का विशिष्ट महत्व है। माया से पार करना प्रपत्ति द्वारा ही सम्भव है।[3]

पुराण और तुलसीदास

श्रीमद्भागवत के अध्ययन से यह निष्कर्ष निश्चयकोटिक सा हो गया है कि प्रतिपाद्य विषय तथा प्रतिपादन शैली दोनों दृष्टियों से 'मानस' की माया धारणा पर श्रीमद्भागवतादि पुराणों का पुष्कल प्रभाव वर्तमान है। पुराणों में इस तथ्य का एकाधिक बार विवेचन हुआ है कि ईश्वर ही जगत् का कर्त्ता पालक और संहर्त्ता है। माया उसी की शक्ति है। उसे प्रकृति भी कहा जाता है। विश्व का विकास और प्रलय उसी के हाथ की करामात है। सृष्टि भगवान् की लीला है। जीव ईश्वर का अंश होते हुए चेतन और आनन्दमय है। माया के कारण उसका ज्ञान और आनन्द तिरोहित हो जाता है। भगवान् की कृपा से ही इस बन्धन से उसे मुक्ति मिलती है। इस प्रकार मोक्ष के प्रत्यक्ष साधन ज्ञान और भक्ति हैं। भक्ति का क्षेत्र विस्तृत तथा उसकी श्रेष्ठता ज्ञानादि से अधिक है।

उपर्युक्त पर्यवेक्षण से यह सिद्ध होता है कि तुलसीदास का माया विभावन किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, वाद, अथवा ग्रन्थ विशेष के अध्ययन आधार और अनुसरण का परिणाम नहीं अपितु उनकी मधुकरवृत्ति जनित भारतीय वाङ्मय में प्राप्त आदेय के सर्वोत्तम परिणाम है, जो तुलसी दर्शन बनकर रह गया है। अतः किसी एक विचार धारा का चूडान्त निदर्शन हम यहाँ नहीं पाते। दार्शनिक मतवादों की अभावात्मकता यही है कि उनमें तर्क और वाद पर अपने निर्णय को आधृत रखा जाता है जिससे सत्य के पूर्ण रूप का दर्शन सुलभ नहीं होता। गोस्वामीजी इस ऐतिह्यमूलक साम्प्रदायिक कट्टरता से दूर सहिष्णु तथा लोक कल्याणवादी विचारधारा के पोषक और प्रवर्तक

१—तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ० ३५६।

२—न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।—गीता० । १५०

३—मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।—गी० ०। १४

हैं। उनका दर्शन जिस भित्ति पर आधृत है इसके लिए समन्वय अर्थात् ज्ञान साधक बन कर आया है। सचमुच उनके दार्शनिक विचार जिन ग्रन्थों में प्रकट हुए हैं, वह जहाँ अत्यन्त सरल और सुगम हैं वहाँ ऐसे स्थल भी हैं कि प्रत्येक सम्प्रदाय का अनुयायी सहज में मनमाना अर्थ निकाल लेता है।[1] अतः तुलसी की माया भावना न तो अद्वैत-परक है और न विशिष्टाद्वैतपरक प्रत्युत स्वयं तुलसीदासपरक है। यद्यपि प्रभाव अथवा अन्य वादों में अभिव्यक्त विचारों की समानान्तरता सर्वत्र ही पूर्व के वादों में देखा जा सकता है। शाश्वत विचारों की यही विशेषता है।

१—रामचरितमानस की भूमिका—श्री रामदास गौड, पृ० १०८।

सप्तम अध्याय

मानस एव मानसेतर ग्रन्थों के आधार पर तुलसी की माया धारणा की विशद् विवेचना

क—मानस के मायारोपित घटना विवरणा का अ`ययन
ख—तुलसी-साहि`य म माया का शाब्दिक अथ और उसके पर्याय

मायारोपित घटनाओ का विवरण पृष्ठभूमि

तुलसी ने माया का सैद्धातिक स्वरूप ही प्रस्तुत नही किया अपितु उसके अमित अर्थो तथा उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी बडे मनोयोग स विश्लेषण किया है। "माया' शब्द वैदिक युग म ही किस प्रकार भिन्नार्थो म प्रयुक्त होता आ रहा है यह पूर्वध्यायो का विवेच्य बन चुका है। हाँ यह अवश्य है कि शक्ति के रूप मे चाहे वह इन्द्र का शक्ति हो अथवा भगवान् की शक्ति हो उसे सवथा महत्व मिला है। विद्यारण्य स्वामी आदि परवर्ती वेदान्तियो न 'दुघटत्वसर्मथता माया सब कुछ कर सकती ह' ऐसा अनक स्थलो पर इगित किया। किन्तु उन्होंने यह नही बताया कि माया किस प्रकार सब कुछ करने म समर्थ है और उदाहरणस्वरूप उसन अमुक पर ऐसा किया है। श्रीमद्भागवतकार को सवप्रथम इस प्रकार की आवश्यकता माया निरूपण के अतगत महसूस हुई थी और उसन कथा कहानियो के विविध माध्यम स इस अ`याख्यय, अनिवचनीय तत्व को समाविष्ट कर यह दृष्ट करान का स्तु`य प्रयास किया था कि किस प्रकार माया जीवो को अपन आदश से विच्युत कर दिग्भ्रमित कर दता है। 'ब्रह्मा जी का मोह और उसका नाश' शीर्षक से एक कथा श्रीमद्भागवतपुराण म आई है। इसम ब्रह्मा न अपने अभिमानवश श्रीकृष्ण के समस्त ग्वालो और गो-वत्सो को अपहृत कर उन्ह परेशान करना चाहा है। किन्तु श्रीकृष्ण इसे जान जाते है और अपनी दि`य माया से स्वय अनक गोपो तथा गोवत्सो का रूप धारण कर लेते हैं। इसस न तो दैनंदिन जीवन मे किसी काय की हानि होती है और न कुछ नया ही दिखाई पडता है। कालान्तर म ब्रह्मा जब अपने विगत काय का परिणाम देखने आते है तो उनके आश्चय का ठिकाना नही रहता यावतो गोकुले वाला सवत्सा सब एवहि" । और इसी प्रकार वे स्व की माया मे स्वत विमोहित हो जाते है।[1] जब उनके समक्ष समस्त

१— स्वमेव माया याजोऽपि स्वमेव विमोहिता –श्री मद्भा० अ० १३। सू० १०। ४४

ग्वाल-बाल श्रीकृष्णमय दिखाई पडन लगत हैं। वे समझ नहा पात यह सब क्या हो रहा ह। कौतूहलवश वे ध्यानस्थ होकर, भगवान् की प्रज्वलित काति म अभिभूत होकर मौन ग्रहण कर लत हैं। यह दख श्रीकृष्ण पुन माया क आवरण का समट, गोपवशीय बालक का नाट्य वेश धारण किए हुए गो-वत्स-सधान म तल्लान दिखाई पडत हैं। यह दख ब्रह्मा अपन को रोक नहा पात और सद्य   उनक चरणा म गिरकर उनका महिमा का स्मरण करन लगत हैं।[1]

पुराणा म इस प्रकार की अनक कथाए मिलता हैं जिनम भगवान् का माया स विमोहित जाव तथा भगवान् का अनन्त सत्ता क विस्तार की विविध कथाओं क मा यम स अभिव्यक्त करन का स्तुत्य प्रयास किया गया है। सस्कृत वाङ् मय क एति हासिक पा क अ ययन स यह सत्य विवृत होता ह कि वेदोपनिषद् काल क पश्चात् सूत्रा एव स्मृतियो न पुन कम या नान क विषय म अपना व्यवस्था दना प्रारम्भ किया। मामासदिन उन पर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किय। पुराणा न उस विविध कथाओं द्वारा स्पष्ट किया और तन्त्रा तथा आगमा न उसक साधन, विधि एव क्रियाओं को यथाविधि विस्तार दिया। वस्तुत पुराणा का आख्यानक-महत्व इस दृष्टि म स्वय सिद्ध ह और उनका आद्यन्त निवृत्ता सकना का स्पष्ट भा यहा है। महात्मा बुद्ध वे जन्म-जन्मातरा म सम्बन्धित जातक कथाओं म उनक आध्यात्मिक एव औपदेशिक विचार तथा इसा क दैवोक्तियों[2] (पैरबल आफ द गुड समरितन द पैरबल आफ द सावर) आदि म कथाओं क मा यम स ज्ञान-तत्व समझाया गया है। जैन महा-पुराणा जस त्रिषष्टिशलाकापुरुष गुणालकार   (तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकार) तथा पद्म चरित (पौम चरिउ) म जैन सिद्धान्ता का रामकथा क मा यम स प्रस्तुत किया गया है।

म ययुग क भक्तिकाल म सवप्रथम कबीर न रघुनाथ का इस माया म लोगा को सचेष्ट होन क लिए उपदिष्ट किया जो शिकार खलन निकला ह और साम्प्रदायिक जाला म फसाकर मुनि पीर जैन जोगी जगम ब्राह्मण और सन्यासी को मार रहा ह।[3] इसा क बस म ब्रह्मा विष्णु महेश शारद सनक और गौरी-पुत्र गणेशादि सभी ह।[4] उसन सुर, नर मुनि स ी क मन को मारकर एक बार भरमा दिया है

१—श्रीमद्भागवत ग्र० १३ स्क० १० म उल्लिखित कथा द्रष्टव्य।

२—परेबल इज ग्र शार्टस्टोरी व्हिच टाचेज सम मारल लेसन्स।

३—तू माया रघुनाथ का खेलण चला ग्रहेड।
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करता जोगी।
दास कबीर राम क सरने ज्यू लागी त्यू तोरी।—क० ग्र०, पद १८०

४—माया क बस सब परे, ब्रह्मा, विष्णु महेश।
नारद सारद, सनक ग्रद गौरी पुत्र गनेश॥

और स्वयं अनन्त अनादि है।[1] इसी प्रकार प्राय: सभी सन्त के कवियों ने माया के इस प्रचारात्मक रूप की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और एक स्वर से आकाश-पाताल-व्यापी निनाद निनादित किया—' सिमरत नहिं क्या मुरार माया जाकी चेरी।'' उक्त आह्वान की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट अवश्य हुआ किन्तु उसमें उस बड़े अभाव की प्रतिपूर्ति नहीं हुई जिसकी ओर पुराणों ने इंगित किया था, यद्यपि इसके पीछे मतों के "नानापुराण' ज्ञान का अभाव ही कारण रूप कहा जा सकता है।

मनोविज्ञानिक दृष्टि में भी मानव मन जितना अपने अथवा अपने पूर्वजों के 'कृत स्मर'' द्वारा प्राप्त परिणामों से शिक्षा ग्रहण कर निज जीवन का सुपथ की ओर अग्रसर करता है उतना वह विभिन्न लक्ष्य निर्धारक तत्वों से उपराम ग्रहण करना भी चाहता है। कथा प्रसंगों का, मानव-इतिहास की अपेक्षा इस दृष्टि से उपदेश के विस्तृत धरातल पर, उदाहरण के लिए सर्वत्र और सर्वकाल में महत्त्व प्रकट है। गोस्वामीजी ने पुराणों से विशिष्ट इस तथ्य को अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में पुनरानेखित किया है, यह उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अपनी रचनाओं में एक ओर जहाँ इन्होंने माया के प्रबल अमित परिवार का उन्मेष किया है जो सबों को मोह लेता है तथा जिसकी व्यापक अजेय और असंख्य सेना के समक्ष सभी पराजय स्वीकार कर लेते हैं, वहीं दूसरी ओर मानस के कथा-प्रसंगों द्वारा भी जैसा पूर्व निवेदित है कवि ने माया का प्रभाव दिखलाते हुए बताया है कि नारद सती गरुड़ आदि अनेक पात्र माया पाश में किस प्रकार आबद्ध हुए और उन्हें ज्ञान प्रकाश प्राप्त होने पर ही कहीं ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का रहस्य उद्घाटित हो सका।[2] अब हम क्रमश: तत्सम्बन्धित कथा प्रसंगों का अध्ययन करेंगे।

१—सती मोह

विषय

क—अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।[3]
ख—लाग न उर उपदेसु, जदपि कहेउ सिव बार बहु।[4]
बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय॥

आधार

क—सती जो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेषी॥[5]
ख—जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥

१—माया मन की मोहिनी, सुर नर रहे लुभाइ।
माया इन सब खाइया, माया कोइ न खाइ।—वही।
२—तुलसीदास जीवन और विचार धारा—डाक्टर राजाराम रस्तोगी, पृ० ३६६।
३—मा० बा० ५०।२। ४—मा० बा० ५१ ५—वही ४६।३
६—वही ५२।३

ग—निज माया बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि रामु मृदु बानी ॥[1]
घ—बहुरि राममायहि सिरु नावा प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा ॥[2]

आख्यान

त्रेता युग में किसी समय अगस्त्य के आश्रम में रामकथा की चर्चा चलती है जिसमें अगस्त्य द्वारा भक्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ की जाती हैं और उनका समाधान भी प्रस्तुत होता है। इस गोष्ठी में भवानी के साथ शंकर भी उपस्थित हैं। जब वे सभा की समाप्ति के पश्चात् गृह्यार्थ गमन करते हैं तो मार्ग में उन्हें पृथ्वी के भार उतारने के हेतु अवतरित श्री राम, जो अपनी प्राणवल्लभा सीता के वियोग में 'नर इव बिरह बिकल' फिर रहे थे मिल जाते हैं। इस पर शंकर जी अपने प्रभु को पहचानकर जय सच्चिदानंद कहकर पुनवार पुलकित होते हुए प्रणाम करते हैं। शंभु की इस दशा को देखकर सती के मन में मोह का संचार होता है— जगद्वन्द्य शंकर ने एक राजपुत्र को सच्चिदानन्द परमधाम कहकर क्यों प्रणाम किया? क्या जो ब्रह्म सर्वव्यापक विरज (माया रहित) अजन्मा है वह शरीर धारण करके मनुष्य हो सकता है? और पुनः शंकर का वचन मिथ्या कैसे हो सकता है? इस प्रकार सती के मन में संदेह का पारावार उमड़ता जाता है और ज्ञान का विस्तार होता ही नहीं। वे शंकर के समक्ष उसे प्रकट भी नहीं करतीं यद्यपि शंकर इसे जानकर उनके भ्रम का निराकरण करना चाहते हैं— 'जिनकी कथा अगस्त्य ने सुनाई है जिनकी भक्ति-महिमा मैंने स्वयं उन्हें बताया है वही सर्वव्यापक मायापति श्रीरामजी भक्तों के हित के लिए अवतार ग्रहण किए हैं। पर पुनवार समझाने पर भी सती बिल्कुल प्रभावशून्यता प्रकट करती हैं। तब शंकर 'तिय में हरि माया-वश जानकर तो किन जाइ परीछा लेहु' की आज्ञा दे देते हैं।

अब सती, सीता-रूप धारण कर उस मार्ग में होकर चलने लगती हैं, जिसमें रामचन्द्रजी जा रहे हैं। लक्ष्मण पर इस उपाकृत वेष का प्रभाव पड़ता है। वे भ्रम भक्ति हृदय में अति गंभीर हो जाते हैं। किन्तु श्रीराम 'निज माया बल को हृदय में बखानकर पिता समेत निज नाम ले उन्हें प्रणाम करते हैं इसके अतिरिक्त 'शिवजी कहाँ हैं? आप वन में अकेली क्यों घूम रही हैं?' आदि प्रश्न भी करते हैं। रामचन्द्रजी के मृदु गूढ़ वचन सुनकर सती के मन में संकोच और सोच का युगपत भाव उत्पन्न होता है। इधर राम जी अपनी माया के प्रभाव से ऐसा दृश्य उपस्थित करते हैं जिसमें राम और सीता साथ-साथ जाते दिखाई पड़ते हैं। यही नहीं 'अमित प्रभाव से पूर्ण' अनेक शिव विधि, विष्णु भी दिखाई पड़ते हैं। विविध वेषधारी देव भगवान् के चरणों की अभिवन्दना करते दृष्टिगत होते हैं। वहाँ अनेक सीता और अनेक राम भी उपस्थित हैं। पुनः पटाक्षेप होता है और सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता' को देखकर 'अति सभीत' हो शरीर की सुधि बुधि खोकर वे वहीं मार्ग में नेत्र

1—वही ५२।३
2—मा० बा० ५५।३।

बन्दकर बैठ जाती है। कुछ देर के बाद आंख खोलने पर उन्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता और राम के चरणों में मस्तक नमित कर भगवान् शिव के पास चल पड़ती है। वहां शंकर के पृच्छा स्वरूप उत्तर में 'कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं, कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं' कहने पर भी परीक्षा विषयक बातों से अवगत हो जाते हैं और राम की उस माया के प्रति अवनत होते हैं जिससे प्रेरित होकर सती ने उनसे मिथ्या भाषण किया था।[1]

निष्कर्ष

क—संदेह बढ़ जाने से ज्ञान का विस्तार नहीं होता।

ख—माया पति ब्रह्म भक्तों की भलाई के लिए अवतार ग्रहण करता है।

ग—हरि की माया बलवती तथा विचित्र दृश्य उत्पन्न करने वाली है।

घ—जीव इस प्रकार माया बद्ध है कि वह ब्रह्म के स्वरूप को नहीं देख पाता।

ङ—राम इस माया के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।

च—मोह और भ्रम के अतिरेक से विवेक पर पर्दा पड़ जाता है और राम-कथा में रुचि उत्पन्न नहीं होती।

छ—भगवान् की भक्ति द्वारा ही माया का प्रक्षालन संभव है।

२—नारद-मोह

विषय

क—अति प्रचंड रघुपति के माया। जेहिं न मोह अस को जग जाया॥[2]
ख—यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरि माया मोहहिं मुनि ज्ञानी॥[3]

आधार

क—जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीश ग्यान गुन धामू।[4]
ख—जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥[5]
ग—सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिय महामाया पतिहि॥[6]
घ—निज माया बल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥[7]
ङ—सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा॥[8]
(च) जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहं रमा न राजकुमारी।[9]
(छ) अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई।[10]

१—बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा। मा० बा० ५५।३
२—मा० बा० १२७।८। ३—वही १३६।७। ४—वही ११६।८।
५—वही, १४० ६—वही। १३।७ ७—वही १३५।८। ८—वही १३५।८
९—वही १३०।१। १०—वही १३७।८

प्राप्ति के हेतु वे भगवान् की प्रार्थना करने लग जाते हैं। परिणामस्वरूप कृपालु भगवान् का वहाँ प्राकट्य होता है और मुनि "आपन रूप देहु प्रभु मोही" का वर रूप प्रस्ताव सामने रख देते हैं क्योंकि "आन भाँति नहिं पावौ वाही" इतना ही नहीं 'जहि विधि नाथ होई हित मोरा, करहु सो वेगि दास मैं तोरा' की प्रकल्पना तक पहुँच जाते हैं। प्रभु भी क्या करते, उसी प्रकार गोलमटोल वाणी में 'जहि विधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार' उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि व्याधिग्रस्त जन का कुपथ्य-याचना पर "वैद ध्यान नहीं देता उसी प्रकार मैं तुम्हारी भलाई करूँगा— एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ' प्रकारान्तर से प्रभु उन्हें बता देते हैं तथापि माया विवस भय मुनि मूढ़ भगवद्वाणी के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ पाते। उक्त कथन में "प्रयुक्त 'हित' शब्द ध्यातव्य है। माया जिस प्रकार सत्य कथन को प्रभावित कर लेती है जिससे महान् ज्ञानी भी विक्षिप्तता की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं यह इससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। यहाँ नारद विक्षिप्तता के फलस्वरूप ही 'हित' की अर्थवत्ता तक नहीं पहुँच पाते और विष्णु उनके हित के लिये ही 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना" जिसे सभा-मध्य रुद्र गण उस रूप अहमिति' को देखकर चुटकी लेते अघाते नहीं और नारद को यह बात भी समझ में नहीं आती। आवे भी कैसे? मुनि का मोह था और उनका मन दूसरे के हाथ (माया वश) भी था। मायावश्यता से ही मोह-अंकुर का प्रस्फुटन होता है। इस प्रकार इधर नारद जी उचकते ही रह जाते हैं और उधर राजकुमारी हर्षित होकर भगवान् विष्णु के गले में जयमाल डाल देती है। नारद इस देख अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं उनकी बुद्धि मोह ग्रस्त हो गई है। वे इसका कारण समझ नहीं पाते। अन्तत रुद्र गणों के अनुरोध पर वे अपने स्वरूप दर्शन के लिए जल की तरफ उन्मुख होते हैं। वहाँ 'मर्कट वदन भयंकर देही' को देखकर उन्हें हृदय में अति क्रोध होता है तथा उक्त गणों को कपटी, पापी सम्बोधित कर राक्षस होने का अभिशाप देते हैं साथ ही 'बहुरि हँसउ मुनि कोउ' के प्रति सचेष्ट भी करते हैं। अभी कमलापति का खबर लेना बाकी है। वे 'सपदि' उनके पास चले जाते हैं कि मार्ग में ही उसी विश्वमोहिनी के साथ भगवान् जाते हुए मिलते हैं। देखते ही भगवान् भला कैसे मानने पूछ बैठते हैं—मुनि आप व्याकुल की भाँति कहाँ जा रहे हैं? इतना सुनते ही नारद क्रोधाभिभूत हो बहुत बुरा भला कहने लगते हैं और अन्त में उन्हें अभिशप्त कर ही दम लेते हैं। वस्तुत क्रोध से बुद्धि भ्रमित हो जाती है और ज्ञान का सम्पूर्णत अभाव हो जाता है।[1] कृपालु भगवान् उस शाप को शिरोधार्य करते हैं। अन्तत जब प्रभु अपनी माया की प्रबलता को खींच लेते हैं तो न वहाँ रमा ही रह जाती है और न राजकुमारी ही नारद भी होश सँभाल लेते हैं और भगवान् के चरण पकडकर उनसे अपने कहे अनेक दुर्वचनों के लिए क्षमा प्रार्थना करते हैं। उनकी मानसिक शान्ति के लिए तब

१—क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥—गीता २।६३।

भगवान् उन्हें शंकर के शतनाम जप का विधान बतलाते हैं और यह विश्वास दिलाते हैं कि मेरे चरण रत्न में उनके सन्निकट माया का उद्भास कभी नहीं आवेगा।

निष्कर्ष

(क) भगवान् की प्रेरणा से ही मानव हृदय में माया का बीजवपन होता है।[1]
(ख) भगवान् की यदि कृपा बनी रहे तो माया भटकने नहीं पाती।[2]
(ग) रघुपति की प्रबल माया ने सभी जन्मधारियों को मोहित किया है।[3]
(घ) माया का निवास नारी में।[4]
(ङ०) माया के जनित्व में सर्वप्रथम मनुष्य मूढ बन जाता है।[5]
(च) क्रोध मान अज्ञान ये सब माया के ही कारण हैं।[6]
(ये सब माया-परिवार के सम्माय सदस्य हैं।)
(छ) माया के हट जाने पर मिथ्या वस्तु का लोप हो जाता है और प्रकृतावस्था सामने आ जाती है।[7] (नहि तहं रमा न राजकुमारी)
(ज) भक्ति के द्वारा माया बन्धन का सहज में उच्छेदन सम्भव है।[8]
(झ) माया की रचना विमुग्धकारी होती है।[9]

३—राजा भानुप्रताप का छला जाना

विषय

(क) तुलसी देखि सुवेष भूलहिं मूढ, न चतुर नर।[10]
(ख) नृप हरषेउ पहिचानि गुरु भ्रम बस रहा न चेत।

आधार

(क) तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया।
(ख) मायामय तेहि कीन्हि रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई।

१—राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई। मा० बा १२०।१।
श्रीपतिनिज माया तब प्रेरी। वही १२८।४।
२—मन हमार सेवक हितकारी। वही १२८।३।
३—अति प्रचंड रघुपति के माया। जेहिं न मोह अस को जग जाया। वही १२०।१।
४—सोइ हरिमाया सब गुनखानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी।—१३१।३।
५—माया विवस भए मुनि मूढा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढा।।—वही १३५।३।
६—सुनत वचन उपजा अति क्रोधा। मायावस न रहा मन बोधा।—वही १३५।३
७—जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहं रमा न राजकुमारी।—१३०।१।
८—जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी।
मम उर बसि विचरहु तुम जाई। अब न तुम्हहिं माया नियराई।—वहा १३०।४।
९—श्री निवास पुर तें अधिक, रचना विविध प्रकार।—वही १२६।
१०—वही १६१।	४—वही १७२।	५—वही १६८।२	६—१७२।१

(ग) कपट नारि बाती मृदुल बानिउ जुगुति समेत ।[1]
(घ) एवमस्तु कहि कपट मुनि बाना कुटिल बहोरि ।[2]
(ङ) तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलइ सहाइ ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ ले जाइ ॥[3]

आख्यान

विश्वविश्रुत कैकय देश के सत्यकेतु नृप को दो वीर तथा सर्वगुण सम्पन्न पुत्र थे जिनमे ज्यष्ठ सुत का नाम प्रतापभानु था। ज्येष्ठ होने के कारण प्रताप भानु राज्य का अधिकारी बना और उसने अपने शौर्य के बल पर सप्तद्वीपों पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। वह राजा बडा ही नीति निपुण तथा राजोचित धर्म मे प्रवीण था और अन्य राजा के गुणों से सम्पन्न भी।

एक दिन राजा घोडे पर चढ़कर विन्ध्याचल के गहन वन मे मृगयार्थम् प्रविष्ट होकर अनेक पवित्र हिरनों का शिकार करता है। इसी क्रम मे एक शूकर घोडे की आहट पाकर घुरघुराता है। राजा के लिये यह एक चुनौती है और वह सदय शूकर के पीछे शर सधान करता है। किन्तु लाख निशाना साधने पर भी वह शूकर छल से अपने शरीर को बचा ही लेता है। अन्त मे वह एक ऐसे घन जगल मे चला जाता है जहा गज बाजि निबाह भी नही है पर राजा के लिये वह भी अगम्य नही। अब शूकर पर्वत की एक ऐसी गहरी गुफा मे जा घुसता है, जहा पहुँचना नृप के लिये कष्टसाध्य ही नहीं असभव है। अब उसे वहाँ से परावर्तित होने के अतिरिक्त कोई अपर उपाय नही। किन्तु राजा की बुद्धि काम नहा करती वह दिग्भ्रमित हो जाता है। श्रमित शरीर पिपासा से आक्रान्त इधर-उधर जङ्गल मे घूमते हुये एक आश्रम की ओर वह जा निकलता है जहाँ एक कपटी मुनि जिसका राज्य प्रतापभानु द्वारा युद्ध मे पराजित होने के फलस्वरूप छीन लिया गया था साधु के वेश मे उसे मिलता है। किन्तु राजा उसे पहचान नही पाता यद्यपि वह तथाकथित महामुनि उसे पहचान लेता है। राजा उस महामुनि को मुवेष मे देखकर घोडे से उतरकर प्रणाम करता है और मुनि की इंगिति पर सरोवर से जलपान कर स्वस्थचित्त हो जाता है। सूर्यास्त होने को है अत निसा घोर गम्भीर बन पथ' मे नगर के लिये प्रस्थान करना उचित नहीं ' इस प्रकार मुनि की आज्ञा को "भलहि नाथ आयसु धरि सीसा" चरण वन्दि और भाग्य सराहकर वह वहीं ठहर जाता है।

अब मुनि से किंचित् निश्चित होकर राजा अपने को पुत्र मान तथा उसे पिता का सम्मान प्रदान कर उसका नाम तथा अन्य परिचय की पृच्छा करता है। मुनि भी मुस्कान वाणी मे दपगर्वित होकर अपनी अकिंचनता और वृद्धपना की अनेक कथाएँ कहता है। अपने को आदि सृष्टि के रचनारम्भ-काल मे अवतरित बतलाता है जिसका प्रात करना तदनन्तर मे

1—वही १६०। 2—मा० बा० १६८। 3—वही १५६।ख।

रसोइ घर म जान पर न तो वह भोज्य सामग्री ही मिलती है और न सूपकार का ही सधान हो पाता है। इस प्रकार वही कपटामुनि अनक राजाओ का पत्र द्वारा समवेत आक्रमण क लिये आमन्त्रित कर, प्रतापभानु को परिवार सहित समाप्त कर देता है। फलस्वरूप सत्यकेतु के कुल म कोई बचना नही—"विप्रशाप किमि होइ असाँचा।"

प्रस्तुत प्रसग म माया की अवास्तविकता तथा उसके प्रत्यक्ष जगत् मे वास्तविक प्रभाव का निरूपण हुआ है। किस प्रकार यह व्यक्ति को नाश के कगार पर ले जाकर एक धक्के क साथ क्षय की निश्चित स्थिति म विलीन कर देती है यही यहाँ उद्दिष्ट है।

निष्कर्ष

क—वडे वडे बुद्धिमान और नैतिक व्यक्ति भी विवश हो जाते है।[1]

ख—माया अपनी विक्षेप-क्रिया द्वारा वस्तु की वास्तविकता को आच्छादित कर देती है जिससे अन्य वस्तुओ म अन्य का भान होने लगता है।[2]

ग—कपट, छलना आदि माया का प्रत्यक्ष रूप है।[3]

घ—कामरूपता (मनानुकूल वेषधारण) इसकी अन्यतम विशेषता है जो वैदिक काल म चली आ रही है।[4]

ङ—यह सर्वप्रथम बुद्धि को भ्रमित कर देती है।[5] और विनाश क समय मनुष्य की बुद्धि विपरीत हो ही जाती है।

च—माया स भ्रमित हो जाने पर उसके समस्त परिवार का आक्रमण एक साथ होता है।[6] क्रोध मोह जिजीविषा की भावना विजय की भावना, एकच्छत्र राज्य की भावना आदि।

१—भूप विवेकी परम सुजाना।—मा० बा० १११।१ करइ जे धरम करम मन बानी।
—वही।

२—जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिअ अब स्वामी। मा०बा० १६०।१
तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखउ कोउ।—वही १६६।

३—तुम्हरे उपरोहित कहु राया। हरि आनब मैं करि निज माया॥ वही १६८।२
सब विधि तोर सवारब काजा। वही।

४—एवमस्तु कह कपट मुनि बोला कुटिल बहोरि।—वही १६६।
म एहिवेष न आउब काऊ।—वही १६८।२।
मैं धरि तासु वेष सुनु राजा। सब विधि तोर सवारब काजा॥

५—म आउब सोइ वेष धरि पहिचानेहु तब मोहि—वही १६६।
ले राखेसि गिर खोह महु माया करि मति भोरि।—वही १०१।
नृप हरषेउ पहिचानि गुरु भ्रम बस रहा न चेत।—वही १०२।

६—राजा का प्रथम शूकर के प्रति क्रोध र पीछे घूमना, मुनि से अपनी समस्त कामनाओ की पूर्ति हेतु याचना करना, आदि माया भ्रमित बुद्धि का परिणाम है।

४—जननी-कौशल्या का माया-दर्शन

विषय

क—स्तुति विमुख जनन कर कारा । कवन सकै सब बंधन छोरा ।[1]
ख—सचराचर देख के गात । सो माया प्रभु सो भय नात ।।[2]
ग—भृकुटि विलास नचावै ताही । अस प्रभु छाडि भजिअ कहु काही ।।[3]

आधार

क—व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ।।[3]
ख—इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मति भ्रम मोर कि आन बिसेखा ।[4]
ग—देखी माया सब बिधि गाढ़ी । अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ।।[6]
(घ) देखा जीव नचावै जाही । देखी भगति जो छोरइ ताही ।[7]

आख्यान

एक समय राम-जननी कौशल्या बालक श्री राम को नहलाकर पालने पर लिटा देती है और स्वयं अपने कुल के इष्टदेव भगवान् की पूजा-अर्चना के लिए स्नान करती हैं। पूजोपरान्त नैवेद्य अर्पित कर वह रसोई घर में जाती हैं तो देखती हैं श्रीराम भोजन करते हुए मिलते हैं। माता भयभीत हो कर पुनः पालने में सुत बच्चे के पास जाती है वहाँ वही बालक सुषुप्तावस्था में मिलता है। पुनः पूजा स्थान में आने पर वही बालक नैवेद्यादि का उपभोग करता दृष्टिगत होता है। अब जननी के विस्मय विमुग्ध मन का धैर्य समाप्त हो जाता है। वहाँ उन्हीं दो बालकों को देखकर वे यह नहीं समझ पाती कि यह उनकी बुद्धि का भ्रम है अथवा किसी इन्द्रजाल का परिणाम। यह देख कि जननी निश्चित रूप से घबरा गई हैं श्रीराम मधुर मुस्कान से हँस देते हैं और उन्हें अपने अद्भुत अखण्ड रूप को वह झाँकी दिखलाते हैं जिसके एक-एक रोम में अगणित रवि ससि सिव चतुरानन पर्वत सरिता समुद्र पृथ्वी काल-कर्म-गुण ज्ञान लगे हुए हैं और वैसी वस्तुएँ भी जिन्हें न किसी ने देखा है और सुना ही है। वे सब प्रकार से बलवती माया का दर्शन करती हैं जो प्रभु के सम्मुख अत्यंत भयभीत हाथ जोड़े खड़ी रहती है। जीव जिसे वह माया नचाती है और भक्ति जो उस जीव को माया बंधन से निष्कासित करती है। इन सभी चीजों को देखकर कौशल्या का शरीर पुलकित हो जाता है और मुख से वाणी नहीं निकलती। वे आँखें मूँद लेती हैं और प्रभु श्रीराम के चरणों में नत मस्तक हो जाती है। उनसे स्तुति नहीं की जाती तथा इस बात से वे पूरी तरह से संत्रस्त हैं कि उन्होंने जगत्पिता को पुत्र समझ लिया

१—मा० बा० १९९।२ । २—वही १९९।२ । ३—वही १९९।२
४—वही १९८ । ५—वही २००।४ । ६—वही २०१।२ ।
७—वही २०१।२ ।

है। श्री हरि पुनः बाल-रूप होकर इस बात को किसी से नहीं कहने के लिए आग्रह पूर्वक जननी को समझाते हैं। अन्त में कौशल्या प्रभु से यह विनती करती है कि 'हे प्रभो आपकी यह दुरत्यया-माया अब मुझे कभी भी न व्यापे।"

ठीक इसी प्रकार का वर्णन श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के नवें अध्याय में मार्कण्डेयजी का मायादर्शन शीर्षक में मिलता है। इसमें एक दिन मार्कण्डेय मुनि भगवान् के दर्शन के पश्चात् उनसे यह जिज्ञासा करते हैं— 'हे कमलदल लोचन ! मैं आपकी उस माया का दर्शन करना चाहता हूँ जिससे मोहित होकर लोकपालों के सहित यह सम्पूर्ण लोक सत्य वस्तु (ब्रह्म) में भेद देख रहा है।'[1] इस पर भगवान् 'बहुत अच्छा' कहकर चल देते हैं।

एक दिन मुनि सन्ध्या काल में पुष्पभद्रा नदी के तट पर उपासना में लीन बैठे हैं कि एकाएक प्रचण्ड पवन चलने लगता है और उसके पीछे भयंकर बादल उमड़ आते हैं। भीषण जलप्लावन प्रारम्भ हो जाता है। उस जल-वृष्टि के पश्चात् सम्पूर्ण भूमण्डल समुद्र में परिवर्तित हो जाता है और मुनि अपार तरंगावर्तों से घूमते हुए दुस्तरणीय अन्धकार में गिर जाते हैं और उस प्रलय समुद्र में सैकड़ों हजारों वर्ष तक भटकते रहते हैं।[2] इसी प्रकार एक दिन उस प्रलय में घूमते-घूमते एक वट वृक्ष के पत्र-पुट में वे एक बालक को सुप्तावस्था में देखते हैं जिसके शरीर में तड़ित विनिन्दित प्रभा-प्रादुर्भासित हो रही है।[3] उस बालक के दर्शन मात्र से मुनि का सारा परिश्रम जाता रहता है। इस पर ये कुछ उससे प्रश्न करना चाहते हैं उसी समय वह बालक एक विचित्र श्वास लेता है और वे उसके उदर में चले जाते हैं। वहाँ उन्हें आकाश, स्वर्ग, पर्वत, देवता, आश्रम, ऋषिगण सभी विचित्र रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार समस्त संसृति दर्शन के पश्चात् श्वास छोड़ते ही बाहर निकलने पर वे पुनः प्रलय समुद्र में गिर पड़ते हैं। तदनन्तर भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं और सारा जड़ जगत् अपने तद्वत् रूप में स्थापमान हो जाता है। अन्ततः जननी कौशल्या की भाँति मार्कण्डेयजी भी उसी प्रकार प्रार्थना करते हैं— हे हरे ! बड़े बड़े ज्ञानी भी जिनकी माया से मोहित हो जाते हैं उन आपके शरणागतों को अभय देने वाले चरणकमलों की मैं शरण लेता हूँ।[4]

परिणाम और निष्कर्ष की दृष्टि दोनों कथाओं में अद्भुत समानता है जिसमें

१—श्रीमद्भागवत १२।९।६।

२—अयुतायुत वर्षाणां सहस्राणि शतानि च।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णु माया वृतात्मनः ॥ श्रीमद्० १२।९।१९।

३—स्वरोदसी भगणानद्रिसागरान् द्वीपान् सवर्षान्ककुभः सुरासुरान्।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान् खेटान्व्रजानाश्रम वर्ण वृत्तयः ॥—वही १२।९।२८।

४—प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे।
यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया ॥—वही १२।१०।२।

माया के स्वरूप ज्ञान हो जाने और माया के सम्बन्ध तथा ईश्वर की माया शक्ति का विस्तृत विवेचन हुआ है।

निष्कर्ष

(क) माया रघुनाथ के इशारे पर कार्य करती है।[1]

(ख) जीव को भवबन्धन में डालने वाली यह माया ही है।[2]

(ग) भक्ति ही इस माया-बन्धन के उन्मूलन का एकमात्र आधार है।[3]

(घ) माया के कारण ही प्रभु विषयक भ्रम एवं ज्ञान का प्रसार होता है।[4]

(ङ) ब्रह्मा विष्णु महेश चन्द्रमा दिक्पाल माया जीव सभी के ऊपर राम का शासन है।[5]

(च) माया के स्वरूप ज्ञान के पश्चात् जीव भगवान् से माया से बचाव माँगता है।[6]

(५) सीता का माया द्वारा प्रति-वेष धारण कर सासु-सेवा कार्य

विषय

(१) लखा न मरमु राम बिनु काहूँ ।
माया सब सिय माया माहूँ ॥[7]

आधार

सीय सासु प्रति बेष बनाई ।
सादर करइ सरिस सेवकाई ॥[8]

आख्यान

जब भरत रामचन्द्र जी को मनाने के लिए अयोध्या से प्रस्थान करते हैं तो

१—देखी माया सब बिधि गाढ़ी । अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥—मा० बा० २०२।२

२—देखा जीव नचावइ जाही ।—वही।२ ।

३—देखी भगति जो छोरइ ताही । वही। ।

४—स्तुति करि न जाइ भय माना । जगत पिता मैं सुत करि जाना ।—वही २०२।४

५—अगनित रबि ससि सिव चतुरानन । बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ । सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥ —वही २०२।१ ।
तुलनीय बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला । माया जीव करम कुल काला ।
करि बिचार जियँ देखहु नीकें । राम रजाइ सीस सबही कें । मा० अयो० २५४।३ ४

६—बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि ।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ॥—वही २०२ ।

७—मा० अयो० २५२।२ ।

८—मा० अयो० २५२।१ ।

राजमहिषि, माताएँ भी उनके साथ लग जाती हैं। रामचन्द्र के आश्रम में पहुँचने के पश्चात् 'पितु क्रिया' करने के बाद व सभी अयोध्यावासी कुछ समय के लिए अरण्य स्थित पर्णकुटी के समीप ठहर जाते हैं। इस प्रसंग में गोस्वामी जी का कथन है कि सब लोग प्रतिदिन प्रसन्न होकर वन के चतुर्दिक विहार करने लगे हैं। उनके दिन पल के समान बीतते जा रहे हैं। सीताजी प्रत्येक सासु के लिए अपना पृथक्-पृथक् रूप धारण कर आदर पूर्वक उनकी समानभाव से सेवा करती हैं। एक व्यक्ति के लिये विभिन्न व्यक्तियों की समान भाव से सेवा करना कठिन कार्य है। सीता कदाचित् इसी कारण से माया का साहाय्य ग्रहण करती हैं। इसे कोई जानता भी नहीं। केवल इसका भेद श्रीराम को मालूम है। वास्तव में मायापति के अतिरिक्त अपर कोई माया का रहस्य कैसे जान सकता है? जितनी भी संसार में मायाएँ हैं वे सभी इन्हीं की माया के अन्तर्गत हैं। सीताजी सत्यमाया हैं। इनके भेद को जानना महाकठिन है। इसलिए जिनकी माया है वही जान पाते हैं। सीताजी इसी कारण सभी सासुओं को वशीभूत किये हुये हैं। सेवा की कला में पारंगत सीता काल व्यवधान से शिष्टता निभाने में अक्षम न हो सकी थीं जिसके फलस्वरूप अगली अर्द्धाली में "कुटिल रानि पछितानि अघाई" जैसा बाक्य कवि को कहने को मिलता है। प्रत्येक सासु माया के कारण यही समझती है कि वह इन्हीं की सेवा में सीता लगी हुई हैं। दूसरी सासु के पास वह फटकी तक नहीं। किसी को भी इस रहस्य का पता नहीं चलता कि प्रत्येक की सेवा में एक ही एक रूप लगे रहते हैं। सीता की वर्जित इसीलिए आदि सक्ति जेहिजग उपजाया ... सासु अस उपजहिं गुन खानी' आदि का अभिधान दिया है। इस प्रकार तुलसी ने माया द्वारा सीताजी का प्रतिविम्ब धारण कर अपना काम निकाल लिया है जिसमें का वट छोटे कहने अपराधु ... याय का ही समस्त श्रेय दिया जा सकता है। यह पाय रेखा द्वय में से किसी विशिष्ट को लघुसिद्ध करने के लिए एक की सत्ता अपशाहृत बिल्कुल समाप्त कर दिया जाने वाला नहीं परन्तु धवन पटल पर कृष्ण रेखाओं द्वारा अप्रतिम चित्र खींचने का प्रामाणिक प्रयास है।

निष्कर्ष

(क) सीता ही योगमाया हैं जिसमें संसार की समस्त मायाएँ निहित हैं।[1]

(ख) राम (मायापति) के बिना इस माया का मर्म अन्य नहीं जान सकता।[2]

(ग) माया की कामरूपता मनचाहा विपुल रूपधारण कार्य।[3]

(घ) माया द्वारा जन की वश्यता सम्पादन।[4]

१—माया सब सिय माया माहू।—मा० अयो० २५१।१

संसार की मायाएं—देव देवीमाया दैत्यमाया, निशाचरी-माया त्रिदेव माया आदि।

२—लखा न मरमु राम बिनु काहू।—मा० अयो० २५१।२।

३—सीय सासु प्रतिवेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई।—वही।१।

४—कुटिल रानि पछितानि अघाई।—वही ३।

६—भगवान राम द्वारा खर-दूषण के साथ युद्ध में माया-कौतुक

शूर्पणखा जब लक्ष्मण के लक्षण प्रथम से श्रुति नासिकाहीन हो जाती है तब वह निज रम्य निर्जितावर दूषण के यहाँ जाती है तथा उनके पौरुष को धिक्कार सुनाकर राम के साथ युद्ध करने को बाध्य करती है। अब सब राक्षस यह समाचार सुनकर सपक्ष कज्जल गिरि यूथा की भाँति झुण्ड के झुण्ड दौड़ते हैं। रामचन्द्र भी शत्रु को समीपस्थ देख अपनी जो दण्ड चढ़ा लेते हैं। प्रथम तो वे अरि जन उन्हें युद्ध-कला में अदीक्ष समझते हैं किन्तु रामचन्द्र के धनुष्टंकार को सुनकर वे बधिर हो ज्ञानशून्य हो जाते हैं तब शत्रु को सबल जानकर वे राक्षस विविध अस्त्रों की वर्षा करने लगते हैं। किन्तु राम का प्रत्युत्तर भी इस मैत्र में उन्हें आश्चर्य में डाल देता है। श्रीराम उनके अस्त्र शस्त्रों को तिल के समान काट देते हैं और भयंकर राक्षसों का संहार होने लगता है। किन्तु एक आश्चर्यजनक घटना भी वहाँ घटती है। कटने वाले योद्धाओं के शरीर सैकड़ों टुकड़ों में विभाजित हो जाते हैं फिर भी वे कपट और पाखण्ड के माध्यम से पुनः शरीर धारण कर मैदान में खड़े हो जाते हैं। बहुत से मुण्ड तो आकाशचारी हो रहे हैं पर उनके धड़ जमीन पर पद चालन क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं। फिर उनका समवेत प्रहार होता है। पर श्रीराम उनके कठिन प्रहार को सर्वथा असफल बना देते हैं। फिर भी राक्षसों की उस अनुपात में जीवन हानि नहीं होती। वे मृत्यु-पर्यन्त को प्राप्त होने के अन्य नाना प्रकार की बहुमयी माया में संलग्न दृष्टिगत होते हैं। देवता भी अब चौदह सहस्र प्रेतों से श्रीराम को अकेले जूझते हुए देखकर उनकी विजय पर आशंकित हो उठते हैं। ऋषि मुनियों को इस प्रकार भयभीत देख मायापति भगवान् एक विचित्र कौतुक करते हैं। कौतुक यह है कि शत्रु दल के सभी लोग एक दूसरे राम को देखकर उसमें युद्ध करते हुए लड़ मरते हैं।

इस युद्ध द्वारा तुलसी ने राक्षसी माया पर दैवी माया किस प्रकार कार्य कर सफलता प्राप्त कर सकती है यही दिखलाया है। गीतोक्त 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' की पताका आसुरी-माया की समकक्षता में सहस्रों गुना गुरुतर दृष्टिगत होती है।

निष्कर्ष

क—दैवी माया।[1] ख—आसुरी-माया।[2]

माया व्यापार दोनों द्वारा संभव पर एक सबल दूसरा अपेक्षाकृत दुर्बल।

१—सुरमुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करयो।
देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो। मा० आ० ८। हरिगीतिका।

२—महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस्र प्रेत बिलोकि एक अवध धनी॥—वही।

७—मायामृग द्वारा माया-सीता का छला जाना

विषय

पुनि माया-सीताकर हरना' (माया सीता तत्पश्चात् मृग माया विनिर्मितम्)
अ० रा०

आधार

क—तब मारीच कपट-मृग भयऊ।[1]
ख—सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर वेषा।[2]
ग—निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो धावा।[3]
घ—भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परै कि सोई।[4]

आख्यान

खर दूषन और त्रिसिरा के वध का समाचार पाने और भगिनी शूर्पणखा का श्रीविनासिकाहीन देखकर रावण के क्रोध का ठिकाना नहीं रहता है और वह भगिनी द्वारा इंगित उस नारी का हरण करने की प्रतिज्ञा से अभिप्रेरित होकर इस प्रस्ताव के साथ मारीच राक्षस को 'कपट मृग' छलकारी बनने का आदिष्ट करता है। यद्यपि मारीच उस निभाग्य-रावण को प्रथम अपना नकारात्मक उत्तर देता है किन्तु पश्चात् उसके हाथों की अपेक्षा अपनी मृत्यु को राम के हाथों में वरणीय और फलहेतुक समझकर उसके प्रस्ताव की स्वीकृति निविशंक हृदय से देता है। मारीच को अब कपट-मृग बनकर उस अरण्य में जाना पड़ता है जहाँ राम और सीता का निवास है। वह माया मृग अत्यन्त विचित्र है। उसने मणियों से रचित हेममय शरीर धारण किया है। इस "कछु बरनि न जाई" परम रुचिर तथा अंग प्रत्यंग हेममंडित 'सुमनोहर वेष' को देखकर सीता निरपेक्ष भाव से भगवान् के समक्ष उस मृग के चर्म की याचना करती है—"हे कृपानुदेव। इस हरिन की छाल अत्यंत सुंदर है।" माया पर माया का प्रभाव कैसे नहीं पड़ सकता है? प्रथम तो वह मृग सीता के समक्ष खड़ा रहता है किन्तु ज्यों ही श्रीराम उसे मारने का मन में दृढ़ प्रतिज्ञ होते हैं कि वह भाग चलता है। मायानाथ के सामने माया कैसे टिक सकती है? फिर भी अपनी लीला के लिए वे माया-मृग के पीछे दौड़ते हैं। वह छलकारी मृग कभी तो भगवान् के सन्निकट हो जाता है और कभी दूर भाग जाता है। कभी प्रकट होता है कभी छिप जाता है। माया की यह गति उसकी प्रकृति के अनुसार है। तथापि मायापति के समक्ष यह कौतुक कब तक चल सकता है? अन्त में श्रीराम उस 'तस्कर' कठोर बाण मारते हैं और वह मायावी भूलुंठित हो दीर्घ स्वर करने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होता है। इधर पुनः अप्रत्यक्ष रूप में सीता और लक्ष्मण दोनों पर उस मायामृग का प्रभाव

१—मा० अरण्य २३।१। २—वही २६।२। ३—वही २६।६
४—वही २७।४।

ख—राज्य कोश नगर और नारी ये सभी माया के अंग हैं। इनमें से एक ही जीव को पथभ्रष्ट करने के लिए अलम् है फिर चारों का क्या कहना ?[1]

ग—विषय वासनाओं के द्वारा सर्वप्रथम ज्ञान का नाश होता है।

घ—विषय के सदृश मद और दूसरा कुछ नहीं। यह मुनियों के मन में भी क्षणमात्र में मोह उत्पन्न कर देता है।[3]

ङ—प्रभु का क्रोध नर लीला हेतु है। जिसकी कृपा से मद और मोह छूट जाता है उसको स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है ?[4]

च—भगवान् की माया अतिशय प्रबल है वह बिना उनकी कृपा के नहीं छूटती।

छ—सुर नर मुनि सभी विषय के वश्य हैं।[6] (सुरेन्द्र जिन्होंने अहल्या के साथ संग किया, नर-मुनि—होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथपन मुनि विश्वामित्र—जो घृताची और उर्वशी के जाल में पड़ गये थे अथवा नारद जिनकी कथा पूर्वोल्लिखित है)।

ज—विषय वासनाओं के तीन अवयव स्वीकृत नारि नयन[7] घोर-क्रोध तथा लोभ पाश।[9]

झ—माया (विषयों की ममता आसक्ति) का त्यागकर परलोक सबन से ही भवजन्य रोग उन्मूलन। यह धारण करने का एक मात्र उपाय रघुनाथ जी के चरणों में अनुराग ही है।[10]

१—पावा राज कोस पुर नारी।—वही।
२—विषय मोर हरि लीन्ह ग्याना।— वही १८।४।
३—नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं। वही १६।८।
४—जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा। मा० कि० १७।३
५—अतिशय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जो दाया।—वही २०।१
६—विषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावर पसु कपि अति कामी।—वही २०।२
७—नारि नयन सर जाहि न लागा।—वही।
८—घोर क्रोध तम निसि जो जागा—वही।
९—लोभ पास जेहिं गर न बँधाया।—२०।५।
१०—तनि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका।
देह धरे कर यह फलु भाई भजिय राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुणग्य सोई बड़ भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी २३।५-८।

६—रावण में अपूर्व माया रूपी शस्त्र का बल

विषय

क—सही न जाय कपिन्ह कै मारी । तब रावन माया बिस्तारी ।[1]

ख—रावन हृदय बिचारा भा निसिचर संहार ।
मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करौं अपार ॥[2]

ग—प्रभु छन महुँ माया सब काटी ।
जिमि रबि उएँ जाहिं तम फाटी ।[3]

आधार

क—कपि महा मर्कट प्रबल, रावन कीन्ह बिचार ।
अंतरहित होइ निमिष महुँ, कृत माया बिस्तार ।[4]

ख—सो माया रघुबीरहिं बाँची । लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची ।[5]

ग—खगपति धरि खाए माया नाग बरूथ ।
माया बिगत भए सब हरषे बानर जूथ ।[6]

आख्यान

राम रावण के दुर्धर्ष समर में रावण कदाचित् बड़े बड़े सेनानायकों की मृत्यु के पश्चात् सबसे पीछे जाता है । जिन तीन स्थलों पर इसके द्वारा प्रचारित युद्ध का हम दर्शन करते हैं वह रावण जैसे दुर्मद व्यक्तित्व के दुर्भेद माया के प्रयोग का ही परिणाम है । सर्वप्रथम कपि-कुल द्वारा पस्त विध्वस्त हो जाने पर विजय का संपूर्ण हेतु वह स्वयं को ही मान लेता है क्योंकि दैवी शक्ति का उपभोग वह दुर्दैव वशात् नहीं कर सकता । स्वयं की शक्ति पर आधृत होकर जब वह प्रलयंकर युद्ध ठान देता है । दोनों ओर की वाहिनी में वीरों का क्षय उत्तरोत्तर की भाँति होता है । यद्यपि समरांगण में राम शर निकर से ही अधिक संहार होता है । रावण को अपनी पराजय किसी मूल्य पर स्वीकार्य नहीं । अतः निशिचर-संहार की दुर्योग आशंका में ग्रस्त होकर वह अपार माया संरचना में तल्लीन हो जाता है । वहाँ केवल सेना का ही संहार एकमात्र माया रचना का हेतु नहीं है प्रत्युत वह स्वयं कपि समूह में चतुर्दिक घिर गया है और उसपर दुर्मुट मार भी पड़ रहा है ।

रावण अपनी माया द्वारा समस्त सेना में राम लक्ष्मण उत्पन्न कर देता है । अब वानर सर्वत्र ऐसा देखकर डर जाते हैं और लक्ष्मण सहित चित्र लिखे से जहाँ के तहाँ गतिहीन खड़े हो जाते हैं । किन्तु उस माया का अल्प प्रभाव भी श्रीराम पर नहीं पड़ता ।

१—मा० लं० ८८।३ । २—मा० लं० ८८ । ३—वही ९६ ।
४—वही १०० । ५—वही ८८।४ । ६—वही ३४ ।

(घ) माया के विम्नार म जीव की दुख से ग्रसित स्थिति[1] तथा माया विगन हान पर उसकी प्रहृष्ट स्थिति।[2]

(ङ) राक्षमा म यह माया एक आमिक वृत्ति के रूप म।[3]

१०—राम रावण युद्ध मे मायास्त्र का पूर्णत प्रयोग

रावण वृत युद्ध म यह उल्लिखिन है कि किस प्रकार पराजय की स्थिति मे वह अपन अमाघ अस्त्र माया का प्रयोग करता ह। यद्यपि इसक प्रयाग स उसे किंचित् लाभ हाने नहा दृष्टिगत होता। केवल उससे क्षणिक अद्भुत चमत्कार और कुछ समय तक जीव का प्रताडन का ही अनुभव हाना है। विजय उसकी वशवर्तिनी हो जाता है। उधर राम एक बार कुपित नत्रो स देखन नही कि माया अदृश्य हो जाता है। सभव है गाम्वामी जी माया की अवाम्तविक्ता का ज्ञान करान क लिए ही ऐसा चित्रित किए हो। पर जो कुछ भी उनका उद्देश्य रहा हो राम-रावण युद्ध म माया का सत्ता एक शक्ति के रूप म उपलब्धि है। रावण के पूर्व उसके सनापति अकपन और 'अतिकाय' अपना सना को विचलित हान देख माया का विस्तार करते है। पलभर म सघन अधकार छा जाता है, रक्त पत्थर और राख का वर्षा हान लगता ह। दशा दिशाएँ ध्वात म आप्यायित हा जाता हैं। काई किसी का नहा दख पाता। सभी यत्र तत्र विस्मित होकर पुकार रह हैं। इसी समय इस रहस्य स परिचित भगवान् राम धनुष पर बाण रख माया विहिंसक उस अस्त्र पर सधान करते हैं। फलस्वरूप 'भयउ प्रकाश कतहु तम नाही' सर्वत्र प्रकाश का विस्फुरन हाता है।

तदनतर समरागण म मेघनाद की बारी आती है। वह एक विश्वविश्रुत प्रतिभट हैं। सयोगवशात् लडते लडते वह राम क समाप आ जाता है। एक तरफ विश्व विजेता राम और दूसरी ओर अलौकिक शक्ति सपन्न वीर मेघनाद। भगवान् राम पर वह सभी प्रकार का अस्त्र-शस्त्र चलता है किंतु उस विषमशील प्रकृति का कुछ प्रभाव उनपर नही पडता। अन्त म प्रभुजी का प्रताप दखकर विपण्ण मन हो, वह नाना प्रकार का माया व्यक्ति करता है। कभी वह विपुल विस्फुलिंग वमन करता है और कभी विष्ठा मवाद खून तथा अस्थियो स समन्वित वस्तुओ की वर्षा करता है। इस प्रकार उसकी दुर्दमनीय माया का देखकर वानर कुल विह्वल हो जाता

१—भए सकल बीर अचेत। वही १००।१।

२—माया विगत कपि भालु हरषे। वही १००।२। माया विगत भए सब हरषे बानर जूथ। वही

३—देखि महा मर्कट प्रबल रावन कीन्ह विचार।
अतरहित होइ निमिष महु कृत माया विस्तार।
अवघट घाट बाट गिरि कदर। माया बल कीन्हसि सर पजर।—वही ७२।३

ख—वानरों पर माया का प्रभाव और राम उन्हें देखकर हँस रहे हैं—
कपि अनुरागत मा[illegible] दबे । कौतुक देखि राम मुसुकाने ।[1]

ग—प्रभु द्वारा माया का उच्छेदन—'एक बान काटी सब माया' ।[2]

घ—प्रभु का कृपा प्राप्त व्यक्ति ही यह लीला जान सकता है—
'यह कौतुक जानइ सोई'[3]

११—गरुड का मोह तथा माया की अन्य [illegible] का वर्णन

विषय

क—महामोह उपजा उर तोरे । मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे ।[4]

ख—माया कृत गुन दोष अनेका । मोह मनोज आदि अविवेका ।
[illegible] व्यापि समस्त जग माहीं ।[5]

ग—माया बस कवि कोविद ग्याता ।
हरि माया कर अमित प्रभावा । बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ।।[6]

घ—व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड ।।
सो दासी रघुबीर के समुझे मिथ्या सोपि ।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि ।[7]

(ङ) ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार ।
केहि के लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार ।।[8]

(च) मायावस मतिमंद अभागा । हृदय जवनिका बहुबिधि लागी ।[9]

आधार

(क) गरुड़ महाग्यानी गुनरासी । हरि सेवक अति निकट निवासी ।[10]
(ख) सब में सो दुरलभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ।।[11]
(ग) मन महुँ करइ विचार विधाता । माया बस कवि कोविद ग्याता ।
हरि माया कर अमिति प्रभावा । विपुल बार जेहि मोहि नचावा ।[12]
(घ) तबहिं होइ सब संसय भंगा । जब बहु काल करिअ सतसंगा ।[13]
(ङ) प्रभु माया बलवंत भवानी । जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ।[14]

१—वही ५९।२ । २—वही ४ । ३—वही ५८।२ ।
४—मा० उ० ५८।४ । ५—वही ५६।२ । ६—वही ५९।२ ।
७—वही ७१ (क—ख) । ८—मा० उ० ७० । ९—वही ७२।४ ।
१०—वही ५८।२ । ११—वही ५३।४ । १२—वही ५९।२ ।
१३—वही ६१।२ । १४—वही ६२।४ ।

(च) ग्यानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवन पति कर जान।
 ताहि मोह माया नर पावर करहिं गुमान ॥
 सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
 अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ॥[1]

(छ) गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
 भयउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक ।[2]

(ज) तुम्ह निज मोह कही खग साईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं ।[3]

(झ) मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।
 तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ।[4]

आख्यान

श्रीराम-रावण युद्ध में एक समय मेघनाद ने श्रीराम को नागपाश में बाँध लिया था तब नारद की आज्ञा से गरुड़ उस समर भूमि में गये थे और उन्होंने बंधन काटकर प्रभु को उससे मुक्ति दिलाई थी। तब से उनके मन में एक प्रबल संदेह ग्रंथि पड़ गई थी कि जो व्यापक ब्रह्म विरज वागीश। माया मोह पार परमेश है उन्हीं राम को राक्षस ने नागपाश में बाँध लिया। इस प्रकार अनेक प्रकार से मन को प्रबोध देने पर भी उनके भ्रम का उच्छेदन नहीं होता और दुखित हृदय से मन में कोटि कल्पना करने लगते हैं। व्याकुल गरुड़ की संशयात्मकता पर नारद को समानधर्मा होने के नाते बड़ी दया आती है और वे राम की माया की प्रबलता का बहुविध वर्णन कर तथा उनके उच्छेदन सम्बन्धी बातों में अपनी असमर्थता प्रकट कर उन्हें ब्रह्मा के पास भेजते हैं। ब्रह्मा स्वयं इस माया के प्रभाव के भुक्तभोगी हैं। स्वयं माया ने इनको अनेक बार नचाया है। हरि माया का प्रभाव असीम है। यह उनके अधिकार के बाहर की बात है। अतः वे शंकर के यहाँ जाने की सलाह देते हैं। शंकर उन्हें बीच मार्ग में मिलते हैं और हरि-कथा श्रवण को ही इस व्याधि की महानतम औषधि बतलाते हैं— तबहिं सुनत सकल संदेहा, रामचरन होइहि अति नेहा। वस्तुतः बिना सत्संग से हरि कथा सुलभ नहीं होती और उसके अभाव में अज्ञानतम का नाश सम्भव नहीं। अज्ञान के विनाश के बिना श्री राम के चरणों में सुदृढ़ प्रेम का उदय हो ही नहीं सकता। काकभुशुंडि इस राम भक्ति-पथ में परम प्रवीण ज्ञानी गुन गृह तथा बहुकालीन हैं। अतः शंकर गरुड़ को उन्हीं के पास जाने का सुझाव देते हैं। गरुड़ आदेश पाकर श्री भुशुण्डि के निवास पर जाते हैं जहाँ सकल सभा के समक्ष रामचन्द्र की कथा का आरम्भ होने वाला है। किन्तु उन्हें देखकर काक समाज सहित उनका सम्मान करते हैं और आने का कारण पूछते हैं। तब गरुड़ उन्हें अपने संशयोच्छेदन सम्बन्धी जिज्ञासा को प्रस्तुत करते

१—वही ६२ क-ख २—वही ६८ क। ३—वही ६९।३।
४—वही ६९।४।

हैं। अब राम का कथा आद्य न आरम्भ होती है और गरुड यह स्वाकार करत हैं—'गयउ मोर सन्देह सुनेउ सकल रघुपति-चरित' इस प्रकार गरुड का सन्देह समाप्त हो हो जाता है और राम के चरणा म अनुपम प्रेम हो जाता है।

निष्कर्ष

(क) इस ससृति के दृष्ट गुण दोष सवथा मायाकृत हैं।[1]

(ख) माया से प्रेरित जाव सदा काल के आवत्त म फिरता रहता है।[2]

(ग) नानाभाव मे भ्रम का अतिरक्त निसग सिद्ध है।[3]

(घ) राम की माया अत्यन्त प्रबल है। वह ज्ञानिया के चित्त का आकृष्ट कर उनके मन को जबदस्ती मोहित कर बहुविध नचाती है। कवि कोविद और ज्ञानी सभा उसी के वश म।

(ङ) अज्ञान को दूर करने के लिये राम के चरणा म अन यप्रेम का प्रथम आवश्यकता है। यह अज्ञान हरि कथा के श्रवण-मात्र स समाप्त हो जाता है। हरि कथा के लिये सत्सग आवश्यक है।[4]

(च) ससार मे ऐसा कोई नही जिस पर माया का प्रभाव न पडा हो।[5]

(छ) बिना मायापति भगवान् के भजन बिना माया स पार पाना असम्भव है।[6] 'अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।'

(ज) प्रभु भक्ता की परीक्षा माया के पाश म भली-भाँति आबद्ध कर लिया करते हैं।

(झ) माया परिवार का अमित रूप अपने अग-अग रूप म जाव का नचाने के लिये पर्याप्त है।[7]

(१०) काक-भुशुण्डि का माया द्वारा स्वय विमोहित होना तथा तद्स्वरूप का वर्णन

विषय

(क) जेहि विधि मोह भयउ प्रभु मोहा। सो सब कथा सुनावौं तोहा।[8]

१—सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक।—मा० उ०।
२—फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कम सुभाव गुन घेरा। मा० उ० ४३ ३।
३—प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा। वही ५८।८।
४—सुन खग प्रबल राम के माया वही ५८।२।
५—बिनु सतसग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
माह गए बिनु रामपद होइ न दृढ अनुराग।—वही ६१।
६—प्रभु माया बलवत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी।—वही ६२।८।
७—मह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा। वही ७०।४।
८—मा० उ० ७३।१।

मुझे मातृपुत्र दिखाकर वशीभूत करना चाहते थे। जब वे हमारे समीप आते तो हास्य करते और जब मैं भाग जाता तो रोने लगते। जब मैं उनके चरण स्पर्श करने के लिये समीप जाता तो वे पुनः पीछे मुड़कर भाग जाते। इस प्रकार साधारण बालकों की सी लीला को देख मुझे मोह हो गया कि सच्चिदानन्द धन प्रभु जी यह कौन सी लीला कर रहे हैं? इतना सोचते ही रघुनाथ जी द्वारा प्रेरित माया उन पर व्याप्त हो गई। किन्तु वह माया अन्य जीवों की भाँति संसार चक्र में डालनेवाली और दुःखदायिनी नहीं हुई। इसी प्रकार लीला करते हुए एक दिन श्रीराम उन्हें पकड़ने और ताना के वन पकड़ने के लिये दौड़े। तब काक भाग चले। किन्तु विचित्र बात यह थी कि आकाश में जहाँ भी उड़कर जाते थे हर जगह प्रभु की भुजाएँ समीपस्थ जान पड़ती थीं। काक ब्रह्मलोक तक जाते हैं। किन्तु उनके और प्रभु के मध्य दो अंगुल का ही व्यवधान दृष्टिगत होता है। इस प्रकार 'सप्तावरण भेद'' कर जहाँ तक काक की गति थी जाने पर पूर्ववत् अवस्था देखकर भ्रमित हो, काक आँखें मूँद लेते हैं और ऐसा करने से वे अयोध्यापुरी पहुँच जाते हैं। वहाँ उन्हें देखकर राम मुस्कुराने लगते हैं और हँसने से काक सहसा उनके मुख में प्रविष्ट कर जाते हैं। फिर उदरमध्य अनेक ब्रह्माण्ड दिखाई पड़ते हैं। 'कोटि ब्रह्मा और शिव अगनित उडुगन रवि रजनीसा ... सागर सरि सर विपिन अपारा' तथा 'नाना भाँति सृष्टि विस्तारा' दिखाई पड़ता है। वहाँ वे एक एक ब्रह्माण्ड में एक एक सौ वर्ष निवास करते हैं तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में रामावतार की अपार लीलाएँ देखते हैं। इस प्रकार 'मोह कलिल व्यापित मति' से वे यह सब दो घड़ी में ही देखते हैं और विशेष मोह से मन थक जाने पर प्रभु पुनः हँस देते हैं और काक, मुख से बाहर आ जाते हैं। अब काक अत्यन्त डर जाते हैं और 'त्राहि त्राहि आरत जन त्राता' की प्रार्थना करते हैं। तदनन्तर 'कर सरोज' उनके सिर पर रखकर भगवान् उन्हें शीघ्र ही मोह से मुक्त कर देते हैं। काक अनेक प्रकार से प्रार्थना करते हैं और प्रभु उन्हें "अनिमादिक सिधि अपर रिधि' वर माँगने की आज्ञा देते हैं। किन्तु भक्ति के बिना सब कुछ निरर्थक है अतः वे 'अविरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव' उसी भक्ति को वे राम से माँगते हैं—

'सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।'

प्रभु उन्हें 'एवमस्तु' कहकर यह वरदान देते हैं कि 'माया सम्भव भ्रम सकल, अब न व्यापिहहि तोहि।''

निष्कर्ष

(क) रामजी के एक बार अपनाने के बाद पुनः माया का कभी आक्रमण नहीं होता।[1]

(ख) सगुण के ध्यान पर ही मन में माया का उद्रेक होता है।[2] काक, गरुड़ नारद सती कौसल्यादि के उदाहरणों में ऐसा सिद्ध है।

१—तब ते मोहि न व्यापी माया। जब तें रघुनायक अपनाया। मा० उ० ८८।२।

२—प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।—वही ७७।

भी सृष्टि के जैसी भावना थी वह माया है। डा० उदयभानु सिंह के मतानुसार तुलसी पूर्व भारतीय वाङ्मय में 'माया' शब्द का व्यवहार शक्ति, शक्ति का भाव, इन्द्रजाल की शक्ति, कपट प्रज्ञा, मिथ्याचार, रहस्यमयी देवशक्ति, योगशक्ति, मोहकारिणी शक्ति, मोहकारिणी अनादि प्रकृति, जगत् का वैचित्र्य, अविद्या, अविद्या कार्य, भ्रान्ति या भ्रान्ति कारिणी रचना आदि विविध अर्थों में हुआ है।[1] इन उक्त अर्थों के उदाहरण ऋग्वेद, श्वेताश्वतरोपनिषद्, महाभारत, गीता, गौडपादकारिका, विवेकचूडामणि, कबीर वचनावली तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् से लिए गये हैं। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रबन्ध में कबीर और सूर के विवेचन क्रम में माया के अन्य विशिष्ट अर्थों की ओर भी इंगित किया गया है।

तुलसी-साहित्य में माया शब्द का प्रयोग अपेक्षया बाहुल्यता के साथ हुआ है। संस्कृत-हिन्दी-साहित्य और दर्शन के ग्रन्थों में उतना प्रयोग कदाचित् नहीं मिलता। केवल इसकी समकक्षता में इस दृष्टि से वेद तथा श्रीमद्भागवत ही आ सकता है। वैसे केवल रामचरितमानस में लगभग दो सौ स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग हुआ है। विनय पत्रिका के पचास से अधिक पदों में यह शब्द आया है (जिसकी चर्चा की जायगी) तुलसीदास ने भी 'माया' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया है। सर्वप्रथम बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपने शोध प्रबन्ध 'तुलसी दर्शन' में इसकी आवश्यकता अपनी ओर निम्नलिखित शब्दों में ध्यान आकर्षित किया था— ब्रह्म, शिव, ईश्वर, ज्ञान, विज्ञान, विवेक, माया, अविद्या, अज्ञान, अविवेक, महामोह, विरति, वैराग्य, कर्म, धर्म आदि शब्दों का गोस्वामी जी ने किन स्थलों में किन अर्थों में प्रयुक्त किया है, यह स्वतन्त्र ही एक अनुसंधान का विषय हो सकता है"।[2] यहाँ उनके द्वारा गिनाए गये अनेक शब्दों में केवल माया शब्द ही हमारा विवेच्य है। इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अवश्य ही यह शब्द विविध भिन्नार्थों में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इस शब्द का प्रयोजनार्थ-कार्य अन्य शब्दों से भी चल जा सकता था। यद्यपि इसके पीछे भक्त कवि की भक्ति विषयक विविध दृष्टि तथा मायिकताओं की शृंखला थी, जिसका निर्वाह समूचे काव्य में करना पड़ा है। वस्तुतः सिद्धान्त और अर्थवाद दो क्षेत्र हैं जिनके भेद न समझने के कारण गोस्वामीजी की अनेक उक्तियों को लेकर लोग परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं।

सामान्यतः माया वह शक्ति है जो अघटित घटना पटीयसी तथा विचित्र कार्यकरण शाली है और जिसका निश्चयात्मिका प्रतीति अथवा निरूपण मानव बुद्धि के लिए अत्यन्त दुस्साध्य है क्योंकि उक्त शक्ति का कार्य यह प्रपंचात्मक विश्व भी माया ही है। तुलसी साहित्य विशारदों ने इस कारणकार्य रूपा 'माया' के अनेक अर्थों की ओर संकेत किया है। सर्वप्रथम इस दृष्टि से 'तुलसी शब्द सागर'[3] की चर्चा आवश्यक

१—तुलसी-दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानु सिंह पृ० ८२।

२—तुलसी दर्शन—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र पृ० ३३०

३—तुलसी-दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानु सिंह, पृ० ८२।

मोहकारिणी शक्ति, लक्ष्मीदुर्गा, प्रज्ञा, कृपा लीला करामात, धन दौलत, ममता, मतासक्ति, पुत्र कलत्रादि मे राग, आदि अर्थों को अ तर्विष्ट किया है।[1]

तुलसी साहित्य और उनमे विशेषकर 'मानस' म विभिन्न स्थलो क अनुरोध से 'माया' शब्द द्वारा निम्नलिखित अर्थ निकाल जा सकते ह—

शक्ति (ईश्वर का रा क्षसो की)
मोह (विषयो का मोह)
मद-माया
करुणा दया
छलपूर्ण रचना, छल, नखरा,
पाखण्ड,
जादू इन्द्रजाल,
धूर्तता,
कपट,
स्वार्थ
वस्तु विपरीतता
अज्ञान
भुलावा,
अविद्या
जीव को आबद्ध करने वाला पाश

इनक अतिरिक्त भी शाब्दिक अर्थ लगाया जा सकता ह किन्तु यहाँ सबको इन्ही उक्त अर्थों म अन्तर्भूत कर दिया गया है। तुलसी न जीव की कोटियो की भाति माया की कोटियाँ निर्धारित की है। यथा—

देव—माया
असुर—माया
नर-माया
नित्य-माया

इसके अतिरिक्त माया का विभिन्न मानव मनोवृत्तियो क आधार पर विभाजन तथा नामकरण किया गया ह। इसम माया परिवार क सदस्यो का भी उल्लेख है।

माया के रूपो म—माया का नारी रूप तथा माया से मनुष्य रूप होना का उल्लेख हुआ है।

माया परिवार म—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की भी चर्चा है। इसक अतिरिक्त माया शब्द का प्रयोग भगवान् राम के प्रार्थना क्रम म उनके ब्रह्मत्व क उद्घोष

1—प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य।

तृष्णा का कारण उस वस्तु के प्रति मोहाकर्षण ही होता है। पुनः इसी स्थल पर आगे कहा गया है —

> सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।
> माया बस न रहा मन बोधा॥[1]

माया मनुष्य को मूढ़ बना देती है। वस्तुतः नानाभाव के कारण ही मूढ़त्व का आक्रमण होता है 'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई।'[2] अब जिस वस्तु के प्रति मोह का आकर्षण हो गया वह प्राण से भी प्रिय हो जाता है और उसको दूर ले जाने वाला अथवा उसे पृथक करने वाला व्यक्ति "अतिक्रोध" का भाजन बनता है। गीताकार ने यह स्पष्ट कहा है —

> क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[3]

यह क्रोध विषय सम्बन्धी आकर्षण का परिणाम है। गीता की अपर-उक्ति साक्षी स्वरूप द्रष्टव्य है —

> ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
> सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥[4]

विषय वासना का आलम्बन नारी है और कवि के शब्दों में मोह विपिन कहँ नारि बसन्ता' है। इस प्रकार नारद का मोह तत्तत् भावनाओं से अनुप्राणित है। किष्किन्धा-काण्ड में सुग्रीव के विषयासक्त होने के फलस्वरूप रामकाज की सुधि न होने के प्रभाव में उन्हीं के शब्दों में "अतिसय प्रबल देव तव माया" के साथ नारि नयन सर जाहि न लागा का भी है। क्योंकि विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी तथा 'मृगनयनी के नयन सर को अस जाहि न लाग" की मान्यता सर्ववादि सम्मत है। रामचरितमानस का उद्देश्य भी 'माया मोह और मल का अपहरण कर विज्ञान और भक्ति प्रदान करना है। यहाँ माया और मोह दोनों एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। मानस के अंत में गोस्वामी जी कहते हैं 'मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्' इसीलिए मानस 'विज्ञान भक्तिप्रद' भी है। गीता के अंत में, अर्जुन का मोह जो निज परिजनों को युद्ध में एकत्रित देखकर होता है उसकी समाप्ति 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' की आत्म-स्वीकृति द्वारा हो जाती है। अतः प्रसंग प्राप्त स्थानानुरोध की दृष्टि से यहाँ माया का अर्थ मोह लगाना उचित जान पड़ता है — नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं।'[5]

मद-माया

यों तो मद माया परिवार का ही एक सदस्य है किन्तु इसकी सत्ता पृथक भी

१—मा० बा० १३५।३। २—मा० उ० ५१।४। ३—गीता २।६३। ४—वही २।६२। ५—मा० कि० १६।४।

कि तु वह तो धुएँ का धरहरा मात्र था धाम की टम्टा थी। दूसरा स्थल है सुन्दर काण्ड मे वारिधि स्थित उस निशिचरी के कार्य का जो छल से आकाश म उडते हुए पक्षियो को पकडा करती थी। 'निसिचर एक सिंधु महुं रहई। करि माया नभ के खग गहई।'[1] यहाँ माया का प्रयोग छल क अर्थ म हुआ है। आगे कवि का कथा भी है साफ छल स्वभाव कहता है। ऐसे स्थल पर माता राम द्वारा प्रेषित मुद्रिका को पहचानकर उसका अ यत्र निर्मित नाय के अमभवनीयता व्यक्त करता है—

जानि का मनै अजय रघुराई। माया ते अस रचि न जाई।[2]

प्रस्तुत चौपाई म दो बात उल्लेख्य है। पहला तो यह कि उस छल म जीलकर यह अगूठी मेरे पास तक लाने म कोई समर्थ नहीं और दूसरे कि (माया से) छल से ऐसी अगूठी बनाई नहीं जा सकती।

लकाकाण्ड मे अपन अरि राम का विजय स आकुल होकर अनेक स्थलो पर रावण छल-कपट का आश्रय ग्रहण कर युद्ध का नृत्य करता —

तब रघुवीर प्रचारे धाए कीस प्रचण्ड।
कपि दल प्रबल देखि तेहि कीन्ह प्रगट पाखंड॥[4]

बालकाण्ड म सत भवा न भी उस छ रूपण स्थल का दिग्दर्शन किया था जिसम सीता के साथ राम जान हुए दिखाई पड रहे थे। यद्यपि वे उस समय जानकी से नियुक्त 'महा-विरही' वे रूप मे थे।

अयोध्याकाण्ड म कैकयी की वर-याचना के पश्चात् जब दशरथ 'एवमस्तु' कहकर प्रस्तुत वचन स मुकरना चाहते है इस पर कैकेयी की उक्ति है—'करहु करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउर माया।' अब रानी कौशल्याजी की ओर से राम की सफाई म दशरथ द्वारा उच्चरित किसी तक को सुनना नहीं चाहती। इसीलिए वह कहती है कि तुम कोटि उपाय क्यो न करो यहाँ तुम्हारी माया नहीं लगेगी। राजा दशरथ भरत को राज्य देने को कहते है, भरत को राम के समान प्रिय बतलाते हैं, पुन राम के वियोग म अपना मरण सुनाते है। इस प्रकार राम को घर मे रखने के लिए ये सब उनकी माया है। वे कभी उसम 'मागु विचारि विवेकु' की बात भी कहते हैं जिसका प्रभाव कैकयी पर अत्यन्त भी नहीं पडता। हम तो म थरा भली भाति सिखा दे चुकी है। छलो को उल-छद्म न जान पाने पर ही माया का आक्रमण होता है। कि तु कैकयी इन सभी बातो म पूर्णतया अवगत है।

जादू, इन्द्रजाल

बालकाण्ड में प्रतापभानु को छलने वाले कपटी मुनि ने विविध प्रकार के अगणनीय

१—मा० सु० २।१। २—वही २।२। ३—वही १३।२।
४—मा० लं० ६६

आनि न नाय निशाचर माया । कामरूप केहि कारन आया ।[1]

क्योंकि वह भेद लेने आ सकता है, रहस्य को जानकारी के लिए आ सकता है। शत्रु का मित्रवत् आचरण करते हुए प्रथम के शिविर की ओर जाना उसकी धूर्तता का ही परिचायक है। वैसे समर में अत्यधिक धूर्तता की अपेक्षा होती है जिसमें लक्ष्य पर (विजय) ही अधिक ध्यान दिया जाता है साधन पर कम। इतिहास के पृष्ठ उक्त मार्ग के दुष्परिणाम और सुपरिणाम के सपोषक हैं। राजनीति और रणनीति में इसकी महत्ता अक्षुण्ण है। रावण की सेना के विश्रुत शूर-वीर भी अनेक प्रकार की माया में निपुण हैं। प्रत्युत सभी युद्ध न युद्ध जानते ही हैं—"समर सूर जानहिं सब माया"। वाल्मीकि रामायण में भी शम्बर को सैकड़ों माया जानने वाला बताया गया है—"स शम्बरिति स्यात शतमायो महासुर' तथा पुन आसुर्या शम्बर माया नम्ब असुराधिप।"[2] इस प्रकार लामा, कपटी, दम्भी तथा अनेक छद्म वेष धारियों के हृदय में भी राम का निवास नहीं होता। असुर निकाय कदाचित् इसी से श्रीराम का जन्म जात विरोधी है जो माया नहीं जानता, जिसमें धूर्तता नहीं है वही श्रीराम का प्रिय है और वही उनका भक्त है। राक्षस-कुल इसके विपरीत पड़ता है।

कपट

चित्रकूट में भरतागमन के साथ भी माताएँ भी उनके साथ जाती हैं। सीताजी प्रत्येक सासु के लिए अपना पृथक्-पृथक् रूप धारण कर आदरपूर्वक उनकी सेवा एक-सी करती हैं। इस भेद को राम के सिवा कोई नहीं जानता—"लखा न मरमु राम बिनु काहू। माया सब सियमाया माहू।"[3] इस तरह के प्रतिवेष धारण करने वाली नारियों को कवि ने अनेक स्थलों पर "कपट नारि वर वेष बनाई" जिनमें रमा आदि भी आती हैं ये नारियाँ कपट वेष धारण कर अयोध्या में अपना अड्डा जमाए हुई हैं। इसी प्रकार जनकपुर में बारात के आगमन पर तथा 'अरण्य काण्ड' में अग्नि में गुप्त होने के समय भी इसी प्रकार की बात कही गई है—

"निभृत-भेद कुछ कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना"[4]
गोस्वामीजी ने मायामृग को भी कपट-मृग कहा।
होहु कपट मृग तुम्ह छल कारी। जेहि बिधि हरि आनउ नृप नारी।[5]

इसमें उस राक्षस की तीन वृत्तियाँ मुखरित हुई हैं—छल करना, छल से कपट मृग बनना और कपट मृग बनकर विविध रुचिर रूपों का धारणत्व। इसी प्रकार बालकाण्ड में भानुप्रताप को छलने वाला मुनि भी कपटी प्रमाणित होता है। जिसने अपनी मायामयी मूर्ति से नृप को इस प्रकार छला कि वह रसातल को ही चला गया। वह

१—मा० सु० ४२।३। २—वाल्मीकि रामायण अयो० १३।३५।
३—मा० अयो० २५१।२। ४—मा० बा० ३०६।१। ५—मा० अ० २४।६।

जानि न जाय निशाचर माया । कामरूप केहि कारन आया ।[1]

क्योंकि वह भेद लेने आ सकता है, रहस्य की जानकारी के लिए आ सकता है । शत्रु का मित्रवत् आचरण करते हुए प्रथम के शिविर की ओर जाना उसकी धूर्तता का ही परिचायक है । वैसे समय में अत्यधिक धूर्तता की अपेक्षा होती है जिसमें लक्ष्य पर (विजय) ही अधिक ध्यान दिया जाता है साधन पर कम । इतिहास के पृष्ठ उक्त मार्ग के दुष्परिणाम और सुपरिणाम के सपोषक हैं । राजनीति और रणनीति में इसका महत्ता अक्षुण्ण है । रावण की सेना के विश्रुत शूर-वीर भी अनेक प्रकार की माया में निपुण हैं । प्रत्युत सभी कुछ न कुछ जानते ही हैं—"समर सूर जानहिं सब माया" । वाल्मीकि रामायण में भी शम्बर को सैकड़ों माया जानने वाला बताया गया है— "स शम्बरिनि ख्यात शतमायो महासुर तथा पुन आसन्या शम्बरे माया मन्त्र असुराधिपे ।"[2] इस प्रकार लोभी, कपटी, दम्भी तथा अनेक छद्म वेष धारियों के हृदय में भी राम का निवास नहीं होता । असुर निकाय कदाचित् इसी से श्रीराम का जन्म जात विरागी है जो माया नहीं जानता, जिसमें धूर्तता नहीं है वही श्रीराम को प्रिय है और वही उनका भक्त है । राक्षस-कुल इसके विपरीत पड़ता है ।

कपट

चित्रकूट में भरतागमन के साथ भी मातायें भी उनके साथ आती हैं । सीताजी प्रत्येक सासु के लिए अपना पृथक-पृथक् रूप धारण कर आदरपूर्वक उनकी सेवा एक-सी करती है । इस भेद का राम के सिवा कोई नहीं जानता—"लखा न मरमु राम बिनु काहू । माया सब सियमाया माहू ।" इस तरह के प्रतिवेष धारण करने वाली नारियों का कवि ने अनेक स्थलों पर "कपट नारि वर वेष बनाई" जिनमें रमा आदि भी आती हैं ये नारियाँ कपट वेष धारण कर अयोध्या में अपना अड्डा जमाए हुई हैं । इसी प्रकार जनकपुर में बारात के आगमन पर तथा 'अरण्य काड' में जानि में गुप्त होने के समय भी इसी प्रकार की बात कही गई है —

> "निमत्र भेद कुछ कोउन जाना । सकल जनक कर करहिं बखाना"[4]
> गोस्वामीजी ने मायामृग को भी कपट-मृग कहा ।
> होहु कपट मृग तुम्ह छल कारी । जेहि बिधि हरि आनउँ नृप नारी ।

इसमें उस राक्षस की तीन वृत्तियाँ मुखरित हुई हैं—छल करना, छल से कपट मृग बनना और कपट मृग बनकर विविध रुचिर रूपों का धारण व । इसी प्रकार बालकाण्ड में भानुप्रताप को छलने वाला मुनि भी कपटी प्रमाणित होता है । जिसने अपनी मायामयी मूर्ति से नृप को इस प्रकार छला कि वह रसातल को ही चला गया । ...

ा और "मैं दुवचन कहे बहुतेरे" का स्मृति भी आपातत स्पष्ट हो आई। माता ौशल्या का भा इसी अज्ञान से एक ही शिशु एक तरफ पालन म सुषुप्तावस्था म और सरा तरफ पूजा स्थान पर भ्रमण करता हुआ दृष्टिगत होता है– इहाँ उहाँ दुइ ालक देखा।" अरण्यकाण्ड म शिव, पार्वती से कहते हैं–

'क्रोध, मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया।"[1]

यहाँ क्रोध, काम लोभ, मद, मोह सबका नाम आता है पर अज्ञान, जो बहुचर्चित रहा उसके बदले म माया शब्द प्रयुक्त हुआ है। उस अज्ञान का छुडाने म राम क अतिरिक्त अन्य कोई नहा समर्थ हो सकता।

पुन उत्तरकाड म "काक' गरुड स कहते हैं—

तुम्हहि न संशय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्ह तुम दाया।

इसम संशयमोह आदि जिनके द्वारा भौतिकता की छाप लगती है इसम पृथक व उन्हें बत लाते हैं किन्तु अज्ञान का सबध इस माया शब्द द्वारा आभासित होता है। काक' की पुनरुक्ति भी इस सदर्भ म अवलोकनीय है–' मायावस मतिमन्द अभागा। हृदय जवनिकाबहु-विधि लागी।" मायावश का अर्थ यहा अज्ञान ही है। क्योंकि अज्ञानता क कारण ही आदमी की बुद्धि जड हो जाया करती है, इसस ज्ञान पर पर्दा पड जाता है। साथ ही यह प्रसग भी 'अज्ञान प्रसगा' कहा गया है इसी अज्ञान म सन्देह भी सम्भूत है। ज्ञान क द्वारा ही सद्सद्विवेकिनी बुद्धि परिचालित होती है। भगवान् की अप्रतिम महिमा की महानता इसी के फलस्वरूप हमारी श्रद्धा का विषय बनती है। तभी तो भक्त मन वचन, कर्म, म उन्हे भज सकता है—

तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया।

अविद्या

डा० उदयभानु सिंह क अनुसार निम्नलिखित पक्तियो म माया का अर्थ गोस्वामीजी ने अविद्या किया है 'अविगत गोतीत चरित पुनीत मायारहित मुकुंदा'[2] तथा मायाच्छन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म।[3]

पूर्वोल्लिखित अशो म माया की चतुष्कोटियो क सम्बन्ध म विचार किया गया है इसमें पहला स्थान देव माया' का है।

देवमाया

ब्रह्म की माया क अतिरिक्त देवताओ की माया क सम्बन्ध म भी तुलसी न हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वस्तुत देवजन मनुष्य के सदृश अपने को उसी ब्रह्म

१—मा० अ० ३८।२। १—मा० बा० १८७५ २ छ। २—मा० अर० २१।

का अंश मानते हैं। मानस म रामवनगमन क अवसर पर देवता जाकर सरस्वती से प्रार्थना करते हैं कि "सकल सुरकाज' अब उन्हीं के हाथ मे है। " आगिल काज विचार' करक वे 'नामु मथरा मदमति का अजस पटारी" बनाकर सुर-कार्य का समस्त श्रेय ले लेता है। मथरा जैसी निकृष्ट कोटि की दासी क वचन को कैकेयी अपना सुहृद वचन कहती है और विश्वास का समस्त आधार उसी को बना लेती है यद्यपि वह उसकी वैरिन है। यहाँ कवि ने कैकेयी को सुर माया म विमोहित कहा है– सुर माया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि । सुरमाया को अन्य स्थलो पर देवमाया कहा गया है

रामचन्द्र के वन—प्रस्थान काल म बालक वृद्ध विहाय हृद सभी लोग उनके साथ लग जाते हैं। वे किसी भी मूल्य पर अपने परम प्रिय राम का साथ छोड़ना नहीं चाहते। रामचन्द्रजी म भी शील और स्नेह छोड़ा नहीं जाता। अत व असमजस म पड जाते हैं। इसी बीच लोग शोक और थकावट के कारण सो जाते हैं और रामचन्द्रजी रथ लेकर उनके जागे बिना ही चल देते हैं। इस गोस्वामीजी ने देवमाया का प्रभाव बतलाया है। लोग सोग-स्रम बस गए सोइ। कछुक देवमाया मति गोई।

देवमाया क कारण लोगो की बुद्धि के विमोहित हो जाने की बात इसलिए कही गई है कि इतने लोग श्रीराम के साथ हैं पर उनम से कोई रात भर नहीं जाग सका।

तीसरा स्थल चित्रकूट म भरत के राम से मिलने जाने तथा उन्हे लौटा लाने के समय का है जहाँ सुर-माया का विशिष्ट प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। देवगण सरस्वती की सराहना करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं— फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छल छाया। [1] मति यहाँ फेरना है कि भरत म वह शक्ति है जो राम को अयोध्या अवश्य ले जा सकते हैं यद्यपि सरस्वती स्वय भरत की शक्ति को पहचानती हैं और उस विधि हरिहर माया से भी उच्च सम्मान प्रदान करती हैं। भरत की मति की ओर उक्त शक्तियाँ देख नहीं सकतीं पलटना तो दूर की बात रही।

चतुर्थ स्थल पर चित्रकूट मे ही लोगो के मन के ऊपर देव माया का प्रभाव दिखाया गया है। यह प्रभाव निसर्ग सिद्ध स्वभाव से विच्युत कर नया के विपरीत आचरण करने वाला बना देता है। देवमाया से अयोध्यावासी इस प्रकार विमोहित हो गए हैं कि किंचित् क्षणो में वे वन से अयोध्या के लिए प्रत्यागमन करना चाहते हैं और कभी सदा के लिए वहीं रह जाना। इस प्रकार दुविधा की अवस्था म उनकी निर्णयात्मिका शक्ति ही समाप्त हो गई है। उनकी चित्त अनुक्षण दोलायमान हो रहा है दुविधि मनोगति प्रजा दुखारी। गोस्वामी जी इस सुर-माया का प्रभाव घोषित करते हैं।

१—रा० अयो० २६४।१।

"सुर माया सब लोग विमोहे । राम प्रेम अतिसय न बिछोहे ।[1]

पुन इस देवमाया का कुछ विशेष व्यक्तिया पर प्रभावहीन बतलाकर उन्ह इससे मुक्त बतलाते है । ये लोग है—भरत जनक, मुनिवृ द और नाना सत आदि । इन लोगा के अतिरिक्त प्राय सभी जन उस सुर माया को व्यामोहिका शक्ति द्वारा आक्रान्त बताए गए हैं ।

भरत जनक मुनिजन सचिव, साधुसचेत बिहाइ ।
लागि देवमाया सबहिं जथा जोगु जन पाइ ॥[2]

इस प्रकार उपयुक्त स्थलो पर देवमाया का विरल वणन हुआ है । मानस म इस तरह का वणन बालकाड से लेकर अयो याकाड तक हुआ है । इसक विपरीत असुर माया का क्षेत्र अरण्य काड से आरम्भ होकर लकाकाड तक चलता है ।

असुर माया

ब्रह्म अतुलित शक्ति सम्पन्न है वह अनेक मायावी है । उसकी मायाशक्ति का परिणाम ही यह ससृति है । किन्तु सुर और असुर ब्रह्मांश होन के कारण दोनो ही माया की शक्ति रखते हैं । यो तो वणन क्रम की विविधता की दृष्टि से सन्निविष्ट अरण्यकाण्ड स लेकर लकाकाण्ड असुर माया की विस्तृत वनस्थली है किन्तु हम विशिष्ट सज्ञा प्राप्त स्थलो का ही पर्यवेक्षण करेंगे ।

अरण्यकाड म श्रीराम के साथ युद्ध म सवप्रथम असुर माया का काय प्रणाली का दिग्दशन होता है । यद्यपि ताडका-वध के समय भी हम उसकी झाकी पाते हैं—'महि परत पुनि उठि भिरत मरत न करत माया अतिघनी' । इसी प्रकार सुन्दर काड मे एक निशिचरी समुद्र में स्थित रहकर आकाशचारी जन्तुओ को पकडकर अपना ग्रास बनाती है ।

निशिचर एक सिन्धु महँ रहई । करि माया नभ के खग गहई ।[3]

सुन्दरकाड मे सुग्रीव विभीषण की शरणागति के लिये आते देखकर यह कहते हैं—

'जानि न जाय निशाचर माया । कामरूप केहि कारण आया ।'[4]

लकाकाड मे 'अकम्पन और अतिकाय नामक राक्षस सेनापति वानरो को अमित शक्ति से अपनी वाहिनी को विचलित होते देख अतुलित माया का विस्तार करते हैं ।

भयउ निमिष महँ अति अधियारा । वृष्टि होइ रुधिरोपल धारा ।"[5]

दूसरे स्थान पर इसी काड में असुर माया और सुर-माया का तुलनात्मक अध्ययन

१—मा० अयो० २—मा०अयो०३०२। ३—मा०सु०२।१ ।
४—मा० स० ४२।३ । ५—मा० स० ४५।६ ।

प्रस्तुत किया गया है । इस क्रम म आसुरा माया का खोटा सिद्ध कर उसका उपहास किया गया है ।

जासु प्रबल माया बिबस सिव बिरंचि बड छोट ।
ताहि दखावहिं निसिचर निज माया मति खोट ।।

फिर भी वे अपना माया की अगणित करतूतो को दिखाने से बाज नही आते । मघनाद की माया से वानर वृन्द बिल्कुल आक्रान्त है । उन्हे उसकी माया का रहस्य समझ म नही आता । अंत मे भगवान् राम एक एक ही बाण म काट देते है ।

—

एक बान काटी सब माया । [1]

इसी प्रकार कालनमि (एक असुर) हनुमान को सजीवनी लाने से वंचित करने के लिये उनके मार्ग मे जाकर अपनी माया के विस्तार द्वारा छलना चाहता है—

अस कहि चला रचसि मग माया । सर मंदिर बर बाग बनाया । [2]

किन्तु मायापति के भक्त को मोहित करना क्या सरल काम है ? कुम्भकर्ण की मृत्यु के पश्चात् अपनी विजय वैजयन्ती को मानो फहराने के लिये मेघनाद मायामय रथ पर आरूढ होकर प्रलयंकर युद्ध प्रारम्भ करता है—

मघनाद मायामय रथ चढि गयउ अकास ।
गर्जेउ अटट्हास करि भइ कपि कटकहि त्रास ।। [3]

इस प्रकार— अवघट घाट बाट गिरि कन्दर ।
मायाबल कीन्हसि सर पंजर ।। [4]

पुन उक्त काड मे श्रीराम के बाणो से जब बडे-बडे राक्षस योद्धा समरांगण म सो जाते हैं तब रावण अपनी अपार माया को उत्पन्न करता है ।

'रावन हृदय विचारा भा निसिचर संहार ।
म अकेल कपि भालु बहु माया करौं अपार ।। [5]

यद्यपि यह आसुरी माया राम के द्वारा एक पल म समाप्त कर दी जाती है ।

अतत वानरो द्वारा पुन रावण को घेर लेना और थप्पड से मारकर विचलित कर देने पर, उसे माया का साहाय्य ग्रहण करना पडता है ।

देखि महामर्कट प्रबल रावन कीन्ह विचार ।
अन्तरहित होइ निमिष महुँ कृत माया बिस्तार ।[6]

इस समय वह माया द्वारा अनेक प्रचण्ड जन्तुओ को उद्भूत करता है ।

१—वही ४१ । २—वही ५१।४ । ३—वही ५६।१
४—वही ७२ । ५ वही ७२।३ । ६ ‑मा० ल० ८८ ।

नर-माया

भला मायावतार नारी के समक्ष नर की माया कभी लग सकती है ? मानस में तिय माया की विजय और नर-माया की पराजय उद्घाटित हुई है। शायद इसी में गोस्वामीजी ने पग-पग पर सचेष्ट करने का प्रयास किया है। कैकेयी तो स्पष्ट शब्दों में दशरथ से कहती है—

कहहु करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया।[1]

तिय-माया

तिय माया का प्रभाव क्षेत्र केवल पुरुष ही नहीं प्रत्युत् नारी भी हो सकती है। मन्थरा के बहुत समझाने पर भी जब कैकेयी को वह बात गड़ती है तब वह तिय-माया आरम्भ करती है—दीन वचन कह बहु विधि रानी। सुनि कुबरी तिय-माया ठानी।[2] और उस तिय माया का सत्य प्रभाव कैकेयी पर देखते ही बनता है। जिस कैकेयी ने "तौ धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी" कहा था वह अब "परउँ कूप तुअ वचन पर सकउँ पूत पति त्यागि"[3] की सीमा तक पहुँच गई है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी तिय-माया का प्रभाव-क्षेत्र मनुष्य बना है ऐसा वर्णन मिलता है।

माया का नारी रूप

तुलसीदास जी ने स्त्री-जाति को माया की प्रत्यक्ष मूर्ति माना है जो बड़ी ही दुखदायिनी है। यह इसलिए कि काम जो शरीर का एक अनिवार्य-भाव अंग है उसका आलम्बन नारी है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन[4] जीव की इन चार नैसर्गिक प्रवृत्तियों में अंतिम मैथुन का सम्बन्ध काम प्रवृत्ति के साथ जोड़ा गया है। यह जीव की बड़ी दुर्दम्य प्रवृत्ति है। इसी कारण "मिन्न...दर पर जमपुर त्रासन" की बात कही गई है। "मोहनिसा के अन्तर्गत मान वाला जीव नारि के बस में होकर नट मर्कट की नाईं" विविध प्रकार का नाच दिखाता है—

नारि विबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं।[5]

नारद दशरथ आदि के उदाहरण में इसकी वास्तविकता स्वतः सिद्ध है। गोस्वामी जी ने इसे अत्यन्त दुखद ही नहीं माना है[6] अपितु जीव और उसके दारुण शत्रु मृत्यु के बीच में नारी की स्थिति बतलाकर[7] इस प्रवृत्ति की अनन्त मर्म घातकता का निर्देश किया

१—वही १०० । २ मा० प्रयो० ३।१३ ३—वही २।०१४ । ४—वही २१ ।
५—आहार निद्रा भय मैथुनश्च।—हितोपदेश प्रस्ताविका २५। ६—मा० उ० ८६।१।
७—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।
८—दारुन बैरी मीच के बीच बिराजति नारि।—दो० ३ २६८।

है। मानस में लंकाकाण्ड में रावण अपनी पत्नी के उत्तर स्वरूप हँसकर कहता है कि स्त्रियों में आठ दुर्गुणों के साथ माया का भी अवस्थान है।

साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया।[1]

इतना ही नहीं कवि ने उस माया ही मानकर तद्वत् अगम्यता और रहस्यात्मक अनिर्वचनीयता की ओर लक्षित किया है।

निज प्रतिबिंब बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई।[2]

भक्ति के क्षेत्र में माया और भक्ति को नारि वर्ग में स्थित कर माया को नर्तकी की संज्ञा दी है। प्रभु को यह भक्ति प्यारी है—

माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि बर्ग जानहिं सब कोऊ।
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी।।[3]

इसके अतिरिक्त कवि ने स्त्री को इस प्रकार जगत् में विष्णु की माया माना है। यह विष्णु माया ज्ञान निधान मुनियों को भी क्षण ही में अपने वश में कर लेती है।

सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट।।[4]

विष्णु पुराणादि में इसी से वासनामिश्रित मन को ही जीव के बंध और मोक्ष का हेतु स्वीकार किया गया है। इस प्रकार नारी का चित्रण मानस में प्रबल विष्णु की माया के समान ही हुआ है।

माया से मनुष्य रूप

श्रीराम ने माया द्वारा ही मनुष्य का रूप धारण किया है—

मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ।[5]

माया-परिवार

माया से ही मोह मनोज आदि अविवेकों की उत्पत्ति हुई है। माया की संतान होने के कारण कवि ने इन्हें 'माया का परिवार' उचित ही कहा है। कृष्ण-मिश्रकृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में मन और उसकी पत्नी प्रवृत्ति से जनित मोहादि अष्ट पुत्रों, मिथ्यादि पुत्र वधुओं, अहंकारादि नातियों एवं ममतादि नतबहुओं की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त यह भी निरूपित है कि प्रवृत्ति की कन्या वासना का विवाह दुस्तर की अन्या के पुत्र अज्ञान से हुआ है और उनसे संशय विवेकादि संतानों का जन्म हुआ। मानस रोग निरूपण में तुलसी ने यद्यपि कृष्ण मिश्र की भाँति सांगरूपक

१—मा० लं० ३५।२। २—मा० अयो० ४६।४।
३—मा० उ० ११५ ख।१। ४—वही ११५।ख। ५—मा० कि० १ श्लोक

की प्रतीक योजना नहीं प्रस्तुत की किन्तु अपनी मनोविज्ञानिक अभिव्यंजना को सरस और शक्तिमान बनाने के लिए खडन्यक्ता के प्रचलित चित्र उद्धृति मार्मिकता के साथ अंकित किए हैं।[1] माया परिवार में निम्नलिखित सदस्य हैं जिनका काम सहित विवरण द्रष्टव्य है—

१ मोह—नारद, शिव ब्रह्मा सनकादि सभी आत्मवादी श्रेष्ठ मुनियों को मोह ने पागल बना दिया—मोह न अंध कीन्ह केहि केही।[2]

२ काम—जगत में ऐसा कौन है ? जिसे काम ने नहीं नचाया।

को जग काम नचाव न जेही।[3]

३ तृष्णा—इसने किसको मतवाला नहीं बनाया ?

तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा।[4]

४ क्रोध—क्रोध ने किसके हृदय को भस्म नहीं किया।

केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा।[5]

५ लोभ—इस संसार में ऐसा कौन ज्ञानी तपस्वी, शूरवीर कवि विद्वान् और गुणों का धाम है, जिसकी विडम्बना लोभ ने न की हो।

केहि कै लोभ विडम्बना कीन्ह न एहि संसार।[6]

६ मद—लक्ष्मी के मद ने किसे टेढ़ा नहीं किया—

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि।[7]

७ प्रभुता—प्रभुता ने किसको बधिर नहीं बनाया।

प्रभुता बधिर, न काहि[8] अथवा प्रभुता पाइ मद नाहीं।[9]

८ मान मद—मान और मद ने किसे नहीं भर-माया है।

काउ न मान मद तजेउ निबहा।[10]

९ यौवन-ज्वर—इसने किसे उत्तेजित नहीं किया।

यौवन ज्वर केहि नहिं बलकावा।[11]

१० ममता—ममता ने किसके यश का नाश नहीं किया।

ममता केहि कर यश न नसावा।[12]

११ मत्सर—इसने किसको कलंक नहीं लगाया।

मच्छर काहि कलंक न लावा।

---

१ तुलसी दर्शन मीमांसा पृ० ११८। २—मा० उ० ६६ ख ४। ३—मा० उ० ६६ ख। ४—वही ४। ५—वही ४। ६—मा० उ० ७० क। ७—वही ७० ख। ८—वही ७० ख। ९—वही ७०।१ १०—वही ७०।१। १०—वही ७०।२। ११—वही ७०।२। १२—वही ७०।२।

१२ शाक—शोक रूपी पवन ने किस को हिला दिया।
काह न नाक समर जराबा।[1]

१३ चिन्ता—चिन्तारूपिणी सर्पिणी ने किस को काट खाया।
चिन्ता साँपिनि काह न खावा।

१४ मनोरथ—गोस्वामी जी ने मनोरथ को काठ तथा शरीर को दीमक कहा है। ऐसा कौन धैर्यवान् है जिसके शरीर में कीड़ा न लगा हो।

काठ मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा।

१५ त्रिविध एषणाएँ—इनमें तीन एषणाओं का उल्लेख हुआ है—(क) पुत्रैषणा (ख) वित्तैषणा (ग) लोकैषणा।

इन तीन एषणाओं ने किसकी बुद्धि को मलिन नहीं किया—

सुत बित लोक इषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी।

इस प्रकार यह माया परिवार प्रबल और अपार है। इसका वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? इस परिवार में शिव चतुरानन भी भयभीत हैं फिर इतर जीव की कौन गणना है? वस्तुतः पराजित अथवा आक्रान्त मानव के हृदय जीव को परिपीड़ित करने वाले इन मनोविकारों को रूपान्तर से तुलसी ने साक्षात्कार करा दिया है। माया-परिवार के सर्वप्रमुख सदस्य हो इस कटक के संचालक हैं। विनय-पत्रिका में भी कवि ने उक्त ढंग से ही इसका प्रत्यक्षीकरण करने हेतु एक रूपक का आयोजन किया है। वहाँ मनरूपी मय ने वपुरूपी ब्रह्माण्ड में प्रवृत्ति रूपी लंका दुर्ग का निर्माण किया है। मोहरूपी रावण उसका राजा है। अहंकार कामादि उसके कुटुम्बी तथा सेनानी हैं। सहाय विनपात सदृश जीव विश्रान्त है विभिन्न मनोविकारों से संकुल जीव का मनोमय जगत् प्राण-घातक पशु-पक्षियों भूत प्रेतों आदि से समाकीर्ण भीषण कान्तार एवं नरभक्षी जल-जंतुओं से पूर्ण घोर उत्तुंगतरंगिणी के सदृश भयाकुल है। इस प्रकार मानस परिवार के उक्त समस्त कार्यों के शिकार मानस के पात्र हुए हैं। इनमें कवि ने उन मानस रोगों का भी वैशिष्ट्य दिया है।

मानस रोग

सभी संसारी जीव प्राणान्तकारी रोग से संत्रस्त हैं। धार्मिकग्रन्थों में जीव के दुःख के दो कारण बताए गए हैं—आधि और व्याधि। उनकी निवृत्ति मुक्ति है। उनका क्षय मोक्ष है। इसके अनुसार देह दुःख का नाम व्याधि और वासनात्मक दुःख का नाम आधि है। वस्तुतः इन मनोविकारों से मुक्त होना ही नीरोगता है।

१—वही ७०।२ २—योग्य वस्तुओं की कामना

जीव के मन का रथ है। इसी से विनय पत्रिका में इसे कुमनोरथ कहा गया है।

रोगवस तनु कुमनोरथ मलिन मनु—७५।२ (तुलसी-दर्शन मीमांसा पृ० ११४।

गाम्वामाजा न उत्त आधि-व्याधिया का व्यवस्थित निरूपण कर एक रूपक का योजना का है।

मोह यह सकल व्याधिया का मूल है। इन व्याधिया म पुन बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं --मोह सकल व्याधिन कर मूला।

काम---काम ही वात है--- कामवात'

लोभ---लोभ ना बटा हुआ है कफ है --'कफ लोभ अपारा

क्रोध - क्रोध पित्त है जा सदा छाता जलाता रहता है।

'क्रोध पित्त निल छाती जारा' य हा तीना मिलकर सन्निपात राग उत्पन्न करत हैं।

विपया क मनोरथ मध्य ममता का नाम प्रथम आता है--

ममता--यह दाद है--"ममतादाद'

ईर्ष्या--ईर्ष्या खुजली है--' कुदुइरपाइ '

हर्ष विषाद--यह गल का राग का अधिकता है-- 'हर्षविषाद गरह बहुताइ" ।

दुष्टता और मन की कुटिलता-- य दाना कोढ हैं--"कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाइ"

अहकार--यह अत्यन्त दु खदायी गाठ का राग है--"अहकार अतिदुखद डमरुआ ' दम्भ कपट, मन और मान-य चारा नमा के राग है--

दभ, कपट मद मान नहरुआ।

तृष्णा---जलोदर है-- तृस्ना उदरवृद्धि अति भारा।'

त्रिविध एपणाए--(धन पुत्र और मान) य प्रबल तिजारा हैं --"त्रिविध ईपन" तरुन तिजारा।

मत्सर---यह एक ज्वर है।

अविवेक---यह भी ज्वर है।"

उपयुक्त व्याधियो को सूची म अनेक असाध्य रागा का प्रकल्पना है जिनम स एक ही रोग मनुष्य की मृत्यु के लिए अलम् है। इन रागा की सख्या भी बहुत बडा है। अतएव सोलह व्याधियो और इनास आधियो को अमाध्य कुराग मानकर केवल उन्हीं का नामोल्लेख किया गया है। इनम भी छ मानस रोग अत्यन्त असाध्य है--मोह काम क्रोध लोभ मद और मत्सर। य पविकार जाव के जन्मजात रिपु है। अत इन पर बिना औषधियो का प्रयोग किए व्याधि का समाप्ति सभव नहा होता।

इसके अतिरिक्त 'माया शब्द का उपयोगिता अन्य प्रसगा म भी विचारणीय है।

प्रार्थना प्रसग म विशेषत राम की माया से निर्मित ब्रह्म सापित करने म-क-पृथ्वी के कथन पर ब्रह्मा की स्तुति --

---

१---मानस के उत्तरकाड म १२० दो के बाद चौ० १५ से १९ तक द्रष्टव्य।

प्रश्न के रूप मे

लक्ष्मण स्वय भगवान् से माया की जानकारी एक प्राश्निक के रूप मे प्राप्त करते हैं—"कहहु ग्यान विराग अरु माया।"[1]

उपमान योजना के क्रम मे

अयोध्याकाड मे श्री राम, सीता और लक्ष्मण सहित रास्ते मे सब लोगो को सुख देते हुए वन की शोभा निहारते चले जाते हैं। आगे आगे राम और उनके पीछे तपस्वी वेषधारी लक्ष्मण इस प्रकार दोनो नर-पुगवो के मध्य मे सीता की स्थिति का शोभात्मक वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं— उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे।'

यहाँ दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म और जीव के मध्य माया का स्थान निरूपण हो जाता है यद्यपि इस विशिष्ट सदर्भ मे सीता की मध्यस्थिति का ही ज्ञापन कराना कवि को अभीष्ट है। पुन अरण्यकाड मे अत्रि के आश्रम से वन की ओर प्रस्थान करते समय उक्त वितय-जनो की पूर्व क्रमबद्धता का ज्ञान कवि इन पक्तियो मे कराता है—

> आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिबर बेष बने अति काछे।
> उभय बीच सिय सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।[3]

यहाँ पूर्व कथन से केवल 'जैसे' और "जैसी' का ही व्यवधान मात्र है।

प्रकृति चित्रण के क्रम मे

प्रकृति के रमणीय चित्रो के अकन मे भी कवि ने माया और ब्रह्म के उपमानो का प्रयोग किया है। रामचन्द्र, सीताहरण के पश्चात् चलत-चलते 'पपा' नामक सुदर और गभीर जल पूरित सरोवर के तट पर पहुँचते हैं। वहाँ सघन पुरइना से ढके रहने के कारण जल का जल्द पता ही नही चलता। कुछ उनकी सघनता का विश्वास पाठक को दिलाना है। इसके लिये कवि की उक्ति है— वस्तुत माया से ढके रहने के कारण ही निर्गुण ब्रह्म नही दिखलाई पडता।"

> पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म।
> मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुण ब्रह्म।।[4]

दूसरे स्थल पर किष्किंधाकाड के प्रावृट-वर्णन प्रसग मे जीव के माया ग्रन्थि मे आबद्ध होने की प्रकल्पना को आकाश के स्वच्छ जल का पृथ्वी के गदलापन में मिलने से उपमित किया गया है। वास्तव मे वर्षाकाल मे मेघो मे स्थित जल की प्रकृति अपने प्रकृत

१—मा० अ० १३।४। २—मा० अयो० १२२।१। ३—मा० अ० ६।२।
४—मा० वही ३९।

जय-जय अविनासी सब घट बासी व्यापक परमानन्दा।
अबिगत गोतीत चरित पुनीत, माया रहित मुकुन्दा।[1]

ख—प्रभु के प्राकट्य-काल में नाग मुनि और देवताओं की समवेत स्तुति—

माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनन्ता।
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति वेद कहै
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार।[2]

ग—परशुराम का स्तवन—

जय सुर विप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रम हारी।[3]

घ—श्रीराम के प्रति सुतीक्ष्ण की प्रार्थना—

मोह बिपिन घन दहन कृसानु।[4]
जदपि बिरज व्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी।[5]

ङ—गरुड़ की प्रार्थना—

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।[6]

यहाँ गुणों के प्रेरक का अर्थ है माया प्रेरक तथा विरज माया रहित।

च—कवि के मंगलाचरण में—

मायातीत सुरेश आदि।[7]

छ—वेदों की प्रार्थना—

तव बिषम मायाबस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनहि भरे।

ज—शिव की उक्ति—

ग्यान गिरा गोतीत अज, माया गुन गोपार।
सोइ सच्चिदानन्द घन, कर नर चरित उदार।।[8]

झ—मुनिवरों की प्रार्थना—

तव्य कृतव्य अग्यता भजन। नाम अनेक अनाम निरंजन।

यहाँ निरंजन माया से पृथक् के अर्थ में प्रयुक्त है।

१—रा० मा० ८४।२ ६।
२—वही १६२ स०। ३—वही २८४।२। ४—मा० अ० २०।३। ५—वही १।८। ५—

प्रश्न के रूप मे

लक्ष्मण स्वय भगवान् से माया की जानकारी एक प्राश्निक के रूप मे प्राप्त करते हैं–' कहहु ग्यान बिराग अरु माया ।' [1]

उपमान योजना के क्रम मे

अयोध्याकाड मे श्री राम सीता और लक्ष्मण सहित रास्ते मे सब लोगो को सुख देते हुए वन की शोभा निहारते चले जाते है । आगे आगे राम और उनके पीछे तपस्वी वेषधारी लक्ष्मण इस प्रकार दोनो नर-पुगवो के मध्य मे सीता की स्थिति का शोभाकर वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते है– उभय बीच सिय सोहति कैसे । ब्रह्म जीव बिच माया जैसे ।"[2]

यहाँ दार्शनिक दृष्टि मे ब्रह्म और जीव के मध्य माया का स्थान निरूपण हो जाता है यद्यपि इस विशिष्ट सदर्भ मे सीता जी मे मध्यस्थिति का ही ज्ञापन कराना कवि को अभीष्ट है । पुन अरण्यकाड मे अत्रि के आश्रम से वन की ओर प्रस्थान करते समय उक्त त्रितय-जनो की पूर्व क्रमबद्धता का ज्ञान कवि इन पक्तियो मे कराता है—

आगे राम अनुज पुनि पाछे । मुनिबर बेष बने अति काछे ।
उभय बीच सिय सोहइ कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।[3]

यहा पूर्व कथन से केवल ' जैसे ' और "जैसी' का ही व्यवधान मात्र है ।

प्रकृति चित्रण के क्रम मे

प्रकृति के रमणीय चित्रो के अकन मे भी कवि ने माया और ब्रह्म के उपमानो का प्रयोग किया है । रामचन्द्र सीताहरण के पश्चात् चलते चलते पपा नामक सुदर और गभीर जल शोभित सरोवर के तट पर पहुँचते हैं । वहाँ सघन पुरइना से ढके रहने के कारण जल का जल्द पता ही नही चलता । कुछ उनकी सघनता का विश्वास पाठक को दिलाना है । इसके लिये कवि की उक्ति है–'वस्तुत माया से ढके रहने के कारण ही निर्गुण ब्रह्म नही दिखलाई पडता ।

पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म ।
मायाछन्न न देखिय, जैसे निर्गुण ब्रह्म ।।[4]

दूसरे स्थल पर किष्किंधाकाण्ड के प्रावृट वर्णन प्रसग मे जीव के माया ग्रंथि मे आबद्ध होने की प्रकल्पना को आकाश के स्वच्छ जल का पृथ्वी के गदलापन में मिलन से उपमित किया गया है । वास्तव मे वर्षाकाल मे मेघो मे स्थित जल की प्रकृति अपने प्रकृत

१—मा० अ० १३।४ । २—मा० अयो० १२२।१ । ३—मा० अ० ६।२ ।
४—मा० वही ३६ ।

रूप में रहा करता है। वह अति स्वच्छ रहता है किन्तु भूमि पर गिरते ही तज्जनित पंकिलता में वह रहता ही नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार हुई है—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी।[1]

उपर्युक्त प्रकृति चित्रण का वर्णन प्रणाली दार्शनिक उक्तियों के मिश्रण से दोषयुक्त माना जाता है किन्तु यहाँ माया शब्द के प्रयोग की दृष्टि से उसका दोष [illegible] निरस्त हो जाता है।

माया से शब्द निर्माण

प्रस्तुत प्रसंग के अध्ययन में यह निष्कर्ष है कि माया शब्द में कुछ अन्य शब्द भी बनाये गये हैं जो उसी पर आधृत अन्य अर्थों की व्यंजना में प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार की परम्परा वेद तथा बाद में कि रामायण आदि काव्य ग्रंथों में मिलती है। वेद में 'मायिन' 'बहुमाया' उपनिषदों में 'मायी' (परमेश्वर के सम्बन्ध में) तथा वाल्मीकि रामायण में 'बहुमाया' 'मायामय' 'महामाया' आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है। तुलसीदास जी ने भी स्थल-स्थल पर ऐसा प्रयोग किया है।

मायावी—मय सुत मायावी तेहि नाऊँ। —मा० कि० ५।[illegible]।
खल मायावी देव सतावन। —मा० लं०

मायाकृत—मायाकृत परमारथ नाहीं। —मा० कि०
सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। मा० उ०
मायाकृत गुन दोष अनेका।
हरि मायाकृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं। —मा० उ०

मायिक—कहि जग-गति मायिक मुनिनाथा। —मा० अ०

मायापति—मायापति सेवक सन माया।
मायापति [illegible] मारा। मा० र०
मायापति कृपाल भगवाना। —मा० उ०

मायानाथ—मायानाथ अति कौतुक करयो। —मा० अर०

मायामय—मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास। —मा० लं०
मायामय तेहिं कीन्हि रसोई। —मा० बा०

अमाया—मुनिन्ह मन पद प्रीति अमाया। —मा० २०
प्रीति राम पद कमल अमाया। —मा० र०
मन बच क्रम मम भगति अमाया। —मा० उ०

मायाधीश—मायाधीस ग्यान गुन धामू। —मा० बा०

१—मा० कि० १।३।

ईश्वर की शक्ति

निज माया बल हृदय बखानी। मा० बा०
बहुरि राम मायहि सिर नावा।—मा० बा०
हरि माया बस जगत भ्रमाही।—मा० बा०
जासु सत्यता तें जड़ माया।—मा० बा०
अति प्रचंड रघुपति कै माया।—मा० बा०
श्री पति निज माया तब प्रेरी।—मा० बा०
सोइ हरिमाया सब गुन खानी।—मा० बा०
निज माया बल देखि बिसाला।—मा०बा०
निज माया कै प्रबलता करषि कृपा निधि लीन्ह। मा० बा०
जब हरि माया दूरि निवारी।—मा० बा०
अस बिचारि मन माहि भजिय महामाया पतिहि।—मा० बा०
आदि शक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरहि मोरि यह माया।—मा० बा०

जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सो भय भाखे।—मा० बा०
लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुशासन माया।—मा० बा०
माया जीव करम कुलि काला राम रजाइ सीस सबही के।—मा० बा०
राम जबहि प्रेरेउ निज माया।—मा०अर०
तव मायाबस फिरौं भुलाना। मा० कि०
नाथ जीव तव माया मोहा। मा० कि०
अतिसय प्रबल देव तव माया। -मा० कि०
सत रावन ब्रह्मांड निकाया। रचइ जासु अनुशासन माया। -मा० सु०
तव प्रेरित माया उपजाए।—मा० सु०
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।—मा० लं०
हरि माया कर अमित प्रभावा। -मा० उ०
प्रभु माया बलवंत भवानी।—मा० उ०
अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।— मा० उ०
सो माया सब जगहिं नचावा।—मा०उ०
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाचनटी इव सहित समाजा।—
रघुपति प्रेरित व्यापी माया।—मा० उ०

ईस वस्य माया गुन खाना ।—मा० उ०
माया पति कृपाल भगवाना ।—मा० उ०

प्रमाकुल प्रभु मानि विलोका । निज माया प्रभुता तब रोका ।—
मा० उ०

भगवान राम का स्वत उक्ति—मम माया सम्भव संसारा ।—
मा० उ०

काक का कथन—राम कोटि माया के समान प्रपचों के घर हैं—
माया कोटि प्रपच निधाना —मा० उ०
तव माया वस जीव जड सतत फिरहि भुलान । मा० उ०
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाय बिहगेस ।—मा० उ०

शक्ति के विषयाधार पर भी माया शब्द का प्रयोग हुआ है ।जैसे कामदेव की शक्ति—
तहि आश्रमहि मदन जब गयऊ । निज माया बसन्त निमयऊ ।
पार्वती तथा सीता का मायारूप—

(क) पार्वती का माया रूप—
भगवान शिव की माया का नाम भवानी है ।

तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितुमात ।

वे अजा शक्ति स्वरूपा अनादि और अविनाशिनी हैं तथा स्वेच्छा से लीलावपु धारण करने वाली हैं—

अजा अनादि सक्ति अविनासिनि । सदा सभु अरधग निवासिनि ।
जग सम्भव पालन लय कारिणि । निज इच्छा लीला वपु धारिणि ।

उन्होंने जन्म नहीं अवतार धारण किया है— जग जेहि जन्म अवतरा, सो पुर बरनि कि जाय । अतः वे महामूल माया हैं । रूप नाम रूपात्मक जगत् की अभिव्यक्ति उन्हीं से है इसीसे वे अनेक नामरूपवाली हैं—
विश्वमूलासि महामूलमाया (वि० १५।१) अनेक रूपनामिनी (वही १६।२)

(ख) सीता का माया रूप
सीता राम की पराशक्ति और उनकी प्रिया हैं । शक्ति और शक्तिमान में भेद नहीं होने के कारण वे राम से अभिन्न हैं—

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया । सो अवतरिउ मोर यह माया ।
श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जगपालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ॥

वे आदि शक्ति होने के कारण जगन्मूला कही गई हैं । वे विश्व की उद्भव पालन और संहार करने वाली हैं—

आदि सक्ति छवि निधि जगमूला (मा० बा० १४८ ।१)
उद्भव स्थिति सहार कारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करी सीता न तोऽह रामवल्लभाम् ।

त्रिदेवो की शक्तियाँ (ब्रह्माणी, लक्ष्मी भवानी) उनक अशमात्र स उत्पन्न हैं ।

जासु अश उपजहि गुन खानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ।
जासु विलास जासु जग होई । राम वाम दिसि सीता सोई ।

उनकी माया की विशेषता राम क अतिरिक्त अपर कोई नही समझ सकता—

लखा न मरमु राम बिनु काहू । माया सब सिय माया माहू ।
इस प्रकार कवि न पार्वती तथा सीता दोनो का माया रूप ही माना है ।

विद्या और अविद्या

माया का द्विवर्गवर्गिकृत कर उसे विद्या और अविद्या की सज्ञा दी गई है—

विद्या अपर अविद्या दोऊ ।

हरि सेवको को यह अविद्या नही व्यापती । प्रभु की कृपा स उन्हे विद्या ही व्यापती है जो सापेक्ष रूप मे दु खदायिनी नही हुआ करती—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या । प्रभु प्रेरित व्यापइ तहि विद्या ।
ता माया न दुखद मोहि काहा ।

माया और भक्ति की तुलना

तुलसी के माया सिद्धान्तो के सबध मे विचार करते हुए पूर्व देखा गया है कि माया की परवर्ती स्थिति ही भक्ति है माया जीव को भ्रम मे डालने वाली है और भक्ति उस भ्रम भरित गह्वर स उर्ध्वाभिमुख करती है । दोनो माया और भक्ति एक ही वर्ग की हैं किंतु भक्ति राम की कृपा पर आश्रित है अत माया उसे अपना लक्ष्य नही बना पाती । राम की भक्ति एक सु दर चितामणि है जिसके निवास से हृदय म प्रबल अविद्या जनित अधकार का आक्रमण नही हो पाता ।

माया भगति सुनहु तुम दोऊ । नारि वर्ग जानहि सब कोऊ ।
भगतहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई । करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ।
छूटत ग्रंथि न जानि खगराया । बिघन अनेक करै तब माया ।
राम भगति चितामनि सुन्दर । बसइ गरुड जाके उर अतर ।
प्रबल अविद्या तम मिटि जाई । हारहि सकल सलभ समुदाई ।।

उपरिनिर्दिष्ट तथ्यो से यह प्रमाणित है कि गोस्वामीजी न माया का विविध अर्थों मे

प्रयोग किया है। यन्त्र रात्रि के लिए अपनी व्याख्याओं एवं मन्तव्यों की सम्पुष्टि में जितना सहायक हुआ है वैसा अन्य कोई शब्द तुलसी साहित्य में नहीं मिलता। भक्ति विषयक विभिन्न वस्तुओं के अवलोकन से यही ज्ञात होता है कि कर्म योग, जप, तप, व्रत नेम आदि को उभयात्मक सिद्ध कर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में सर्वाधिक योगदान 'स्वी माया' का है।

मानसेतर ग्रन्थों के आधार पर माया-विवेचन

तुलसी रचित मानसेतर ग्रन्थों के विवेचन का आधार यहाँ रचना तिथि के अनुक्रमानुसार नहीं अपितु माया शब्द के प्रयोग एवं उसके सूचितनिहित व्यवहार से सबन्धित होगा। इस दृष्टि से विनय पत्रिका ही यहाँ प्रथम आलोच्य विषय ठहरता है।

विनय पत्रिका

इसमें विनय के २७९ पद हैं जिनमें कवि की कवित्वशक्ति पूर्ण रूप में प्रकट हुई है। कवि का अगाध पाण्डित्य शब्द कोश काव्य कौशल आदि का पूरा परिचय इस काव्य के अनुशीलन से प्रकट होता है। यह पत्रिका प्रार्थना के रूप में सजाई गई है और अपनी आदिक आस्था से लिखी गई है कि अवश्य ही भगवान श्रीरामचन्द्र ने इसे स्वीकार कर लिया होगा। विनय पत्रिका में प्रधान रूप से तुलसीदासजी की मनोवृत्ति का निरूपण है। न घटना का प्रबन्धात्मकता का निरूपण है और न कोई कथासूत्र ही। ज्ञान वैराग्य और भक्ति सम्बन्धी विभिन्न विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन है। वस्तुतः राम भक्ति ही इस ग्रन्थ का आदर्श है। समूची विनय पत्रिका में रामभक्ति प्राप्ति के सब साधनों की प्राप्ति तथा राम भक्ति में बाधक वृत्तियों के निषेध तथा उपशमन की प्रार्थना भगवान राम से की गई है। फलस्वरूप माया पर भी प्रभूत विचार विमर्श प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। यह इसलिए कि माया रामके अधीन है और राम की प्रेरणा से ही जीव को मोह-रज्जु में आबद्ध करती है। अतः माया रूपी रात्रि के निवारण के लिए भगवान की भक्ति रूपी प्रकाश की याचना कवि द्वारा समस्त विनय पत्रिका में यत्र तत्र सर्वत्र की गई है। इस प्रसंग में शंकर और पार्वती वन्दना के अन्तर्गत माया से दूर हटाने की याचना की गई है—

> सिव ! सिव होइ प्रसन्न करु दाया।
> करुनामय उदार कीरीति बलि जाऊं हरहु निज माया।[1]

पुनः श्री रामचन्द्र के चरणारविन्द में ऐसी अनन्य एवं अटल भक्ति मांगी गई है, जिसमें भेद रूप माया का नाश हो जाय।

> देहि कामारि ! श्रीराम पद पंकजे भक्ति अनवरत गत-भेद माया।[2]

आगे के पदों में गोस्वामी जी ने उन्हें मोहरूपी मूषक के लिये मार्जार स्वरूप भी कहा है।

१—विनय पद ५०।   २—वही पद ५६।

उनकी देवी पावना भी दु सह दाप और दु खा को दमन करने वाली, विश्वब्रह्माड का मूल तथा भक्ता पर सदा अनुकूल रहनेवाली महामूल माया है।

'दुसह दाप दुख दलनि, कुन्दवि दाया।''
विश्व मूलाऽसि, जन सा नुकूलाऽसि, कर शूल धारिणी महामूल माया।[1]

आगे क पदा म गोस्वामीजी चित्त से चलकर चित्रकूट श्रीरामजी के चरणा स चिह्नित भूमिका और उनके विहार स्थाना का दर्शन लाभ करने की बात सोचते हैं क्योकि कलियुग म नित्य मोहमाया और पापा की वृद्धि हो रही है—

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मगल मगु, विलसत बढत मोह माया मलु।[2]

विनयपत्रिका म शकर, भवानी के अतिरिक्त "कपि केसरी कश्यप प्रभव" हनुमानजी की प्रार्थना म उन्हे काल, त्रिगुण, कर्म और माया का नाश करने वाला कहा गया है—

जयति काल गुण कम माया मथन
निश्चल ज्ञान-व्रत स यरत धर्मचारी।[3]

जहाँ भगवान् रहते है वहा भेद रूप माया नही रहती—

यत्र हरि तत्र नही भद माया।[4]

जिस भगवान ने कपट मृगरूपी मारीच का नाश किया उस अयोध्यानाथ श्रीराम से दु खरूपी समुद्र से पार करने की प्रार्थना कवि करता है—

दडकारण्य कृत पुण्य पावन चरण, हरण मारीच माया कुरगा।[5]

राम को माया रहित समझना चाहिये। वे माया के नाथ हैं और रमा के पति भी।

'माया रहित मजु रमानाथ पायाजयानी।''[6]

कवि अपने को मूर्ख बतलाता है उसे माया ने लाकर यहा पटक दिया है—

तत्र आक्षिप्त तव विषम मायानाथ अध मैं मद व्यालादगामी।[7]

गोस्वामीजी के अनुसार भगवान् अपने भक्ता पर असीम अनुकम्पा दिखलाते हैं। जिसकी माया के वश होकर ब्रह्मा और शिव नाचते-नाचते पार नही पाते, उसी को गोप रमणियाँ ताल बजा बजाकर आगन म नचाती है। यह भक्ति की अनन्यता का ही प्रभाव है—

जाकी मायावस विरचिन सिव, नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाय ग्वाल जुवतिन्ह, सोई नाच नचायो।[8]

१—विनय १५। २—वही, पद २४। ३—वही पद २६।
४—वही पद ४३। ५—विनय पत्रिका प ६। ६—विनय १०।
७—वही ५६। ८—वही पद ६८।

संसार में कोई ऐसा नहीं जिस पर इस माया का प्रभाव न हो। देवता, दैत्य, मुनि, मनुष्य आदि सभी माया ग्रस्त हैं अतः कवि किसी का अपना बनाना नहीं चाहता जो स्वयं दलदल में फँसा हो वह भला दूसरे को किस प्रकार बचा सकता है ? अतः राम के बिना कवि को दूसरा दिखाई नहीं पड़ता—

देव, दनुज नर नाग मनुज सब, माया विवस विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे।[1]

गोस्वामीजी प्रभु की दुस्तरणीय माया से परिचित हैं। अतः उन्होंने माया से पार पाने का एक ही उपाय सोचा है, वह है भगवत्कृपा की प्राप्ति। वे स्पष्ट शब्दों में यह बता देना चाहते हैं कि कितने ही उपाय करके पच मरने पर 'माधव' की दया और कृपा के अभाव में माया से पार पा जाना असम्भव है—

माधव ! असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।[2]

यद्यपि ज्ञान, भक्ति आदि अनेक साधन हैं किन्तु कवि के मत से अज्ञान का नाश केवल हरिकृपा से ही संभव है।

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु ! दासहित मोह न छूटै माया।[3]

यहाँ मोह और माया दोनों को कवि नहीं छूटने वाला कहते हैं। पुनः आगे जीव के संबंध में विचार करते हुए कथित है कि जीव के दुःख भोगने का एक मात्र कारण है कि उसने माया के वश होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भुला दिया है।

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।
मायावस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।[4]

किन्तु यह दोष गोस्वामी जी ने अपने परमाराध्य के माथे ही मढ़ा है क्योंकि माया का समस्त प्रपंच एवं जीवों के दोष गुण कर्म और काल सब उन्हीं के हाथ है—

नाथ हाथ माया प्रपंच सब जीव दोष गुन करम कालु।
तुलसिदास भलो पोच रावरो, नेकु निरखि कीजिय निहालु।[5]

वे अपनी बातों को पुनः स्पष्ट करने के लिए भगवान् से अपनी विनती करते हैं और बतलाते हैं कि भगवान् के सिवा उन्हें दूसरा शरण भी रख ही नहीं सकता—

हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम मायापति हौं बस माया।[6]

रघुनाथ का निवास तो मोह माया और घमंड से रहित हृदय में हुआ करता है। कदाचित् इसी से गोस्वामी जी को रटने में इतना विलम्ब हुआ— बिगत मोह-माया

१—वही पद १०१। २—वही पद ११६।
३—विनय पद १२३। ४—वही पद १३६। ५—वही पद १४१। ६—वही पद

मद हृदय बसत रघुबीर [1] और इसालिए तो यह माया शिव ब्रह्मा और दिग्पालो योगीश्वरा और मुनीश्वरा का उन्ही क छुडाने से छोडती है और पकडने म पकड लेती है—

करम काल सुभाउ गुन दोष जीव जग
माया ते सो सभै मोह चकित चहति।
ईसनि दिगीसनि जोगीसनि मुनीसनि हू
छोडनि छाडाएते जहाय ते गहति।

यह दुस्तर दुरन्त माया इस प्रकार की है कि कभी तो छोड देती है और दूसरे ही क्षण पुन उसी में रमा लेती है–

गाठी के स्वान की नाईं, माया मोह की बडाई
छिनहिं तजत, छिन भजत बहोरि है। [3]

फिर भी जीव को मोहित करने वाली यह माया राम की दासी है इसलिए उसके बधना से मुक्ति प्राप्त्यर्थ राम कृपा का आश्रय अनिवाय है—

ससृति सनिपात दारुन, दुख बिनु हरिकृपा न नास। [4]
तुलसिदास प्रभुत्व प्रकास बिनु ससय टरे न टारो। [5]
तुलसिदास प्रभु मोह शृ खला, छुटिहि तुम्हारे छोरे। [6]
तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु विमल विवक न होइ
बिनु विवेक ससार घोर निधि पार न पावै कोई।

\+ \+ \+

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भास जब लगिनहिं कृपा तुम्हारी।

\+ \+ \+

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहि जब लगि करहु न दाया।
नान भगनि साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाही।
तुलिसदास हरिकृपा मिटे भ्रम यह भरोस मनमाही। [9]

राम कृपा की प्राप्ति कुछ वैसा कठिन नही है। यदि स्वच्छ हृदय से उनका भजन किया जाय तो उनकी कृपा अवश्य प्राप्त हो जाया करती है—

काय न कलस लेस लेत मानि मन का।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन का। [10]

दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है ।
छलनि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है ।[1]

इस प्रकार समस्त विनय पत्रिका में जहाँ कहीं भी माया शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ सर्वत्र भगवान की कृपा की आकांक्षा की गई है जिससे इस दुस्तर माया को तरा जा सके ।

गीतावली में माया शब्द का प्रयोग

गीतावली में सम्पूर्ण रामचरित पदों में गाया गया है । तथा इसमें विभिन्न राग रागिनियों में बँधा हुआ कांड-क्रम में राम का चरित्र शुद्ध ब्रजभाषा में वर्णित है । यह संग्रह कृष्ण भक्त कवियों की शैली पर तद्वत् शैली में लिखित बड़ा ही मनोरम काव्य ग्रन्थ है इसमें न तो विनय-पत्रिका के समान आद्यन्त भक्ति के पद हैं और न मानस के सदृश कथावस्तु होते हुए भी विचारणा की प्रधानता जिसमें जीव ब्रह्म और माया विषयक तथ्यों का उल्लेख हो सके । इसमें कथानक के क्रम को जारी न करके अपने इष्टदेव की मधुर झाँकी प्रस्तुत करना ही कवि को अभीष्ट है । इसीलिए कदाचित् नान-वृत्तकर प्रसंगों की अवहेलना की गई है और मुख्य स्थलों पर ही अपने आपको केंद्रित किया गया है । अतः इसमें माया की चर्चा अन्यत्र नहीं के बराबर है तथापि एकाध स्थलों पर माया शब्द की प्रयुक्ति दृष्टिगत होती है ।

सर्वप्रथम अयोध्याकांड के प्रथम पद में कैकेयी की कुटिलता को लाँछन प्रमाणित करने के लिए उसे देवमाया के वशीभूत होने की बात कही गई है—सुनत नगर आनंद बधावन, कैकेयी बिलखानी । तुलसीदास देवमायावश कठिन कुटिलता ठानी ।[2]

यह वर्णन मानस के आधार पर ही है । मानस में सुरमायावश वैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि ।

उक्त कांड के दूसरे स्थल पर कौशल्या कहती हैं—हे तात यद्यपि स्वामी ने माया के वशीभूत होकर ही तुम्हारे जैसे पुत्र का त्याग किया है तथापि तुम मेरा त्याग न करो ।

जद्यपि नाथ तात मायावश सुखनिधान सुत तुम्हहिं बिसारे ।[3]

पुनः इसी कांडान्तर्गत वन-मार्ग में श्रीराम आदि की कठिन भूमिकाओं पर पदगामी देखते हुए मार्ग के लोग उन्हें मुनिवेष में ब्रह्म, जीव और माया की प्रतिमूर्ति के रूप में सोचते हैं ।

रूप सोभा प्रेम के कमनीय काय हैं ।
मुनि-वेष किए किधौं ब्रह्मजीव माया हैं ।[4]

१—वही ? ५ । २—गीतावली अयो० पद १ । ३—वही पद २ ।
४—गीतावली पद ९८ ।

अतः म उत्तरकांड के १८वें पद में भगवान् की छाया सब प्रकार के राग मोह मान, मद और मायादि को शांत करने वाला है—इस संदर्भ में "माया" प्रयुक्त है—

अविचल अमल अनामय, अविरल ललित रहित छल छाया।
समन सकल सताप पाप रुज मोह मान मद माया॥[1]

कवितावली मे माया शब्द का प्रयोग

प्रस्तुत रचना में भी गीतावली के सदृश ही रामचरित्र, मानस के कांड-क्रम के समान वर्णित है। इसमें कवित्त घनाक्षरी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। अतः इसमें मायादि के विवरणों की गुंजाइश नहीं अपरंच इसके उत्तर कांड में रामगुणगान के सिलसिले में एक जगह विनयपत्रिका की शैली में माया शब्द उपदिष्ट है।

जय माया मृग मथन, गीध सबरी उद्धारन।
जय कबंध सूदन बिसाल तरु ताल बिदारन॥[3]

दोहावली मे माया शब्द का प्रयोग

आचार्य शुक्ल के अनुसार इसमें ५३७ दोहे हैं जिनमें २३ सोरठे हैं। ये दोहे भगवन्नाममाहात्म्य, धर्मोपदेश नीति आदि पर हैं।[2] इसके आधे से अधिक दोहे मानस तथा वैराग्य संदीपनी में मिलते हैं फिर भी इन दोनों में संसार की अनेक अनुभूत बातों तथा गूढ़ तत्वों का वर्णन है और सब मिलाकर इनमें प्रेम-भक्ति का अच्छा निरूपण हुआ है।

कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं। अथवा पुनः 'मानस' का उत्तरकांड।

जैसा कि पूर्वनिवेदित है कि दोहावली के अधिकांश दोहे मानस से लिए गए हैं और मानस-चर्चा के प्रसंग में उनका विवेचन भी हो चुका है। उदाहरणस्वरूप "हरिमाया निन्ह अति दारुन दुखद माया रूपी नारी। किंतु फिर भी कुछ दोहों में माया शब्द का प्रयोग बड़ा सार्थक हुआ है और वे दोहावली के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में प्राप्त नहीं होते। यथा—

राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मन माह।
भूरि होति रवि दूरि लखि सिर पर पग तर छाह।[3]

रामभक्ति से माया का निवारण किस प्रकार हो सकता है इसका इतना स्पष्ट बिम्ब बहुत कम स्थानों पर प्राप्त होता है। श्रीरामजी से दूर रहने पर किस प्रकार माया बढ़ती है तथा उनको मन में विराजित देखकर किस प्रकार घट जाती है इसका उदाहरण सूर्य और छाया से दिया गया है। जिस प्रकार सूर्य को देखकर छाया लम्बी हो जाती है और जब वह सिर पर आ जाता है तब वह छाया ही क्या पैरों के निम्नभाग में आ जाती है। माया की गति वास्तव में छाया की भांति है। पुनः ईश्वर की महिमा और माया की उनकी आश्रयता का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है कि माया जीव गुण, काल, कर्म और महत्तत्वादि सब ईश्वर रूपी अंग के संयोग से वृद्धिगत होते हैं और उस अंग के अभाव में व्यर्थ हो जाया करते हैं।

माया जीव सुभाव गुन, काल करम महदादि ।
ईस अंक तें बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि ।।[1]

तदनन्तर भगवान् की माया की दुर्लंघता पर प्रकाश डालते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि सुख सागर परमात्मा ही जीव के रूप में सुख की लालसा करते हैं और स्वप्नवत् सुख काम करते हैं । माया के स्वामी श्री राम हैं । माया को जानने वाला जगत् में कोई नहीं है । मानस में 'मोह निशा सब सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा' कहकर जीव की जड़ता का उल्लेख है कि न यहाँ परमात्मा को भी उस जड़ता की अवस्था में प्रभु का रूप माना गया है । यद्यपि उस स्वप्नवत् संसार को स्वयं किसी के जानने योग्य नहीं और न कोई जान सकता है । जिसकी माया का विस्तार यह विश्व है वही उसको जानता और वही सबको ज्ञेय है—

सुख सागर सुख नींद बस सपने सब करतार ।
माया मायानाथ की को जग जाननहार ।।[2]

इस प्रकार इस काव्य ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न तीन स्थलों पर ही स्वतन्त्र रूप में माया शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका ईश्वर, जगत् और जीव की दृष्टि में असाधारण महत्व है ।

श्रीकृष्णगीतावली

इसमें ६२ पदों में श्रीकृष्ण की चरित्र विविध विषयों जैसे बाल वर्णन, विरह गोपी-उद्धव-संवाद, भ्रमरगीत द्रौपदी वस्त्र वर्द्धन आदि की कथा में सन्निविष्ट कर, वर्णित है । इसमें माया शब्द का प्रयोग एक स्थल पर भी नहीं हुआ है । इसके विवेचन के अनुरूप वर्ण्य विषय के दृष्टि से उसकी प्रकृति निरर्थक पड़ती है ।

रामललानहछू

आचार्य शुक्ल के शब्दों में सोहर छन्दों में बनी तुलसी की यह एक छोटी सी रचना है । पुत्र जन्म में विवाहादि शुभावसरों पर गाई जानेवाली इस रचना में "माया" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है ।

वैराग्य संदीपनी में "माया" शब्द का प्रयोग

दोहे चौपाइयों में रचित यह एक लघु रचना है । इसके कुल ६२ छन्दों को तीन प्रकाशों में संत स्वभाव, संत महिमा, तथा शान्ति-वर्णन विभाजित कर वैराग्य विषयक तत्वों का निरूपण ही कवि का उद्देश्य सिद्ध होता है । इसमें तीन स्थलों पर माया शब्द का उल्लेख हुआ है जिसमें प्रथम का सम्बन्ध अवतारवाद से है । निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार और किस हेतु से मनुजि मात्र अवतार धारण करता है ? इसका हेतु गोस्वामी

१—दोहावली २०० । २—वही २४६ ।

जो भक्तों की ही मानते है। अवश्य ही उस अद्वैत, अनाम, अलख, अरूप और मायापति राम ने भक्तों के कारण ही मनुष्य का शरीर धारण किया।

अज अद्वैत अनाम अलख रूप गुन रहित जो।
मायापति सोइ राम दास हेतु नर तनु धरेऊ ॥

कवि के अनुसार संसार में जिन अशिव वेषधारी "कलत्र त्रायम वेष मराता" सन्तो का दर्शन होता हैं, वे माया त्यागी है ऐसा नही कहा जा सकता। संसार में माया का सर्वात्मना त्याग करने वाले प्राणी विरल हैं। इस कुटिल कलि में उस तरह के लोग बहुत नही--

विरल विरले पाइए, माया त्यागी सन्त।
तुलसी कामी कुटिल कलि केकी काक अनन्त।

अन्त कवि इस उपाय की घोषणा करता है कि यदि कोई कामादि मायाजन्य विकारों से पृथक् होना चाहता है तो राम की शरण में रहकर कोई अपर उपयुक्त उपाय नही। राम की दुहाई फिरते ही कामादि जहाँ तहाँ भाग जाते हैं—

फिरी दोहाई राम की गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रवि के उदय तुरत जात तम लाजि ॥

रामाज्ञाप्रश्न मे माया शब्द का प्रयोग

इसमें सात सर्ग है और प्रत्येक सर्ग मे सात सात दोहा के सात-सात सप्तक हैं। यह पूरा ग्रन्थ दोहों में है। गोस्वामीजी ने इसमें शकुन विचारने के बहाने राम के चरित्र का वर्णन किया है। द्वितीय सर्ग के सप्तक एक में अयोध्याकाड मे वर्णित कैकेयी की करतूतों को सुर माया से परिचालित कहा गया है।

सुर माया बस कैकेयी, कुसमय कीन्हि कुचालि।
कुटिल नारि मिस छाइ छल अनभल आनु न कालि ॥

पुन तृतीय सर्ग के सप्तक में माया मृग का वर्णन करते हुये कवि कहता है—

माया मृग पहिचानि प्रभु चले धाय रुचि जानि।
रचक चार प्रपंच कृत सगुन कहब हित हानि ॥

तदनन्तर पचम सर्ग के सप्तक २ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है।

कपट मानु माया मलिन भारी मारत पूत।
समय सगुन मारग मिलहिं छल मलान खल धूत ॥

यहाँ केवल माया शब्द का प्रयोग मात्र हुआ है और वह सदर्भ विशिष्ट नहीं, जिसमें यह शब्द प्रयुक्त है।

इस प्रकार उक्त चार ग्रन्थों के अतिरिक्त बरवै रामायण, पार्वतीमगल और जानकी मगल में कहीं भी इस माया शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अत आलोच्य की दृष्टि में इनका अधिक महत्त्व नहीं।

———

उपसंहार

मनुष्य, मनुष्य के कल्याण की बात सदा सोचते रहे। इससे बढ़कर उसकी सार्वकालिक और सार्वदेशिक उपलब्धि अन्य नहीं हो सकती। सभ्यता के विकास के साथ कालान्तर में किंचित् प्रतिवर्तन स्वरूप प्रतिकूलता सिद्धि के पश्चात् भी मनुष्य ने इस सम्बन्ध को जीवमात्र के साथ घटित किया। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी मुखरित हुई और मानवमात्र के कल्याण की उन्मुखता का भाव जाग्रत हुआ, यद्यपि मानव की आवश्यकता-विस्तार की सम्बद्धता भी उसमें प्रामुख्य प्राप्त रही। फलस्वरूप विधि निषेधात्मक तत्त्वों की प्रधानता बढ़ी— 'अमुक करणीय है और अमुक अकरणीय। अमुक ग्राह्य है और अमुक अग्राह्य।' इस प्रकार मनुष्य की तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि ने इस क्षेत्र में अपना अनुसंधान प्रारम्भ कर दिया और विविध प्रयासों और प्रयोगों के परिणामस्वरूप विविध मतों का विकास हुआ। अब भावी पीढ़ी को कल्याण मार्ग से परित्राण पाने का आश्वासन तो मिला किन्तु विभिन्न मार्गों के निर्माण में एक पथ के श्रम का विनष्टीकरण नहीं हो सका। वस्तुतः एतादृश अनेक पन्थों के निर्माण में श्रम हो गया किसी भी विषय का तत्त्व 'गुहायां निहितं' हो गया। पृथ्वी के जटिलतम अनल में गर्भशायी हो सकता है। इस प्रकार अपने यहाँ अनेक मार्गों में सतत् अप्रतिहत गति से प्रवहमान आध्यात्मिक धारा का विकास दृष्टिगोचर होता है। इस धारा का सम्बन्ध जैसा कि इस क्षेत्र में पाश्चात्यों के प्रचारित मत से ज्ञात होता है अवश्य ही इस पार्थिव जगत् से पर आकाश क्षेत्र स्थित नहीं अपितु भौतिक जीवन में अनतिदूर उसे ही नाना तत्त्वों से उन्नति एवं सुख साधन सवलित तत्त्वों से भरपूर बनाने में है। भारतीय मनीषा ने इस दृष्टि से अपनी विचारधाराओं को 'जीव के कल्याण' पर ही अधिकांश विशेष रूप से केन्द्रित किया है। पर्येषणा का लक्ष्य है मनुष्य को तत्त्वचिन्तन के उचित मार्ग पर लाकर सच्चे सुख की प्राप्ति का साधन बतलाना क्योंकि तत्तत् साधन के सुनियोजित व्यवहार से ही पार्थिव दुःखों का नाश होता है। मानव अपने लक्ष्य से अनुप्राणित होते हुए वैसी ही बुद्धि की लालसा रखता है जिसमें शाश्वत शान्ति और सुख की प्राप्ति हो, जीवन दुःखमय नहीं होने पावे। प्रवृत्ति और निवृत्ति की भावना भी यहीं से इस सन्दर्भ में उठती है। क्योंकि भोग की प्रवृत्ति निसर्ग सिद्ध है और 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' द्वारा उसके परिमार्जन के अतिरिक्त उस प्रवृत्ति को दुःखदायी तथा निवृत्ति मार्ग को महाफल बताया गया है। पर निवृत्ति कैसे हो सकती है? यही विषय है षड्दर्शनों की गाथा का भारतीय मनीषा के चिंतन का। इस प्रकार माया की स्थिति इसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य में सिद्ध होती है।

विश्व के ज्ञान भण्डार के लिये भारत के अमूल्य अवदानों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वा-पूर्ण गहन गम्भीर यह माया भावना का अवदान है। यह माया परब्रह्म परमात्मा की महान् शक्ति है। अनन्त शक्तिमान ब्रह्म इसी के प्रभाव से ब्रह्म, परमात्मा पुरुष और भगवान् का स्वरूप ग्रहण करता है। यह माया ब्रह्म की परा शक्ति नश्वर अनन्त कोटि जीवों का निर्माण करता है तथा इस दृष्टि से सृजन, पालन और संहार इसी के द्वारा समर्पित है। इतना ही नहीं माया ब्रह्म की शक्ति के अतिरिक्त अघटन घटना घटापटी भी है। वह अपने आवरण और विक्षेपण शक्ति के द्वारा नाना विविध भाव विभाविनी बनकर "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं" की भाँति सत्य-तत्व को छिपा लेता है। अव-यव-तत्व दृग्गोचर नहीं होता, माया ही रह जाता है और उसका विस्तार ब्रह्म के विस्तार से किसी भी क्षेत्र में न्यून नहीं होता। समस्त इन्द्रियाँ मन, बुद्धि आदि अनन्त सत्तसिद्ध विकार इसके नाना क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। जीव इसी माया का उपा-सक बन बैठता है और उसका वास्तविक स्रष्टा नेत्र के समक्ष नहीं आता वह भुला दिया जाता है। महामाया के चक्र में हम विमत रहते हैं और त्रिगुणात्मिका माया वृत्ति के फलस्वरूप के परिणामस्वरूप भगवान् का स्वरूप विस्मृत हो जाता है। अनेक प्रकार के मानस रोगों के आविर्भाव का यही हेतु है और यह तब तक बना रहता है जब तक ईश्वर भजन के द्वारा हम उस प्रभु की पावन कृपा के अधिकारी नहीं बन जाते। इस प्रकार यह लक्षित होता है कि माया के कारण ही हम भगवान् का स्वरूप भूल जाते हैं किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि यदि माया न होती तो हम भगवान् को नहीं जान पाते। दुःख नहीं होता तो हम सुमिरन नहीं करते। उसमें भी अधिक माया नहीं होती तो हम नहीं होते कुछ भी नहीं रहता— नासदासीन्नो सदासीत्, 'नासदासीत्' और ज्ञान को एक कर ही जाता और वह परब्रह्म सत्य के लिये अ उद्दिष्ट हो जाता जिसके प्रकाश के समक्ष अखिल ब्रह्माण्ड घोर तमिस्रपूर्ण है। ब्रह्म के परमात्मा स्वरूप को यह माया सीमाबद्ध करता है। अब वह ब्रह्म जागतिक वस्तु हो जाता है। उसकी पूर्णता के लिये महामाया आवश्यक हो जाती है। राम की सीता, शिव की शिवानी कृष्ण की राधा आदि का मायारूप वर्णन उक्त भावना की ही चरम परिणति है।

माया भावना का यह विकास-क्रम न तो एक दिन के चिंतन का परिणाम है और न किसी व्यक्ति विशेष का इस दिशा में अनुसंधान का हेतु स्वरूप है। इसके विकास की अनेक परिणतियों का निर्माण भारतीय मनीषा के प्रारम्भिक बुद्धि वैभव से लेकर आसवा शती के विशिष्ट प्रतिभा (वेद से लेकर अरविंद तथा डॉ० राधाकृष्णन तक) द्वारा विनिर्मित हुआ है। यद्यपि वेदों में साम्प्रतिक भावना विशेष का निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता वहाँ माया, शक्ति तथा कपट रूप प्रज्ञा के स्वरूप आशय से आवेष्टित है। तदनन्तर उपनिषदों में माया का मिथ्यात्मक स्वरूप उद्घाटित होता है और समस्त विश्वमाया से परिनिवृत्त होने के लिये परब्रह्म का ध्यान करने तथा उसमें तदाकार होने की आवश्यकता भी बलीकृत रूप वहाँ प्राप्त होता है। रामायण और महाभारत में दैव और दनुज शक्ति की उद्भावना के अनेक क्रियात्मक बाधा मायाशक्ति के उपयोग तथा

इस प्रकार सम्पूर्ण मन वाणी काय से सन्जभाव से माया के विविध प्रकार तांडव की महिमा के वर्णन के साथ यह प्रतिपादित है कि प्रभु की कृपा-दृष्टि विशेष में माया का व्यापक-स्वरूप समाप्त हो जाता है।— सिमरहु तू मुरारि माया जाकी चेरी।"

सगुण-भक्ति साहित्य के कृष्णपरक अष्टछापी काव्य में अविद्या माया के विपुलांश वर्णन द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि माया द्वारा क्रीत जीव नटों के बन्धन में आसक्त वर्दि के सदृश हो गया है जिसे उन के भय से "कोटिक नाच" नाचने पड़ते हैं। अतः भगवल्लीला का गायन, जिसमें आत्मोद्धार का पथ प्रशस्त बनता है, सम्पन्न ही नहीं हो पाता। इस प्रकार 'माया मोह" की निशा का विवेक प्रकाश में हटाकर, जो बिना प्रभु की कृपा कटाक्ष से पराभूत नहीं हो सकता, अनन्य भाव से मनसा-वाचा कर्मणा अपने को उनके पद पद्मों में समर्पित करना ही विधातव्य है और तभी माया से मुक्ति सम्भव है।

रामकाव्य के अन्तर्गत महात्मना तुलसीदास में अपेक्षया विस्तार के साथ दर्शन काव्य और धर्म, जिसका 'रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है" इन तीनों के समन्वय स्थल पर माया का विवेचन हुआ है। ब्रह्म के सगुण के कारण बोध स्वरूप भक्त की आस्तिकता तथा माया द्वारा अवतार ग्रहणत्व से लेकर जीव के अनेक दुःखों का द्वैतात्मक निदर्शन माया द्वारा ही वर्णित है। गोस्वामी जी के अनुसार भक्ति ही माया की परवर्ती स्थिति है क्योंकि माया और भक्ति का पृथक्-पृथक् वर्णन करने पर भी वे उभय मध्य विरुद्ध शक्ति का आरोप नहीं करते। अपर एक नर्तकी है तो अपर प्रियतमा। और इसमें भी अधिक 'आदिशक्ति" माया भगवान-सीता अतिशय प्रिय कर करुणानिधान की" बताई जाती है। वे उसे उद्भवस्थिति संहारकारिणी कहकर विद्या माया का अवतार ही नहीं बताते वरन् सवश्रेयस्करी" रामवल्लभा' कहकर स्पष्ट शब्दों में भक्ति का प्रतिरूप बनाते हैं।

ब्रह्म के अवतार ग्रहण करने का एकमात्र कारण प्रेम और भक्ति है। वह प्रभु के वश हुआ करता है। अतः माया विकारों का प्रशमन प्रभु के युगल चरणों की अमृत-रसिकता में ही हो सकता है। राम की कृपा से सभी भवरोग नष्ट हो जाते हैं। प्रबल अविद्या-तम के उन्मूलनार्थ रामभक्ति रूपी सुन्दर चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं। इसी से राम के सेवकों को अविद्या प्राप्त नहीं होती उन्हें विद्या ही व्यापती है— जिसमें नाश नहीं हुआ करता और वह भक्ति पथ में निरन्तर अग्रसर होता चलता है। इस प्रकार तुलसी के माया निभावन का सार-तत्त्व है— स्व प्रभु का स्वामित्व मन में सदा मन निमज्जित कर उनको परमात्म स्वरूप अलौकिक आभा में तन्मय हो जाना। इसी तन्मयता में माया से स्वनिर्लिप्तता सम्भव है।

इस प्रकार समस्त मध्ययुग का भक्तिकाव्य, माया-भावना की दृष्टि से एक ही धरातल पर अवस्थित नाम होता है जिसमें माया से मुक्ति प्राप्त करने के लिये भगवान् की शरणागति का रहस्य विवेक क्षमा वैराग्य और इन सब में पूर्णता की दृष्टि से सम्पन्न भावना द्वारा उद्घाटित किया गया है।

राम को प्रबोधन देते है "हे प्रभु यह अवश्य मायामृग है, इसे यथार्थ मानना ठीक नही है" जिस की पुष्टि प्रभु की इस उक्ति मे होती है ' राक्षसो की माया के कारण ही मुझे यह क्लेश उठाना पड रहा है ' इतने म ही वह मायावी राक्षस आकाश म उड जाता है । आगे सुन्दरकाड म सीता भी इस तथ्य को स्वीकार करती हुई कहती हैं—' निष्ठुर राक्षसो की जो माया होती है उसे छत्ता लोग ही जान सकते है ? एक राक्षस हरिण का रूप लेकर आया, तो लक्ष्मण के यह कहने पर भी कि यह राक्षसो की माया है, मैंने इसे सच्चा समझ कर उसे माँगा था ।" तुलसी ने केवल "माया मृग पाछे सो धावा" कह कर उस पर राम की लीलात्मकता और उनके परात्परत्व का रग चढा दिया ।

कवि ने राक्षसो के माया-वेष धारणत्व और राम रावण युद्ध मे अनेक पात्रो द्वारा माया द्वारा युद्ध कौतुक का हो सागोपाग वर्णन किया है । राक्षस कुल तो आद्य त वल बुद्धि और शस्त्र रूप म इसी माया का ही आश्रय लेता है । सूपणखा को कवि मायाविनी कहता है । सूपणखा भी राम मे प्रेमयाचना करते समय यही आशा बधाती है राम ! मुझे विकृत रूप वाली कह कर तिरस्कार न करो और मुझसे प्रेम करो तो उन राक्षसी की माया को यथा तथा-जान सकोगे मैं तुझे कर्मेन्द्रियो के समान विविध माया करने वाले यत्रो को समझकर उनसे बचाऊँगी । तुम ऐसे कभी उन्हे परास्त नही कर सकते । पश्चात् खर राम के साथ युद्ध करते समय माया का आश्रय लेकर राम के समस्त शरीर को वाणो से ढक देता है इससे देवता बहुत भयभीत होते हैं । सूपणखा की बात जब रावण को कही जाती है, तो वह राम की हसी उडाकर कहता है हम तो दूसरो की आँखो के समक्ष माया उत्पन्न करके उनका भ्रम भरित बनाते हैं । क्या क्षुद्र मनुष्य हमारे सामने कोई माया कर सकते हैं ।' यह तो अपनी माया के सम्बन्ध म उसके "स्व' की स्वीकारोक्ति है । जटायु उसकी माया-वचना से प्रताडित होकर कहता है 'इस राक्षस ने माया करके इस प्रकार धोखा दिया है ।' और राम से माया युद्ध निपुण रावण का उच्छेदन करने की प्रार्थना करता है । राक्षसो की माया को कवि ने अनेक बतलाया है और इसी के बल पर व वीरता मे अपरिमेय, लोको का विनाश करने म सदा तत्पर बताए गए हैं । इसी से हनुमान ने रावण के युद्ध कौशल को माया युद्ध कहा है । रावण भी लक्ष्मण के मारे जाने की बात माया द्वारा नागास्त्र के प्रयोग से ही सभव मानता है । इसी तरह मकराक्षस का माया के प्रभाव से सर्वत्र फैल जाना मेघो से अग्नि की वर्षा करना, इन्द्रजित का गगन मार्ग म अदृश्य होना सहोदर द्वारा चन्द्र का वेष धारण कर राम से युद्ध करना युद्ध क्षेत्र म राक्षस मनुष्य एव वानर इतर अतिरिक्त सृष्टि के समस्त प्राणियो का उसकी माया से युद्ध क्षेत्र म शामिल होना इन्द्रजित द्वारा पुन माया सीता का वपु निर्मित कर एक हाथ म केशपाश पकडकर और दूसरे हाथ से मार लगा तलवार को उठाना माया सीता का बचाओ-बचाओ कहकर चिल्लाना रावण का राम पर मायास्त्र का प्रयोग करना आदि इस युद्ध विषयक अनेक कार्य-कौतुक माया ' द्वारा ही सपादित

हुआ है। वैसे कवि ने राक्षसों की अनेक विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है — छल कपट माया द्वारा ये हो जिनके कर्तव्य थे। इधर राम का अवतार कवि ने माया से मुक्त होकर संसार रूपी बंधन से लोगों के मुक्त करने के लिए ही माना है। अवतार का यह हेतु प्रायः सभी भक्त कवियों को मान्य है। वस्तुतः भव बंधन के प्रति मनुष्य मन में औदासीन्य भाव रहता आया है। वह अपनी हार्दिक भावना भक्ति को अपने प्रभु के प्रति निवेदित करना चाहता है। राम को स्वरूप पहचान कर शबरी धन्य धन्य होकर यह प्रार्थना करती है मेरा मायामय सांसारिक बंधन अब टूटा और चिरकाल तक की गई तपस्या का फल प्राप्त हुआ। इन्द्र अपनी प्रार्थना में कहता है तुमको प्राप्त करने का उपाय अपना ज्ञान ही है— ऐसा मान कर असंख्य लोगों ने उपाय किए हैं। किन्तु तुम्हारा स्वरूप उनके हाथ न पड़ रहा है, अतः तुम्हें पहचानने की शक्ति से हीन होकर वे तुम्हारी माया के जाल में फँसे रहे।[1] विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार भगवान को केवल ज्ञान से नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसे प्राप्त करने के लिए एकमात्र उपाय है—परमभक्ति जो परम ज्ञान से उत्पन्न होती है। जीव में अहंकार के नाश से यह भक्ति उत्पन्न होती है। अहंकार का कारण देह में आत्मा का भ्रम करना तथा स्वयं को कर्त्ता समझ लेना। इसे अज्ञान कहा जाता है जो माया के कारण होता है। इस तरह कवि का ध्यान माया से आच्छन्न जीव को भक्ति का आश्रय ग्रहण करने के प्रति बराबर है।

कवि ने जैसा पूर्व निर्दिष्ट है राम और लक्ष्मण को नर और नारायण का अवतार माना है। ये अनुपम माया के अन्तर्गत छिपे हुए अनेक प्रकार की लीला किया करते हैं।[2] युद्ध से राम की अचेतावस्था को देखकर देवताओं का कथन है धर्म की रक्षा के लिए क्या तुम छिपे रहकर भी अपनी माया दिखाना चाहते हो[3] इसी प्रकार विराध कहता है हे प्रभु! तुम वंचक के सदृश क्या छिपे रहते हो यदि तुम प्रकट हो जाओ तो क्या हानि है। क्या यह तुम्हारा अनंत मायामय क्रीड़ा आवश्यक है।[4]

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि तमिल में लिखित कम्ब रामायण में माया-भावना का सर्वाङ्ग रूप सम्पन्न चित्रण हुआ है और उसका समानान्तर विकास हिन्दी साहित्य के भक्तियुगीन साहित्य में अपने प्रभूत रूप में देखने को मिलता है। इस प्रकार यद्यपि हमारे हिन्दी साहित्य के मध्ययुगीन भक्ति काव्य के काल की दृष्टि से यह कम्बनकाल दो तीन-सौ वर्ष पूर्व निर्धारित होता है किन्तु माया के पुङ्खानुपुङ्ख विवेचन और भक्ति के साध्य भाव की दृष्टि से इसका महत्व स्वतः प्रतिपादित है।

१—कम्ब रामायण-अनु० श्री न० वी० राजगोपालन, पृ० १६३ खं०-२।
२—वही, पृ० ४०१। ३—वही, पृ० ४७०। ४—वही, पृ० ३०।

तेलुगु

तेलुगु भाषा लगभग चार करोड जनता की मातृवाणी है । यह भाषा अपने सहज माधुर्य के लिये प्रसिद्ध है । तेलुगु का भक्ति-साहित्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के समतुल्य है । रंगनाथ रामायण, माया-वर्णन की दृष्टि से तुलसी के रामचरित मानस के समान है यद्यपि इसका रचना-काल तुलसी से लगभग दो सौ साल पूर्व ठहरता है । इसके अतिरिक्त अन्नमाचार्य वीर-ब्रह्म, योगी वेमना तथा श्री त्यागराज एसे अनेक संत भक्त इस साहित्य के उदीयमान नक्षत्र हुए हैं जिनकी शीघ्र तुलना हिन्दी के कबीरादि संतों से सहज संभव है । बुतपरस्ती का कट्टर विरोधी, स्त्रियों को साधक-मार्ग की बाधा बताने के सूत्र प्रभूत मात्रा में मिलते हैं । इसी तरह सूरदास और पोतन्न की जोडी श्रीमद्भागवत जैसे समान विषय-चयन और माधुर्यता के लिये सफल कही जा सकती है । उपर्युक्त कृतियों, विशिष्ट कृतिकारों तथा उनकी माया धारणा का कुछ विस्तृत परिचय इस प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है ।

रंगनाथ रामायण

राजा गोनबुद्ध द्वारा रचित इस रामायण का उद्देश्य वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा को बढाना तथा रामचन्द्र को ऐसे अलौकिक शक्तिशाली एवं सौंदर्य सम्पन्न व्यक्ति तथा अवतार पुरुष के भव्य चरित्र को प्रस्तुत करना है। इसका रचना काल १३८० के लगभग माना जाता है तथा यह द्विपदा छन्द मे निबद्ध है। कम्ब रामायण तथा रामचरितमानस की भाँति माया मृग का उल्लेख इसमें भी हुआ है । मायामृग का रूप वर्णन करते हुए कवि लिखता है— उस मायामृग का शरीर सुनहला था उसका विशाल नेत्र युग्म इन्द्रनीलमणि के समान था, उसकी भौंहे प्रवाल की सी और कान उज्ज्वल वज्र के से थे । [1] इस रामायण में भी कम्ब की भाँति सीता की चर्म-याचना पर लक्ष्मण उसे माया मृग बतलाते हैं । राम का माया मृग को पकड़ने का तुक 'मानस' के सदृश कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई । कबहुँक प्रगटई कबहुँ छपाई" और इसी प्रकार प्रगटत दुरत करत छल भूरी के ढाचे पर ही दिखाया गया है । अन्तर केवल इतना ही है कि रंगनाथ रामायण में राम उस मृग के पीछे दौड़ते हुए उसके छिपने और प्रकट होने पर मायामृग होने की बात समझते हुये ब्रह्मास्त्र संधान करते हैं जिसे मानस में "निगम नेति सिव ध्यान न पावा । मायामृग पाछे सो धावा ' पहले ही इंगित कर दिया जाता है ।

पुनः राम रावण युद्ध के संदर्भ में इन्द्रजित की माया का विविध वर्णन इस रामायण मे हुआ है । सौमित्र उस मायावी इन्द्रजित की माया से आक्रान्त होकर राम से कहते है— हे देव अपनी माया के कारण गर्वान्ध होकर यह कपि-सेना का संहार

१—रंगनाथ रामायण—राजा गोनबुद्ध, अनु० ए० सी० कामाक्षिराव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना । पृ० १४६ ।

करने पर तुला हुआ है। हमें अब शीघ्र इसका वध कर डालना चाहिए।' इसी प्रकार इन्द्रजित का कुम्भकरण की मृत्यु के पश्चात् माया सीता की सृष्टि कर हनुमान को निराश हुए उस माया सीता का शिरच्छेदन करना, हनुमान आदि के साथ मिल हीन के साथ राम का मूर्छित होना, विभीषण के द्वारा इस इन्द्रजित की माया-कार्य बताकर उनका सक्षोभ हरण कार्य आदि सभी घटनाएँ माया कौतुक पर ही आधृत हैं।

इस प्रकार माया के सम्बन्ध में इसके विचार कर रामायण में वर्णन कुछ मिलते हैं। क्योंकि माया सीता का शिरच्छेदन राम की मूर्च्छादि का वर्णन "मानस" में नहीं है। हाँ इन्द्रजित द्वारा प्रवर्तित विजयार्थ यज्ञ का प्रसंग दोनों स्थानों में समान है।

हमने पूर्व निवेदन किया है कि तेलुगु के कुछ संत कवियों के प्रतिपाद्य विषय हिन्दी के संतों में मिलते जुलते हैं। इन रचनाकारों में भक्त अन्नमाचार्य विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनका काल १४२० ई० से १५०२ माना जाता है। ये सूरादि अष्टछाप के कवियों की भाँति भगवान् की उपासना में नित्य पद बनाकर गाया करते थे। इनके पदों के दो विभाग हैं—अध्यात्म कीर्तन और शृङ्गार कीर्तन।

इनके अध्यात्म कीर्तन में भक्ति का एक स्फुट स्वर सर्वत्र विद्यमान है।

वीर ब्रह्म

ये कबीर के युग के और उन्हीं की भाँति वाह्याडम्बर, वर्णव्यवस्था, अन्धविश्वास आदि का खण्डन करने वाले थे। इनके अनुसार "यह संसार मिथ्या है। मनुष्य कर्म बंधनों के कारण आवागमन के चक्कर में पड़ा हुआ है। पति पत्नी बच्चे माता-पिता ये सब माया में पूर्ण हैं।[1] ये उच्चकोटि के भक्त थे। इनके पद आज भी उसी तन्मयता के साथ गाए जाते हैं। भक्ति रहित तीर्थाटन खण्डन करते हुए ये कहते हैं— बिना चिंतन मनन किए केवल घूमने से प्रयोजन नहीं है। अपने भीतर देखो और उस दिशा का मर्म समझो। इस माया जाल से पूर्ण पर्दे में देखो और उसी माया में रहते हुए पर्दे को हटाओ तो मुक्ति पाओगे। इस सृष्टि के चलन का मूल कारण समझो और उसके मूलस्थित ज्योति को जलाकर देखो।'

योगी वेमना

संत कवियों में वेमना एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। इस मत ने आन्ध्र में जिस तत्व मार्ग का प्रचार किया वह गौड मत से प्रभावित है। ये तपस्या में लीन होकर स्वयं ब्रह्ममय हो गए थे और अपनत्व खो बैठे थे। उन्होंने वाह्याडम्बर का घोर विरोध किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं "हे भगवान्! तुमको देखते रहने से हम परम तत्व में भर जाते हैं, किन्तु जब अपनी ओर से ध्यान देते हैं तो इस माया

1 —वीणा सितम्बर १९६७, तेलुगु के संत कवि—श्री बालशौरि रेड्डी।

जाल में फँस जाता है। इसीलिए जो व्यक्ति जानता व पहचानता है वही स्वयं को भी जान सकता है।

श्री त्यागराज

ये कर्नाटक संगीत के बड़े निष्णात थे। इन्होंने सैकड़ों पदों के अतिरिक्त मोक्ष चरित्र और "भक्ति विजयम्" नामक ग्रन्थ लिखा है। ये महान् वेदान्ती थे। सन्त-साहित्य में माया और मन का समानान्तर विवेचन हुआ है। मन को ही सारे कालुष्य और पतन का मूल माना गया है। संत त्यागराज इसी से मन से ही यह प्रश्न करते हैं— हे मन! सच सच बता कि धन नैतिक सुखों की उपासना में सच्चा आनन्द है या राम की सेवा में। ममता माया बन्धन आदि से युक्त मानव की स्तुति आनन्ददायक है या श्रीराम के गुण गान में अधिक सुख है।' निश्चय ही उनका अभिप्राय पश्चात् वाले की तीव्रता पर है।

इस प्रकार उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि तेलुगू में कथा धारा से लेकर माया सम्बन्धी विचारों तक हिन्दी के तत्कालीन कवियों से काफी समानताएँ हैं। तेलुगू के संत कवियों ने एक स्वर से संसार के पुत्र कलत्र तथा ऐश्वर्य मयी वस्तुओं को मायिक माना है तथा प्रभु की भक्ति को ही विधेय और शाश्वत महत्त्व की वस्तु ठहराया है।

मलयालम

मलयालम के भक्त कवियों (विशेषतः कृष्ण भक्त) की दार्शनिक विचारधाराओं के विषय में विश्लेषण करते हुए अनुसंधायक डा० के० भास्करन नायर ने लिखा है कि हिन्दी तथा मलयालम के कवियों का उद्देश्य दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं था। उन्होंने उसके सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष रूप से अपना अभिमत प्रकट किया है। उदाहरण के लिए उद्धव गोपी संवाद में दार्शनिक तत्वों का समावेश हो गया है। समस्त कवियों ने एक स्वर से उद्घोषित किया है कि उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप हैं। यह समस्त विश्व उन्हीं के अंश से उत्पन्न है। कृष्ण ही यह रस रूप अखंड अनादि और अनुपम हैं।

मलयालम में मध्यकाल का आरम्भ 'तचतु एषुत्तच्छन' के समय से माना जाता है।[1] इनके अनुसार परमात्मा सच्चिन्मय जन्मरहित जगत् का आधार और उसकी उत्पत्ति कारण और सनातन है। वही माया से प्रेरित होकर जीवात्मा होता है। उसके अतिरिक्त इन दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। जब इसके अहंभाव के दूर हो जाने पर यह परमात्मा हो जाता है। इसी तरह मलयालम के सारे भक्त कवि एक

१—मलयालम का काव्य-साहित्य-एन० आई० नारायण।
महादेवी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २०३।

स्वर मे उद्घोषित करते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा में जरा भी भिन्नता नहीं है। यद्यपि इस एकता को मलयालम के कतिपय भक्तों ने अन्य प्रकार से स्थापित किया है, जिसमें शंकर के मायावाद की झलक है।[1]

'एजुत्तच्छन एक स्थान पर ईश्वर की प्रस्तुति करते लिखते हैं— हे भगवन् आप तो एक हैं किन्तु माया में पड़कर मुझको (जीवात्मा) यही प्रतीति होती है कि आप मुझसे अलग हो गए हैं। मैं गहरे दुःख में पड़ गया हूं। आप दया करके मुझे अपने से मिलाइए।'

यहां स्पष्ट हो कवि जीव की उत्पत्ति परब्रह्म से मानता है तथा माया की व्याधिग्रस्तता में वह आक्रान्त है।

श्री एजुत्तच्छन ने चिंतासन्तानम् में लिखा है कि आत्मा जीवात्मा और परमात्मा ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा कभी मायावश में पड़कर जीवात्मा होता है और स्वयं दुःख झेलता है परमात्मा ही केवल इससे वंचित रहता है। मलयालम और हिन्दी के समस्त कृष्ण कवि उपर्युक्त विचार से सहमत हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार माया ने ही इन समस्त प्रपंचों का सृजन किया है। जीव के दुःख का कारण माया की अधीनता को स्वीकृति ही है। अविद्या माया को आचार्यों ने अज्ञान भ्रम स्वप्न आदि कई नामों से अभिहित किया है। हिन्दी तथा मलयालम के कृष्ण-भक्त कवियों ने माया को विविध रूप में चित्रित किया है। उनके अनुसार माया जीव को अनेक प्रकार से नचाती है और जीव में भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि कराकर उन दुःख जाल में पाशित करती रहती है। यह अपने मोहक एवं मायिक रूप द्वारा जीवात्मा को ममत्वपाश में जकड़ देती है।

एजुत्तच्छन माया का वर्णन करते हुए कहते हैं— जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध उत्पन्न होती है वैसे ही आत्मा से माया की उत्पत्ति होती है और उसमें लय भी हो जाती है। जल में फेन होता है और उसी में लीन होता है। जब जीव को परमात्मा का ज्ञान होगा तब माया की बातें समझ में आ जायेगी और यह अनुभव हो जायगा कि ब्रह्म के सिवा और कोई वस्तु सत्य नहीं। वे आगे कहते हैं—माया दो प्रकार की है—एक शुद्ध और दूसरी मलिन माया। शुद्ध माया मोक्ष प्राप्ति में सहायक होती है। मलिन माया के प्रभाव से जीव को भ्रम होता है। शुद्ध माया मोक्ष प्राप्ति में सहायक होती है। मलिन माया के प्रभाव से जीव को भ्रम होना होता है। जीव चाहता है कि मेरे पुत्र मित्र, कलत्र पर किसी प्रकार की विपत्ति न आए। यह एक संकुचित मनोवृत्ति है जिसमें जीव उत्पन्न होता तथा मरता है। जीवात्मा और परमात्मा में जब एकता होती है तब माया का नाश होता है और परमानंद की प्राप्ति होती है।[2]

१—हिन्दी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य, पृ० ८८।

२—चिंतासन्तानम।

पून्तानम

श्री पून्तानम ने अपनी 'ज्ञानधाना' नामक पुस्तक मे लिखा है—"माया के वश में पड़कर लोग सारे काम करते हैं और उसमे भलीभाँति सलिप्त रहते हैं। ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब माया मे फँस रहते हैं। जीव माया के प्रभाव से कई जन्म लेने के बाद यदि वह शुभ कर्म करता रहे तो देवता बन जाता है और बुरे काम करने से चाडाल कुल मे पैदा होता है। सुर का असुर जन्म लेना और असुर का सुर जन्म लेना या वृद्ध का जन्म लेना आदि घटनाएँ सब माया प्रेरित कर्म के कारण होती हैं। भगवान् की माया के लीला विलास के सम्बन्ध मे भली-भाँति स्पष्ट कर सकना असम्भव है।[1]

हिन्दी के कवि सूर परमानन्द आदि के अनुसार अविद्यामाया जीव को बन्धन मे डालती है और ईश्वर कृपा से ही जीव को मोक्ष मिलता है किन्तु एजुतच्छन आदि मलयालम भाषा के कवियों ने माया का वर्णन करते हुये लिखा है कि विद्यामाया से जीव शुद्ध होकर परमात्मा मे मिल जाता है। उस समय जीव तथा ब्रह्म मे कोई भिन्नता नहीं होगी।

मराठी

हिन्दी और मराठी भाषा का परस्पर सम्बन्ध कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है जिसमे दोनो भाषाओं की लिपि का एक समान होना प्रथम वैशिष्ट्य का परिचायक है। इसी प्रकार दोनो भाषाओं का इतिहास भी एक ही सा रेखा मे विकसित हुआ है।[1] मराठी के उत्पत्ति काल के विषय मे विद्वान् एक मत नहीं है तथापि इसके आदिकाव्य के आध्यात्मिक रूप के परीक्षण से प्रतीत होता है कि ईसा की ११वीं शती के पूर्व महाराष्ट्र मे विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का प्रचार चातुर्वर्ण्य तन्त्र ग्रामदेवताओं की उपासना आदि के सम्मिलन से जनता सच्चे धर्म से विमुख होने लगी थी अत जन साधारण के उत्थान तथा उनकी धर्मभावना को उच्चस्तरीयता प्रदान करने के लिये महानुभाव, वारकरी, दत्त, आदि पन्था का प्रादुर्भाव हुआ।[2] इन पंथो ने मोक्ष मार्ग का प्रचार किया तथा भक्ति की उत्कटता की अप्रतिम व्याख्या दी। महाराष्ट्र के सन्तो ने निर्गुण को सगुण के आगे का सोपान सिद्ध किया है।[3] इसके साहित्य मे सत भक्त, साधु और सज्जन पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य मे 'निरगुनिया' और ज्ञानमार्गी साधु को ही सत कहने की परिपाटी चल पड़ी है।

१—मलयालम के हिन्दी और कृष्ण भक्त कवि, पृ० ६२।

२—हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य डा० प्रभाकर माचवे, पृ० १०।

३—मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन डॉ० र० श० केलकर, पृ० ६२।

४—मराठी का भक्ति साहित्य प्रो० भी० गो० देशपांडे, पृ० ३।

मराठी का यह सन्त साहित्य महानुभाव पंथ में प्रारम्भ होता है। यद्यपि महानुभाव कहां से आया यह विवाद्य है। मराठी के आद्य कवि मुकुन्दराज ने, जो ज्ञानेश्वर से लगभग एक शती पूर्व हुआ था, 'विवेक सिंधु' तथा 'परमामृत' जैसे अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठित ग्रन्थों की रचना की। यह कवि नाथ सम्प्रदाय का माना जाता है। इसी नाथ सम्प्रदाय से आगे चलकर महाराष्ट्र वारकरी सम्प्रदाय (भागवतधर्म) का प्रादुर्भाव हुआ।[1] इस मत के संतों ने नाम संकीर्तन पर अधिकाधिक आग्रह प्रदर्शित किया।

महाराष्ट्र के सभी सन्तों ने माया की धारणा पर विचार किया है। वस्तुतः माया जीव को प्रेरित करने वाली है। जीव की मुक्तावस्था की प्राप्ति के पूर्व तक उसका लगाव माया के साथ रहता है। यद्यपि कर्मों का शुभाशुभ फल उसे भुगतना पड़ता है। जीव के शुद्ध स्वरूप को ईश्वर और माया के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं देख सकता। जीव को मुक्ति प्रदान करने का सामर्थ्य देवताओं में नहीं, क्योंकि वे स्वयं नियबद्ध हैं।[2] ईश्वर ही एकमात्र मुक्ति प्रदाता है। ज्ञानेश्वर ने ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध, अग्नि और उसी की ज्वाला, कमल और उसकी पंखुड़ी, समुद्र और उसकी लहर के समान अभिन्न प्रतिपादित किया है। वे जगत् को मिथ्या नहीं सत्य और चैतन्य मानते हैं। सृष्टि और ब्रह्म में भिन्नता का आभास माया है। ज्ञानेश्वर के नाथ गुरु ने "शून्यवाद" को प्रमुखता दी थी पर ज्ञानदेव ने समाज के अनुकूल निष्काम भक्ति पर भागवत मत को प्रतिष्ठित किया।[3] उन्होंने लिखा है— न लिंप माया मोह विटालें बनाया संशयरहित। डा० स० गा० पडसे ने अपने ग्रंथ 'श्री ज्ञानेश्वरादि तत्त्वज्ञान' में शंकर और ज्ञानेश्वर के मध्य में जो सूक्ष्मभेद है उसका विवेचन करते हुये लिखा है शंकर के अनुसार ईश्वर का माया के बिना कर्तृत्व नहीं है। ज्ञानेश्वर के अनुसार ईश्वर का मायाविरहित स्वतन्त्र कर्तृत्व है।[4]

हा माया आकाश। मृग जलन्याय विस्तार।
आभास परिसन्यास। स्वप्न नय।[5]

माया के विषय में वर्णन करते हुए जादू, अन्धकार, आकाश में मेघों की दृश्यावली, सांभर के सींग की वृद्धि आदि के वर्णन द्वारा आन्तरिक खोखलापन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। हिन्दी के सन्त कवियों का भी माया के सम्बन्ध में कुछ इसी तरह का विचार है। ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त उनके समकालीन कवयित्री मुक्ताबाई जनाबाई ने भी माया के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं।[6] एकनाथ के 'भागवत' एवं नाथगात

१—मराठी और उसका साहित्य—ले० प्रभाकर माचवे के आधार पर।

२—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० ६८।

३—वही पृ० ६९।

४—हिन्दी और मराठी का निगुण संत काव्य, पृ० ३३२।

५—वही, पृ० ३०१।

६—माया महत्याचे सु मर। तीन पाचाचा प्रकार
पुसे पचविसाचा मार। गणतो कली छत्तीसी॥—पृ० ३६९।

की शैली कर निर्गुण अनुभव गाना था 'कवार'' है । पागारकर ने आदि माया पर एक ओवी स्वयं माण्ट अपने इतिहास के पृष्ठ ४३६ से ४३८ तक दिया है जिसका प्रथम पंक्ति है— नमो निर्गुण निराकार । मूल आदि माया तू साकार ।''[1] एकनाथ के अनुसार 'संसार में माया का विचित्र खेल चलता रहता है । इससे छुटकारा तभी हो सकता है, जब हम भगवान् को याद करें—उनकी शरण में जावें । वे माया और माया ग्रस्त जन पर फटकार गालो बौछार करने मे तनिक भी नहीं हिचकते ।[2] वे कहते हैं 'झूठा काया झूठी माया मुर्गी सब दिन रात । एक जनार्दन बात भाई का नहीं आवे मान'' स्पष्ट है कि कवि एक ईश्वर की सत्ता को ही शाश्वत रूप मे स्वीकार करता है उसके अतिरिक्त रात दिन, शरीर प्रपंच सभी अनीक है । इसी प्रकार नामदेव ने भी 'मनु पंछी या मन पड पिंजर संसार मायाजाल रे'' कहकर जीव का सचेष्ट किया है ।[3] डा० केनकर ने हिंदी और मराठी कृष्ण काव्य के तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में उभय काव्यों के माया सिद्धान्तों का विवेचन करते हुये जो निष्कर्ष दिया है वह इस प्रसंग में उल्लेख्य महत्व का है । उनके अनुसार भगवान् को भूलकर मोह में पड़े रहना हिन्दी कवियों ने माना है । माया और जीव में इतना ही अन्तर है कि माया चैतन्य रहित है और जीव चैतन्य युक्त । माया के कारण ही यह संसार सत्य प्रतीत होता है । इस माया की अगम्यता प्रायः सभी हिन्दी कवियों को स्वीकार्य है । सूर ने श्रीमुख (श्रीकृष्ण) से यह कहलाया है ''मेरी माया अति अगम कोउ न पावे पार ।' किन्तु महानुभाव ग्रन्थ के कवियों की माया विषयक कल्पना इससे कदाचित् भिन्न रही है । उनके कथन से ऐसा द्योतित होता है कि माया देवता समूहों में सर्वोपरि है और सभी देवताओं को व्याप्त किये हुए है । ब्रह्मा विष्णु, महेश जिन्हें क्रमश सर्जन पालन और संहरण का अधिकार प्राप्त है इसी माया के अधीन हैं । उसकी स्वरूप मर्यादा अगणित है । इसी का चन्द्र य देवता भी कहा गया है । परमेश्वर की कृपा से अविद्या का नाश होकर जब जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है तो माया क्रुद्ध होकर उदासीन हो जाती है—' माया कामानि उदासीन होए । इसी प्रकार वारकरी कवियों ने माया अथवा संपूर्ण सृष्टि को ज्ञानस्वरूप परमात्मा की ही स्फूर्ति माना है । यह विश्व चैतन्य परमात्मा का ही क्रीडा या विलास है । सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार जालनि जग भी भाके । तरी जगत के काण काके । अर्थात् उद्भुत जगत् में यदि मैं ही ढक जाऊँ तो जगरूप में कौन प्रकाशित होगा ' इसीलिए मराठी कृष्णभक्त कवि संसार से दूर परमात्मा को देखने का प्रयास नहीं करते । जैसा उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों में वर्तमान है सन्त एकनाथ माया को मूलमाया कहते है । उनके मतानुसार जीव की अज्ञानता माया के ही कारण है यह माया जीव और ब्रह्म के मध्य आवरण का कार्य करती है तथा

१—हिंदी और मराठी का निर्गुण संत काव्य पृ० १८० ।

२—हिंदी मराठी संतों की देन पृ० १४३ ।

३—वही, पृ० १२८ ।

परस्पर अनेक भेदों का सृजन करती है। इस प्रकार उनकी 'मूलमाया' जीव और विश्व की परस्पर भिन्नता को अनिरुक्त सिद्ध करने वाली ही ठहरती है।[1]

माया का स्वरूप वर्णन असाध्य कहा गया है। इसीलिए श्रुतियों में उसे अनिर्वचनीयता का अभिधान प्राप्त हुआ है। अविद्या के ज्ञान के पीछे भी इसी प्रकार का तर्क उपस्थित किया है। संत एकनाथ ने एक सुन्दर स्त्री के विवाह प्रसंग का रूपक खिलाकर माया का प्रभाव विस्तार वर्णन किया है। उसका निराकरण एक ब्रह्मज्ञान से ही संभव है। परन्तु वह ज्ञान भक्ति के साधक रूप में ही होना चाहिये। उसका कारण यह है कि ज्ञान की पूर्णता भगवद्भजन में ही छुपती है। परमात्मा के सम्बन्ध में जो योगमाया है वही जीव के सम्बन्ध में अविद्या है।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मध्ययुगीन हिन्दी भक्तकवियों का माया विभाजन मराठी कवियों के समानान्तर है। माया के निराकरण द्वारा भक्ति की सम्प्राप्ति वस्तुतः उभय साहित्य का प्रतिपाद्य है। धन का प्रयोजन भगवद्भजन में ही है।

कन्नड

भारतीय धर्म-साधना में कर्नाटक का स्थान महत्वपूर्ण है। आचार्य शंकर ने अपने मत के प्रचारार्थ सर्वप्रथम मैसूर राज्य के शृंगेरी नामक स्थान में अपने स्थान में अपने मठ को स्थापित किया था। रामानुजाचार्य के लगभग दो सौ साल अन्दर ही यहाँ अर्थात् कर्नाटक में दो प्रसिद्ध मतों की स्थापना हुई जिन्हें क्रमशः वीरशैवमत और माध्वमत के नाम से जाना जाता है।

वीरशैवमत के प्रथम प्रचारक बसवण्ण माने जाते हैं यद्यपि १२वीं शती के पूर्व कर्नाटक में यह शैवमत के रूप में प्रचलित था। 'वीरशैव मत' को लिंगायत भी कहा जाता है। क्योंकि इस सम्प्रदाय की व्यवस्था के अनुसार वीर शैवमत अपने वक्ष पर शिवलिंग को धारण करता है। इनका सम्प्रदायी आधार-ग्रन्थ श्रीपति पंडिताराध्य का वेदान्त पर लिखा हुआ श्रीकरभाष्य ही माना जाता है।

वीर शैवमत की स्थापना इस मत के प्रमुख भक्तों के अनुभव के आधार पर अवलम्बित है। बसवेश्वर के समय में कल्याण में शिवानुभवमंटप अथवा अनुभव मण्टप नामक एक गोष्ठी की स्थापना हुई जिसमें वीरशैव भक्त समय समय पर मिल-कर आध्यात्मिक सामाजिक समस्याओं पर विचार विनिमय किया करते थे। इस मण्डप के सदस्य शिवशरण कहलाते थे जिनमें जातिगत या वर्णगत भेदभाव का अभाव था। कन्नड का वचन साहित्य शिवशरणों या शिवभक्तों के अनुभव सारस्य है। ये वचन एक प्रकार के गद्यगीत हैं। किसी छन्द का अनुकरण नहीं होने पर भी उनमें एक विशेष प्रकार का प्रवाह लय और प्राण विद्यमान है।[2]

१—मराठी और हिंदी कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ० २२८-२३२।

२—हिंदी और कन्नड में भक्ति आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन ले० डा० हिरण्मय। पृ०-९८ १०१ के उल्लिखित विचारों पर आवृत।

आलम्ब्य विषय की दृष्टि से जीव परमात्मा का अश भूत है । उसके दुखो होने का कोई कारण नही है । किन्तु विश्वोत्पत्ति के कारणीभूत मायाशक्ति के कारण मनुष्य को अपनी वास्तविकता का विस्मरण हुआ । माया कोई नया तत्व निर्माण नही करती । वह अपने अवकार से तत्व का सम्पूर्ण दर्शन नही होने देती । कभी-कभी उस तत्व का कोई न कोई कोर अथवा कला दिखाकर जीव को भ्रम मे डाल देती है । इसको वचनकारो ने विवरण कहा है । उनके अनुसार माया ने सारे विश्व पर अपना आवरण डाल दिया है । इस लिये बडे बडे बुद्धिमान जन भी विस्मृत के जाल मे फँस कर उसके अधीन हुए है अहकार के कारण कामनाओ का प्रारम्भ होना है । आशा-आकाक्षाए बढना है । वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा से वह मर जाता है । इन सबके मूल मे वह माया ही है । मैं परमात्मा का अश हूँ इसके विस्मरण से देह-भान पैदा होता है । इसमे शरा सुखो के प्रति अभिलाषा का सहज उद्रेक होना है और पचेन्द्रिया को सुख भावना का प्रारम्भ होता है ।[1] इस प्रकार वचन साहित्य मे माया-सम्बन्धी विचार बड़े ही स्पष्ट रूप मे प्राप्त होते है । कुछ वचनकारो के विचार इस प्रसग मे उद्धृत है ।

पानी जमकर जैसे हिम बन जाता है वैसे शून्य ही स्वय भू हुआ । उस स्वयभू लिंग मे मूर्ति बनी उस मूर्ति मे विश्व की उत्पत्ति हुई उसी विश्वोत्पत्ति से ससार बना उस ससार के अज्ञान पैदा हुआ, वह अज्ञानरूपी महामाया विश्व के आवरण मे "मैं जानता हूँ मै जाना" कहने वाले अज्ञानी मूर्खो को अधकार मे लपटकर कामनाओ के जाल मे फसाते हुए निगल रहा है । गुहेश्वरा ।[2]

माया के कार्य-क्षेत्र और उसके सामा विस्तार का चर्चा करते हुए वचन कारो का कथन है—

सूखे पत्ते चबाकर तपश्चर्या करने से भी माया नही छूटता । हवा खाकर गुफा मे जा बैठने पर भी वह पीछा नही छोडता । यह शरीर के अनेक व्यापारो को मन मे घेरकर व्याकुल कर देता है । ऐसे ही अनेक प्रकार के हिंसात्मक कार्य इस माया द्वारा हुआ करते है । सारा जगत इसके पाश मे तडप रहा है । निज गुरु स्वतन्त्र सिद्ध लिंगेश्वरा अपने से अभिन्न को इस माया जाल मे मै बचाकर ले जाना ही तेरा धर्म है ।[3]

मैं एक सोचता हूँ तो वह दूसरा ही सोचता है मैं इस ओर खींचता हूँ तो वह उस ओर खीचती है । उसने मुझे मुग्ध करके सताया था क्रुद्ध करके सताया

१—सन्तो का वचनामृत ले० श्री रङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर, भाषानुवादक श्री बाबुराव कुमेठकर ।पृ० ८८ ८०।

२—वही, पृ० २०६।

था। कृष्ण गजानन्द से मिलने समय भी मुझे आगे जाकर मिला। के धन में मगा रहता था वह माया।[1]

उपर्युल्लिखित तथ्यों से ज्ञात होता है कि माया की उत्पत्ति विश्वनाथ से है। यह सबसे बड़ी है। केवल ज्ञान-वैराग्य से यह दूर होती है। मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध पाप में उतारकर उसको गिराती है। यह मुक्ति के मार्ग में गर्त खोदकर अनेक बाधाओं का सृजन करती है। ज्ञानेश्वर के मार्ग में कंटक विस्तारण करती है। इस सम्बन्ध में तुकाराम कहते हैं — विश्व की विजय माया जाल फैलाकर बार बार आत्मज्ञान पैदा होने देती है उस जाल में मैं पड़ा था पर भी ज्ञानी मैंने नहीं देखा। मैं मैं बहुत बार कई लोगों को ज्ञानी विद्वान तत्त्वविज्ञानियों को उसके आगे जाल के फंदे में जकड़ा बाद में जाल में आनन्द ढूँढकर उसी फंदे में वंचित होकर ऐसा संसार सिसक रहा है। निज गुरु स्वतन्त्र सिद्धेश्वर अपना की ... करता है इस बात में। "कनक अहंकार धन और कामिनी को माया का रूप मानते हुए भी सबके ऊपर कामना को ही स्थान देते हैं।

मैं के अहंकार में जो माया वही दुःख लाता है। धन की माया बहुत है धरती की माया बहुत है दारा की माया बहुत है धन माया नहीं है धरती माया नहीं है दारा माया नहीं है मन के सामने रहने वाली कामना ही माया है — गुरुदेवा।

कांचन-नाम्नी कुतिया के पीछे पड़कर तुम्हें भूल गया था कांचन जी के लिए समय रहता था किन्तु तुम्हारी पूजा के लिए न था। कुतिया के पीछे मरने वाला कुत्ता अमृत का स्वाद कैसे जानेगा मेरे कुडलसंगमदेव।[3]

यहाँ माया के मूल में आशा लोभ कामना वासना इच्छा तृष्णा आदि का स्थान निर्विवाद रूप से माना गया है।

उक्त वचन में विश्व भर में माया की विस्तारणा का सम्यक् वर्णन हुआ है। है। माया के पाश में विश्व के सभी प्राणी फँसते हैं। फलतः उसमें पतित होते ही निःसत्त्वता का आक्रमण हो जाता है केवल भगवान् की दया से ही मनुष्य का उद्धार सम्भव है।

इस प्रकार कन्नड़ के सन्तों की इन उद्धृत वाणियों में जो माया के सम्बन्ध में विचार आए हैं वे हिन्दी साहित्य के भक्त कवियों के तत्सम्बन्धी विचार से पूर्णतः सम्बन्धित हैं। विश्व के कोने कोने में माया का विस्तार है। सृष्टि के समस्त प्राणी इसके पाश में आबद्ध हैं ज्ञानी विज्ञानी भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं। व्यक्ति माया से जितना ही दूर रहना चाहता है माया उतना ही उसे घेरे रहती है। एक भगवान्

१—वही, पृ० २०६।

२—वही, पृ० २१२। वचन १०८।

३—सन्तों का वचनामृत-ले० रङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर, अ० बाबूराव कुमठेकर पृ० २१०। वचन १५९ १६१ और १६८

की कृपा ही ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा माया का जाल सदा के लिये समाप्त हो जाता है। अन्य ये सभी बातें कन्नड और हिन्दी के आलोच्य कवियों में तत्समान हैं।

बंगला

हिन्दी तथा बंगाली वैष्णव कवियों की माया भावना के परीक्षण के अनंतर डा० रत्नकुमारी ने यह निष्कर्ष दिया है कि इस दृष्टि से 'दोनों साहित्यों में मूलतः कोई भेद नहीं जान पड़ता है। वर्णन करने की शैली और भावना का उपस्थित करने में विभिन्नता है परन्तु माया का स्वरूप कार्य इत्यादि क्या है, इसमें कोई विशेष मतभेद नहीं। वस्तुतः तुलसी सूर तथा बंगला के कृष्णदास ने माया के कार्यादि और अंगों पर समान रूप से ही विचार किया है।

कृष्णदास कविराज के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण की तीन स्वाभाविक शक्तियों में माया शक्ति भी एक है। यह जगत् के कारण स्वरूपा बहिरंगा शक्ति है। यह इष्टदेव की होती हुई भी उनसे बिल्कुल स्वतन्त्र है। वे मायाधीश हैं तथा हैं अतः उनपर माया का किंचित् प्रभाव भी नहीं पड़ता। वह तो दासी है तथा उनमें सदा गतश्रमित रहने वाली है। हाँ, यह अवश्य है कि कृष्ण इस माया को लेकर ही सृष्टि की सरचना में प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त संहार का कार्य भी इसे ही उठाना पड़ता है। समासतः इष्टदेव राम की आज्ञा और उनका बल प्राप्त करके ही यह अपना कार्य करती है अतः यह उनकी वशवर्तिनी है। हिन्दी के कबीर सूर तुलसी प्रभृति कवियों का माया सम्बन्धी विचार इसी धरातल पर उपजित है।

माया के वास्तविक स्वरूप का उल्लेख करते हुए कृष्णदास कहते हैं कि माया का वैभव अनंत ब्रह्माण्ड में है। यह माया निमित्त और उपादान दो अंशोंवाली है। तुलसी सूरादि हिन्दी कवि मैं और मेरा को माया बताते हुए जहाँ तक इन्द्रियों की पहुँच है उस सब को माया कहते हैं इस प्रकार माया के कार्यों का उल्लेख करते हुए कृष्ण दास कविराज कहते हैं कि गोलोक के बाहर कारणाब्धि सागर है। माया इसके बाहर रहती है अन्दर प्रवेश नहीं कर सकती। परमतत्व संकर्षण रूप से इस कारणाब्धि में शयन करते हैं वे माया को देखकर आकृष्ट हुए और उसके सहारे सृष्टि रचना की। यह माया संसार का उपादान कारण मात्र है निमित्त नहीं जैसे घड़े का निमित्त तो कुम्हार होता है दण्ड इत्यादि नहीं ये तो साधन मात्र हैं। उसी प्रकार स्वयं कृष्ण संकर्षण रूप में जगत् के कारण हैं। माया तो सहायता करती है। कृष्ण दास कविराज के कथनानुसार कृष्ण संहार कार्य भी माया की सहायता से करते हैं। या तो कृष्ण ब्रह्म की संगिनी सृष्टि का उपादान कारण स्वरूप विद्या माया के कार्य हैं।

कविराजजी के अनुसार कृष्ण सूर्य के समान हैं और माया अंधकार है। यह पिशाची माया जीव को अनेक प्रकार से त्रास देती है। उसके कारण वह काम, क्रोध का दास होकर उसकी लाठी खाता है। माया स्वतः जड़ होने पर भी राम के आश्रय से

गम्य भावना है, जैसा तुलसीदास का विचार है। पर कृत्तिवास उसे कृष्ण की बहिरंगा शक्ति बताते हैं। जिस प्रकार कृष्ण की दोनों अन्य शक्तियाँ अंतरंगा और तटस्था (जीव) गम्य हैं उसी प्रकार बहिरंगा भी है। कृष्ण की तीन स्वाभाविक शक्तियाँ हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सिद्ध है कि हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवियों की विशेषतया सूर और तुलसी की माया भावना में किसी विशेष प्रकार की भिन्नता नहीं है। उन दोनों भाषाओं के समकालिक कवियों में सतत् माया सम्बन्धी अनेक समानताएँ हैं।

इसी सन्दर्भ में कृत्तिवास कृत रामायण की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी। कृत्तिवास रामायण में तुलसी जैसा दर्शन का पक्ष प्रबल नहीं है तथापि उसमें दर्शन का अभाव भी नहीं है। उसमें ब्रह्म तथा जीव और जगत् की सम्बन्ध समझाने के लिए माया का आश्रय लिया गया है। कृत्तिवास आचार्य शंकर के समान राम को ब्रह्म सनातन अच्युत और अनादि अद्वय कहकर पुकारते हैं।[1] उनके अनुसार जीव जगत् के सम्बन्ध में अपना मत दे दिया गया है। किन्तु ब्रह्म को सगुण रूप धारण करने की बात माया द्वारा ही कही गई है। यह माया शब्द एक प्रकार से लीला का अर्थ-द्योतक है। कृत्तिवास ने आद्यन्त राम के ब्रह्मत्व को माया से आवृत्त माना है। तुलसी के राम जहाँ जानबूझ कर अपना ब्रह्मत्व भूल रहते हैं वहाँ कृत्तिवास के राम स्वयं रूप माया वश मनुष्यवत् आचरण करते दिखाई पड़ते हैं।[2] कृत्तिवास के राम यद्यपि मायावेश (मायावश) मनुष्य का आचरण करते रहे हैं किन्तु वे हैं देवताओं के स्वामी एवं जगत् के सार ही। उनके राम स्वयं चाहे जैसा आचरण करते रहे हैं किन्तु भक्त जन उन्हें सदा परात्पर ब्रह्म तथा त्रिदश का स्वामी मानकर उन्हें सत्य रूप प्रदान करते हैं।[3] कृत्तिवास ने तुलसी की भाँति गीतोक्त यदा यदा हि धर्मस्य को ही अवतार का कारण माना है। उनके अनुसार चतुर्व्यूह भगवान दुराचारी राक्षसों का विनाश करने के लिए पृथ्वी पर आकर माया से मनुष्य बन गए हैं। उन्होंने सीता को एक स्थान पर परमा प्रकृति भी कहा है। यद्यपि तुलसी के समान सीता के लिए वे उच्च दार्शनिक धरातल देने में असमर्थ रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी और बंगला के कवियों में माया धारणा के अतिरिक्त माया वर्णन प्रणाली में भी समानताएँ हैं।

१—कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन ले० डा० रमानाथ त्रिपाठी पृ० [illegible]६६।

२—वही पृ० २६०।

३—कृत्तिवासी रामायण और मानस का पृ० २४८।

उपस्करण-२

माया सीता

माया सीता की भावना का विकास वाल्मीकि के पश्चात् राम कथा में हुए विकास का परिणाम है। "माया सीता" का अर्थ है—'माया कल्पिता सीता।'[1] योग द्वारा अग्निकृत सीता वह कल्पित सीता जिसकी सृष्टि सीता हरण के समय अग्नि के योग से हुई थी। उक्त भावना का पूर्व विकसित रूप 'ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति खण्ड' में दृष्टिगत होता है। उसके अनुसार सीता हरण के समय अग्नि ने वास्तविक सीता को हटाकर उनके स्थान पर माया से एक दूसरी सीता खड़ी कर दी थी, पीछे सीता को अग्नि परीक्षा के समय पुनः लौटा दी।

अग्नि परीक्षा के समय माया-सीता ने राम और अग्नि से पूछा था "मैं अभी क्या करूँ? राह मार्ग बतला दीजिए।' इस पर अग्नि ने कहा— 'तुम पुष्कर में जाकर तपस्या करो।' अग्नि के वाक्यानुसार माया सीता ने तीन लाख वर्ष तक कठोर तपस्या की थी। उस तपोबल से माया सीता स्वर्ग लक्ष्मी बन गई थी। अध्यात्मरामायण में जब मारीच मायामृग का रूप धारण कर राम और सीता के समीप आता है तब स्वयं भगवान् रामचन्द्र सीता को बुलाकर एकान्त में कहते हैं— 'जानकी, भिक्षु रूप रावण तुम्हारे पास आयेगा, अभी तुम अपनी सदृशाकृति को छायारूप में रखकर अग्नि में प्रवेश करो और वहाँ एक वर्ष तक रहो। रावण वध के बाद मैं तुम्हें पुनः बुला लूँगा।' जानकी ने वैसा ही किया। अतः यहाँ माया सीता हरी गई थी, जिसका मर्म लक्ष्मण भी नहीं जानते थे।

डा० कामिल बुल्के ने अपने शोध ग्रन्थ 'राम कथा' में राम-कथा साहित्य में माया सीता की उद्भावना और उसकी सुदूर अतीत से आती हुई परम्परा का निर्देश करते यह निष्कर्ष दिया है— उपास्य देवी की मर्यादा की रक्षा करने के लिए भक्ति सीता की एक छायामात्र का हरण स्वीकार किया और साथ साथ राम की सर्वज्ञता को भी पूर्णरूप से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।[2] यहाँ उपास्य देवी की मर्यादा के रहस्य के संबंध में कुछ जानकारी आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण में सीताहरण का जो चित्रण हुआ है वह किंचित् अवश्य घृणाजनक कहा जा सकता है। यहाँ दनुजराज रावण एक हाथ में सीता के बाल और दूसरे हाथ से उनकी जंघाओं को पकड़कर उन्हें

१—हिन्दी विश्वकोष-श्री नगेन्द्रनाथ वसु सप्तदश भाग, पृ० ६४८।
२—रामकथा डा० कामिल बुल्के पृ० ३४८।

रथारूढ़ कर देता है। वाल्मीकि रामायण के अरण्य काण्ड तगत सर्ग ४९ में इसका वर्णन हुआ है। सम्भव है आदि कवि ने रावण वध को अधिक औचित्यपूर्ण दिखाने के लिए इस प्रकार का वर्णन परिपाटी को प्रश्रय दिया है किन्तु परवर्ती काल में इस वर्णन परिपाटी के उग्रता निवारण के लिए राम कथा साहित्य में दो मार्ग लिए गए। एक वृत्तान्त समूह के अंतर्गत रावण सीता को ले जाता है फिर भी उसका स्पर्श नहीं करता तथा दूसरे में वह वास्तविक सीता के बदले में सीता की छाया मात्र का हरण करता है। पहले वृत्तान्त समूह के अन्तर्गत नृसिंह पुराण तथा गुणभद्र के उत्तरपुराण में रावण एक ऐसा उपाय करता है जिसके फलस्वरूप सीता अपने आप विमान पर चढ़ती है यद्यपि रावण ने अपनी आकाशगामिनी विद्या को बैठा के डर से त्याग किया था। तिब्बती रामायण खोतन रामायण तथा अध्यात्मरामायणादि में न वृत्तान्तों में अलौकिकता का सहारा लिया गया है। उदाहरणस्वरूप उक्त रामायणों में रावण सीता स्थित भूभाग को खोदकर साथ साथ ले जाता है।

तमिल रामायण में पर स्त्री स्पर्श से मृत्यु के शाप के कारण वह पर्णशाला की गहराई तक खोदकर सीता तथा झोपड़ा को अपने रथ पर रख लाता है। अध्यात्मरामायण में जैसा पूर्व निवेदित है माया सीता का हरण रावण करता है तथापि पृथ्वी का तना न खोदकर उस माया सीता का भी स्पर्श नहीं करता। प्रसन्नराघव में सागर के 'अपि नाम मम वधूटिका स्पृष्टा निशाचरेण' पूछने पर गोदावरी यह बताती है कि रावण ने सीता पर हाथ डालना चाहा तब अनसूया का दिया हुआ अगराग अग्नि के रूप में सीता का आवरण बन गया था इस पर रावण गगन मण्डल में प्रज्वलित बादल रूपी आवरण में सीता को लेकर उसे ले गया।[1]

फिर भी सीता रावण के वश हुई हो यह विचार भक्ति भावना के लिए अग्राह्य और असम्भव सा प्रतीत हुआ अतः एक मायामयी सीता को वास्तविक सीता का स्थान लेना पड़ा। इसमें पहले तो एक माया सीता का हरण होता है और दूसरे वास्तविक सीता अग्नि में निवास करने जाती है। वाल्मीकि रामायण में लंकाकांड में इन दोनों तत्वों का मूलाधार सूत्र विद्यमान है। उक्त कांड में इन्द्रजीत सर्ग ३२ में सीता को विद्युज्जिह्व द्वारा निर्मित राम का एक मायामय शिर दिखाया जाता है और पश्चात् सर्ग ८१ में मेघनाद वानर सेना के समक्ष एक मायामयी सीता का शिरच्छेदन करता है। राजशेखर के बाल रामायण में किंचित् भिन्न रूप में इसी का विकास हुआ है। वाल्मीकि रामायण की एक उपमा जिसमें कहा गया है कि रावण ने सीता को नभ में रख लिया मानोमय ने अपने मस्तक में धारण माया को— 'जिहीर्षु रावण सीता मखे मायामिवासुराम्' इसमें माया सीता की कल्पना के उदय अथवा उसके सहायक रूप की सम्भावना सम्भव है।

अब वास्तविक सीता के अग्नि निवास वाले प्रकरण को भी देखा जाय।

1—राम-कथा—डा० बुल्के, पृ० ३४६।

डा० बुल्के का अभिमत है कि वाल्मीकि रामायण में अग्नि परीक्षा के अवसर पर अग्नि, सीता की रक्षा करके और उनके पातिव्रत्य का साक्ष्य देकर अन्य देवताओं में अधिक महत्वपूर्ण स्थान लेते हैं। और इस तरह आगे चलकर सीताहरण के प्रसंग में भी अग्नि का उल्लेख होने लगता है। श्रीमद्देवीभागवत[1] में सीता रावण का प्रस्ताव सुनकर गार्हपत्य अर्थात् झोपड़ी में स्थापित अग्नि की ओर शरणार्थ भाग जाती हैं। द्विपाद रामायण में लक्ष्मण सीता जी की रक्षा का भार अग्निदेव पर सौंपकर राम का सहायता करने जाते हैं। यहां सीता अग्नि की पुत्री मानी गई है। कूर्मपुराण के पतिव्रतोपाख्यान में निर्जन वन में टहलती सीता रावण को आते देखकर और उसका अभिप्राय समझकर घर की अग्नि की शरण लेती है। यहां अग्नि से एक मायामयी सीता निकलती है जिसे रावण लेकर ले जाता है। रावण वध पश्चात् राम के शंका किए जाने पर सीता अग्नि में प्रवेश कर जल जाती है और अग्नि प्रकट होकर सीता को देकर समस्त रहस्योद्घाटन राम के समक्ष करते हैं। ध्यातव्य है कि इसके अनुसार राम केवल अग्नि परीक्षा के समय जान जाते हैं कि वास्तविक सीता का हरण नहीं हुआ था। किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण में सीताहरण के पूर्व ही अग्नि देव ब्राह्मण के वेश में आकर सीताहरण की बात राम से कहते हैं और वास्तविक सीता को साथ लेकर उसकी छायामात्र को उन्हें देकर वे चले देते हैं। इसमें माया सीता भी तीन लाख वर्ष तक तपस्या कर लक्ष्मीपद प्राप्त करती है।

अध्यात्मरामायण में रावण मारीच का षडयन्त्र जानकर, राम एकान्त में सीता से अपनी छाया को कुटी में छोड़कर अग्नि में प्रवेश कर जाने को कहते हैं। इस प्रकार माया सीता वह्नि स्वाधय स्वयमन्तर्दधे नले' और रावण वध के पश्चात् माया सीता अग्नि में प्रवेश करती है और अग्नि वास्तविक सीता को प्रदान करते हैं। आनन्द रामायण में खरादि-वध के पश्चात् राम सीता को तीन रूप में विभक्त हो जाने को आदिष्ट करते हैं—रजो रूप में अग्नि में वास सत्व से राम के वामांग में तथा तमोरूप से वन में। यहां सात्विक और रजोमयी दोनों रूपों की रक्षा होती है और रावण को केवल तमोमयी छाया हाथ लगती है।

रामचरितमानस में, जो "रामचरित सत कोटिअपारा" के मध्य 'स्थित पृथिव्याइव मानदण्ड' है माया सीता का रूप पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर ही है। मानस में खरदूषण युद्ध के पश्चात एक दिन लक्ष्मण के पुष्पचयनार्थ बाहर जाने पर सीता से 'तुम पावक महं करहु निवासा—जौं लगि करौं निसाचर नासा' की बात कहते हैं वह प्रभु के चरणों को हृदय में रखकर अग्नि में समा जाती है। पुनः वह अपनी छाया मूर्ति को वहाँ प्रस्थापित करती है जो उमा के समान शान्त स्वभाव और रूपवती है। इसी प्रकार सीताहरण-प्रसंग में रावण के भयंकर रूप को देखकर सीता जो कहती हैं—आय गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा' और तब रावण क्रुद्ध होकर उन्हें रथ पर बैठा

१—वही, पृ० ३५०।

लेता है 'आरोपन्त तब रावन लाइसि रथ बैठाय' इस प्रकार उन्हें रथ पर बैठाना है गोस्वामी जी ने इस प्रसंग को अनावश्यक जानकर छोड़ दिया है। कृत्तिवास ने भी केवल इतना लिखा है—' रावण ने सीता को पकड़कर रथ पर चढ़ा लिया।

डॉ० बुल्के ने इसी प्रसंग में यूनानी साहित्य में वर्णित होमर के काव्य का एक पात्र हेलन का हवाला दिया है। उन्हीं के शब्दों में— होमर के काव्य में हेलन पतिता बनकर अपने अपहर्ता पेरिस के साथ स्वेच्छा से भाग निकलती है और युद्ध के बाद अपने पति मेनलाउस को पुनः प्राप्त होती है। यूनानी धार्मिक विकास में वह हेलन बाद में देवी मानी गई। फलस्वरूप भक्तों ने होमर की सुनी उस इष्टदेवी की मर्यादा के प्रतिकूल समझ कर उसे इस तरह बदल दिया है कि पेरिस हेलन की एक माया (इडोलन) मायामयी मूर्ति अपने साथ ले जाता है। स्पष्ट है कि भक्ति भावना के दृष्टिकोण से माया-सीता का समानान्तर परिष्कार भारतीय साहित्य में हुआ है ऐसा डॉ० बुल्के के कथन से लक्षित होता है। भारत में सीता नारी की पवित्रता की चरमादर्श मानी गई है। जिस समय मुसलमानों का शासन था नारी की पवित्रता का प्रयोजन और भी बढ़ गया था। अतएव रावण द्वारा अस्पृष्ट की सीता का वर्णन करने के लिए माया-सीता की कल्पना हुई ऐसा भी कुछ विद्वानों का विचार है।

यहाँ गोस्वामी तुलसी दास जी के मानस के आधार पर उक्त कथन की त्रुटियों की ओर दृष्टि निक्षेप करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि भक्ति-भावना के विचार से यदि रामकाव्य के कवियों को वास्तविक सीता के बदले में माया सीता दिखलानी होती है तो कम से कम गोस्वामी जी उनके सम्बन्ध में ऐसा अपमानजनक वर्णन नहीं कर सकते थे। जिस सीता की विरति का वर्णन नहीं किया जाय वही ठीक है विनति करै भल दीन दयाला। उन्होंने रावण द्वारा दी गई अनेक प्रताड़नाओं तथा दुर्वचनों का वर्णन समानरूप से बिना किसी सूचना कथन के किया है। दूसरे यह कि डॉ० बुल्के ने माया सीता की पृष्ठ भूमि में जिस भक्तिभावना की मर्यादा में असहिष्णुता को स्थान दिया है वह स्थान लोक संग्रह को मिलना चाहिए। आरम्भ में ही हमारे आर्य मनीषियों का इस तरफ बराबर ध्यान रहा है। वाल्मीकि ने लोक-सम्राट् राम के सीता त्याग में इसी लोक मर्यादा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'मानस' के लंकाकाण्ड में जब सीता परम प्रज्वलित अग्नि में अपनी पवित्रता-प्रमाण हेतु प्रकट होती है तो उसमें उसकी छायामूर्ति और लौकिक कलंक ही जलते दिखाई पड़ते हैं। तीसरे राममक्त कवियों में विशेषतः गोस्वामी जी ने भक्तों की भावना के अनुसार राम के बालक रूप का, कभी शक्ति संयुक्त रूप का कभी शक्ति और अशक्ति संयुक्त (सीता और लक्ष्मण रूप का और कभी सखा आदि) रूप का भी ध्यान किया है राम वामदिसि जानकी लखन दाहिनी ओर वाला ध्यान अनेक दृष्टियों से महत्व प्राप्त है। राम विष्णु हैं, लक्ष्मण महाकाल शिव हैं क्योंकि वे कालानल सर्वाधिक संकर्षण के अवतार हैं और सीता मूल प्रकृति महामाया का अवतार होने के कारण सृजन शक्ति सम्पन्न ब्रह्म की पत्नी हैं। फिर राम निर्गुण ब्रह्म

हैं (क्याकि उनम सब रगा का लय है) लक्ष्मण सगुण ब्रह्म हैं (क्योकि उनके उज्ज्वल वण म सब रग विकसित हैं) और सीता वह मायाशक्ति है जो सगुण और निगुण के बीच व्यवधान रूप से रहकर भा निगुण को अकशायनी है। चौथे, विशिष्टाद्वैत मत स चिद्विद्विशिष्ट इश्वर ही परम आराध्य है। इस दृष्टि से लक्ष्मण चित् (जीव) और सीता अचित् (माया) से विशिष्ट राम ईश्वर रूप म प्रतिष्ठित होत हैं। यहाँ राम चित् और अचित् से विशिष्ट ईश्वर माने गए हैं। पाँचवे, गोस्वामीजी के अनुसार राम ने माया मे मनुष्य रूप धारण किया है। राम जगत् के ईश्वर हैं जानकीजी उनकी माया हैं, जो उनका रुख पाकर जगत् का सृजन पालन और सहार करती है। इसी प्रकार पार्वती जी माया हैं और शिवजी भगवान् हैं।

उपरिनिर्दिष्ट तथ्यो से यह प्रमाणित है कि माया सीता का सम्बन्ध केवल एक विचार तन्तु से न मानकर लोक का य, दशन आदि विभिन्न क्षेत्रा के विराट सश्लेष म ही देखना उचित होगा और उक्त बातो के सश्लिष्ट रूप का भव्य निदर्शन हम "मानस म पाते हैं भले ही वह 'साहित्यिक न्याय भावना' का विकास हो क्या न हो। क्योकि इसस डॉ० बुल्के का समस्त स्थापना समूल समाप्त हो जाता है और माया सीता का वास्तविक रूप हमारे सामन आ जाता है।

योगमाया राधा

हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य मे कृष्णभक्ति शाखा, राधा और कृष्ण की युगल उपासना समन्वित भक्ति से आद्यन्त आपूरित है किन्तु इस वैष्णव भक्ति मे राधा का समावश किस युग मे हुआ यह निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता। कृष्ण भक्ति शाखा के प्रत्यक वैष्णव सम्प्रदाय म राधा की किसी न किसी रूप म स्वीकृति इस विषय का और भी आश्चय म डाल दती है। राधा के स्वरूप और उसकी शक्ति का कल्पना स्वानुकूल मतो का ही परिणाम है। यहाँ राधा क उद्भव विषयक कुछ तथ्यो पर विचार कर लेना आवश्यक है।

यद्यपि वैष्णव सम्प्रदायो मे राधा कृष्ण की भांति अनादि और अनन्त है तथापि विद्वानो न उसके ऐतिहासिक स्वरूप का भी सधान करने का प्रयत्न किया है। सर भण्डारकर क अनुसार राधा आय जाति को दवी न होकर आभीर जाति की इष्ट देवी थी।[1] भक्ति क्षेत्र म राधा की उत्पत्ति सम्बन्धी दो मत डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के है जिसमे प्रथम तो भण्डारकर क मत का पुष्टिमात्र है और दूसरे मे अनुमान के आधार पर यह बताया गया है कि राधा इसी देश की आभीरजाति की प्रेमदेवी रही होगी। बाद म आर्यों म इसकी प्रधानता होने पर कृष्ण के साथ भक्ति के लिये इसका सम्बन्ध जोड दिया गया। इसका सीधा अथ यही है कि सामान्य देवी राधा को कालान्तर मे विशेष स्थान मिल गया।[2]

१—वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर रेलीजस सिस्टम्स—डा० भंडारकर पृ० ३८।
२—सूर साहित्य—डा० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १६ १७।

तन्त्रों के प्रभाव में पूर्ण होकर कुछ विद्वानों ने शाक्त तन्त्र के प्रकृतिवाद को राधा का आधार माना है। डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है 'हमारी सम्मति में इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप में शाक्तों की प्रकृति ही है।' ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड में लिखा है— ममाहं न स्वतन्त्राश्च मूलप्रकृतिरीश्वरी। शैव तथा शाक्त तान्त्रिकों के अनुसार राधा की विकास शक्ति की कल्पना में निहित है। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने राधा की उत्पत्ति के मूल में तात्त्विक दृष्टि से शक्तिवाद का प्रभाव माना है— राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है जो सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन में भिन्न भिन्न प्रकार के रूप लेकर भिन्न भिन्न युगों और भिन्न भिन्न रूपों में विविध परिणति को प्राप्त हुआ।'[1] इनके अतिरिक्त राधा को शक्ति का प्रतीक मानने वाले तथा राधा का आध्यात्मिक रूप में विवेचन करने वाले कुछ विद्वान राधा को मनोदशा का स्वरूप भी करते हैं जो भगवान् कृष्ण की अन्तरंग महाशक्ति की ही रूप है। यह शक्ति ही सृष्टि निर्माण, पालन और विनाश का कारण होती है। वृहद् गौतमीय तन्त्र में रूप-शिल्प का वर्णन करते हुए राधा को कृष्ण की वल्लभा कहा गया है। संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों में कृष्ण की व्रजलीला और गोपियों के साथ राधा का सामान्य नाम भी आया है। इस दृष्टि से गाथा सप्तशती, वेणीसंहार, ध्वन्यालोक, नलचम्पू, शिशुपालवध, दशरूपक, दशावतारचरित आदि ग्रन्थ विशेष रूप से परिगणनीय हैं। राधा का विशद वर्णन करने वाले कवियों में गीतगोविन्दकार जयदेव का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यथार्थ में राधा को काव्य के माध्यम से भक्ति क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। बारह सर्गों में समाविष्ट इस मधुर काव्य का लक्ष्य राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं के जन मन रंजन रूप में भक्ति का तत्त्व रूप प्रस्तुत करना है।

राधा के आध्यात्मिक या दार्शनिक स्वरूप का वर्णन सर्वप्रथम पुराणों में ही मिलता है। विष्णु की शक्ति के रूप में राधा के विविध रूपों का वर्णन सर्वप्रथम हमें यहीं प्राप्त होता है। यद्यपि वैष्णव साधना का महत्त्वपूर्ण भागवतपुराण में राधा का उल्लेख नहीं मिलता। केवल कुछ नूतन हरिप्रिय राधितो राधा इतर प्रपितह जैसी कष्ट-कल्पनाओं के आधार पर इस शब्द की स्थिति वहाँ मानी जाती है। प्रोफेसर विल्सन ब्रह्म वैवर्त्त पुराण का हवाला देते हुए राधा की शक्ति का कृष्णनिष्ठ होना सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार राधा की प्रेयसी है और गोलोक में कृष्ण के साथ रहती है। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में राधा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। रकार का उच्चारण कोटि जन्मों के अर्जित शुभाशुभ कर्मफलों को दूर करता है आकार गर्भवास, मृत्यु आदि से छुड़ाता है धकार आयु की हानि से बचाता है और आकार भवबन्धन से मुक्ति प्रदान करता है।[2]

१—हिन्दू रिलिजन्स—प्रो० एच० एच० विल्सन, पे० ११३।

पद्मपुराण के उत्तराखड प्रकरण मे राधाष्टमाव्रत के प्रसगत राधापूजन का महत्व जो बताया गया है उसका परवर्ती राधा पूजा या भक्ति के गृहीत रूप से पूर्णत साम्य है। इसी प्रकार देवी भागवत म राधा की पूजा का विस्तार स वर्णन है। इसके अनुसार राधा की पूजा किए बिना कृष्ण की पूजा का अधिकार नही है। राधिकोप निषद् मे श्रीकृष्ण एकमात्र सर्वेश्वर है। इनकी आह्लादिनी सधिनी ज्ञान, इच्छाक्रिया आदि बहुत सी शक्तियाँ हैं। इनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान है। यही परम अन्तरगभूत श्री राधा है।

पुन चण्डीदास और विद्यापति के राधा में राधा का विलक्षण रूप देखने को मिलता है। इनमे क्रमश परकीया रूप तथा वय सधि के देहली पर स्थित मुग्धभाव का नारी का अकन हुआ है। चण्डीदास ने तो राधाकृष्ण प्रेम को धार्मिक क्षेत्र म लाकर एक क्रान्ति मचा दी। इसी प्रकार रूप गोस्वामी की माधुर्य भाव परक भक्ति भी उनके रूपों म स्वीकृत तथा समादृत हुई है। यहाँ शक्ति और शक्तिमान का भेद स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की नित्यशक्ति माना गया जो आह्लादिनी शक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप है। कृष्ण पूर्णात्मा हैं और राधा उनका अशमात्र है जो भक्ति द्वारा स्वय पूर्णात्मा म लीन होने की साधना करती है।

वल्लभ सम्प्रदाय म राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चादनी का है। भगवान् की रस शक्तियों के मध्य की रस सिद्ध शक्ति राधा स्वामिनी रूपा है। भगवान् रस शक्तियो के बीच पूर्ण रस शक्ति स्वरूप राधा के वश म रहते हैं। इस प्रकार राधा कृष्ण की अश स्वरूपा शक्ति के रूप म उसका अभिन्न रूप मानी गई है। सूरदास ने राधा का वर्णन आध्यात्मिक रूप म भी किया है। राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष मानकर कहीं कहीं अभेद रूप स अद्वैत की भी स्थापना की गई है। कुछ पदों मे राधा का वर्णन जगदाधारिका शक्ति के नाम से भी है। यहीं राधा का कृष्ण के साथ विवाह भी हुआ है। नन्ददास ने रासपचाध्यायी म गोपियो की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्हें सिद्ध कोटि की पुनीत आत्मा कहा है।

सूर के काव्य म राधा के विकास के जिस स्वर का परिचय मिलता है प्राय उसी का पिष्टपेषण अष्टछाप के अन्य सभी कवियो म मिलता है। जहाँ 'सूर' राधा और कृष्ण की अभिन्नता सिद्ध करते हुए अपना मत आध्यात्मिक जगत् म प्रस्तुत करते हैं वहीं राधा बहुत कुछ पौराणिक रूप लेकर ही अवतरित होती है। हम पूर्व कह आए हैं कि ब्रह्म वैवर्त्त पुराण म राधा श्रीकृष्ण की मूल प्रकृति के रूप मे प्रतिष्ठित माना गई है। राधिकोपनिषद् म वृषभानुसुता गोपा मूल प्रकृतिरीश्वरी आदि कही गई है। पुन दार्शनिक दृष्टि स देखा पर भी सांख्यशास्त्र के पुरुष प्रकृतिवाद को राधा कृष्ण के युगपत् आधार का हेतु प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण (पुरुष) और राधा (प्रकृति) की प्रकल्पना साधक दृष्टि गत होता है। डा० मुशीराम शर्मा ने तो इसार आनाध्य वैष्णव धर्म का राधा

को अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही माना है। पुराणों में प्रायः प्रकृति विष्णु माया के रूप में प्रतिष्ठित है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में वर्णित है कि सृष्टि के समय माया से मालित होकर परमेश्वर ने स्थावर जंगमात्मक समुदाय विश्व का सृजन किया। भागवत के अनुसार भी अगुण विभु ने गुणमयी सद्रूपा आत्ममाया के द्वारा ही यह सारी सृष्टि की है। माया और प्रकृति सर्वथा एक नहीं है—प्रकृति माया शक्ति का एक विशेष क्रियात्मक रूप है जो विश्वप्रसविनी है। गीता में भगवान् 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' कहकर स्पष्टतः स्वरूप विवेचन करते हैं। पुराणों में विष्णुमाया के दो रूप मिलते हैं (१) विष्णु की आत्ममाया (२) त्रिगुणात्मिका ब्रह्ममाया। त्रिगुणात्मिका माया विष्णु की अभिन्ना मात्र है। विष्णु की आत्ममाया को ही वैष्णवी माया कहते हैं और यही योगमाया भी कहलाती है। श्रीमद्भागवत के अनुसार योगमाया ही कृष्ण की सारी प्रकट लीलाओं की सहायिका है। वैष्णवाचार्यों[1] ने लीलापक्ष की प्रधानता के लिए इसी योगमाया का प्रश्रय दिया। इन पुराणों के आधार पर राधातत्त्व की भावना को वैष्णव साहित्य में अवश्य ग्रहण किया गया। श्रीमद्भागवत में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् की ऐश्वर्यशालिनी योगमाया भी जिसने सारे जगत् को मोहित कर रखा है उनकी आज्ञा से लीलाकार्य सम्पन्न कराने के लिए अंशरूप से अवतार ग्रहण करती है।

अष्टछाप के कवि सूर ने राधा को पुरुष की प्रकृति माना है। वे कहते हैं—
प्रकृति पुरुष श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
तैं ब्रजबसि बिसराई।[1]

पुनः उक्त भाव को पल्लवित करते हुए कहते हैं—
ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानो बातनि भेद करायो।[2]

इसी प्रकार प्रकृति पुरुष नारी में वे पति काहे भूल गई[3]

यहाँ प्रकृति और पुरुष की एकरूपता मानी गई है। जिसमें तुम माया भगवान् शिव सकल जगत् पितु मात की ध्वनि अन्तर्निनादित होती है। इस प्रकार राधा और कृष्ण की अभिन्नता भी तत्त्वतः अर्थ को ही प्रतिफलित करती है। सूरदास के कृष्ण क्योंकि साक्षात् ब्रह्म के रूप ही हैं जिनको ध्यान करते करते सनक और शिव भी थक जाते हैं किन्तु गम्यता होय नहीं लगती। राधावल्लभी मत में भी कृष्ण और राधा पुरुष और प्रकृतिरूप हैं। नित्य विहारी श्रीकृष्ण एकमात्र पुरुष हैं तथा उनकी निजरूपा 'ह्लादिनी प्रेम शक्ति राधा परम प्रकृति'[4] इस प्रकार कृष्णभक्ति शाखा की भक्ति में राधा के स्वरूप प्रकृति के रूप में अर्थात् योगमाया के रूप में अंकित हुआ है।

१—सूरसागर (नागरी प्रचारिणी सभा), पद ३४३४।
२—वही, पद २३०५। ३—वही, पद २३०६। ४—साहित्यकोश पृ० २६६

उपजीव्य एवं उपस्कारक ग्रन्थो की सूची

वेद-ऋग् यजु साम अथर्व । स० प० श्रीराम शर्मा आचाय, सस्कृति सस्थान, बरेला । उपनिषद् इश, केन, कठ प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य श्वेताश्वतर, वृहदारण्यक और छान्दोग्य । गीताप्रेस गोरखपुर ।

१०८ उपनिषदें स० श्रीराम शर्मा । आचाय सस्कृति सस्थान बरेला ।

ब्राह्मण-ऐतरेय शतपथ ।

पुराण-श्रीमद्भागवत भविष्य, गरुड, पद्म, विष्णु ब्रह्मवैवर्त, वायु, वाराह, कूर्म, देवी भागवत मार्कण्डेय, वामन और शिव ।

महाभारत-चतुर्थ, पचम खड गीता प्रेस, गोरखपुर ।

निरुक्त	भास्कराचार्य
श्रीमद्भागवत सुबोधिनी भाष्य	
मनुस्मृति गीताप्रेस, गोरखपुर ।	
नारदभक्तिसूत्र "	
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र "	
भगवद्गीता "	
वाल्मीकि रामायण	
अथर्ववेद सहिता-	स० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यात्मरामायण	गीताप्रेस गोरखपुर ।
पाचरात्र अहिर्बुध्न्यसहिता जयाख्यसहिता ।	
कालिदास ग्रन्थावली	स० प० सीताराम चतुर्वेदी ।
भास नाटक चक्रम् (दो भागो मे)	चौखम्बा सस्कृत सीरिज वाराणसी ।
चम्पूरामायण	भोजराज
अनघ राघव	मुरारि
किरातार्जुनीयम्	भारवि ।
नैषध	श्रीहर्ष
यशस्तिलक चम्पू काव्यम्	सोमविरचित ।
सिद्धान्त लेश सग्रह	अप्पयदीक्षित
कथासरित्सागर	स० केदारनाथ शर्मा सारस्वत
गीता पर गूढार्थप्रदीपिका	श्री मधुसूदन सरस्वती

गाता (रामानुजभाष्य)	गाता प्रस गोरखपुर ।
गाता (शकर भाष्य)	
तत्वदाप (सप्रकाश)	वल्लभाचाय ।
प्रबोधचन्द्रोदय	कृष्णमिश्र निणय सागर प्रस, बम्बई ।
ब्रह्म सूत्र	बादरायण ।
ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य	वल्लभाचाय
ब्रह्म सूत्र पर शकर भाष्य	शकराचाय
महिम्नस्ताव	पुष्पदन्त निणयसागर प्रस, बम्बइ
यागसूत्र (पातजलियागसूत्र)	पतजलि
विवक चूडामणि	शकराचाय गाता प्रस, गारखपुर
सवदशन सग्रह	भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टाटयूट पूना ।
सिद्धान्त बिन्दु	मधुसूदन सरस्वता
सान्दरनन्द	श्रा अश्वघाष
ऋग्वदाय ऐतरय ब्राह्मण	श्रा गगाप्रसाद पाण्डय
घरड सहिता	श्रा शचन्द्र द्वारा सपादित ।
विवरण प्रमय सग्रह	श्रा विद्यारण्य मुनि स० श्रीकृष्णपन्त
पचदशा	,
शुद्धाद्वैत मार्तण्ड	गास्वामा गिरिधर
तत्वार्थदापनिबंध शास्त्राथ प्रकरण	श्रीवल्लभाचाय
लघुभागवतामृत	श्रा रूप गास्वामा

अणुभाष्य भाग १ तथा २ बनारस सस्कृत सारिज ।

हिन्दी की पुस्तकें

नैषध परिशालन	डा० चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल
चार्वाक दशन का शास्त्राय समाक्षा	डा० सदानन्द पाठक
भारतीय वाङ्मय म राधा	बलदव उपाध्याय
मध्यकालीन हिन्दा कवयित्रियाँ	डा० सावित्रा सिन्हा
प्राचीन भारताय लाक धम	डा० वासुदव शरण अग्रवाल
भारताय प्रताक विद्या	डा० जनादन मिश्र
साधना	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
भक्ति काव्य क मूल स्रोत	दुर्गाशकर मिश्र
श्रा शकराचाय	बलदव उपाध्याय
मार्कण्डय पुराण (एक सास्कृतिक अध्ययन)	वासुदव शरण अग्रवाल

उपजीव्य एवं उपस्कारक ग्रन्थों की सूची

नाथ सिद्धों की बानियाँ	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
नाथ सम्प्रदाय	"
सूर साहित्य	"
हिंदी साहित्य उद्भव और विकास	"
हिन्दी साहित्य की भूमिका	"
कबीर	"
गोरखबानी	डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल
हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	अनु० परशुराम चतुर्वेदी
रामानन्द की हिंदी रचनाएँ	"
शैवमत	डॉ० यदुवंशी
संत वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव	डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
कविवर परमानन्द दास और वल्लभ सम्प्रदाय	डॉ० गोवर्द्धन नाथ शुक्ल
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डॉ० दीनदयालु गुप्त
अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्यांकन	डॉ० माया रानी टंडन
हिंदी कृष्ण काव्य पर पुराणों का प्रभाव	डॉ० शशि अग्रवाल
सूरसागर शब्दावली	डा० निर्मला सक्सेना
सूर और उनका साहित्य	डा० हरबंश लाल शर्मा
सूरसागर	स० नन्ददुलारे वाजपेयी
सूरसारावली	स० प्रभुदयाल मीतल
रास पंचाध्यायी	ब्रजरत्नदास
गीतारहस्य	बाल गंगाधर तिलक अनु० माधव राव सप्रे
नन्ददास ग्रन्थावली	ब्रजरत्नदास
ब्रजभाषा सूर कोश	डा० दीनदयालु गुप्त
परमानन्दसागर	परमानन्ददास
अष्टछाप की राधा और गोपियाँ (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध)	डॉ० चम्पा वर्मा
नन्ददास, दर्शन, साहित्य तथा शास्त्रीय तत्व (अप्रकाशित)	परमानन्द पाठक
सूरवर्णित रासलीला का दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय अध्ययन (अप्रकाशित शोध)	डॉ० राजनारायण राय

सूरवर्णित कृष्णकाव्य पौराणिक आधार	डा० श्रीकान्त मिश्र
हिन्दी के जनपद संत	भगवतशरण उपाध्याय
मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	डा० मोती सिंह
कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
रामानन्द सम्प्रदाय और उसका हिन्दी पर प्रभाव	डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव
संत पलटूदास और पलटू पंथ	डा० राधाकृष्ण सिंह
निर्गुण काव्य दर्शन	श्री सिद्धिनाथ तिवारी
संत परंपरा और साहित्य	डा० विश्वनाथ प्रसाद
कबीर	सं० विजयेन्द्र स्नातक
कबीर साहित्य सिद्धान्त और साधना	परशुराम चतुर्वेदी
कबीर साहित्य की परख	
उत्तरी भारत की संत परम्परा	
मध्यकालीन प्रेम साधना	
कबीर एक विवेचन	सरनाम सिंह शर्मा
कबीर साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा
कबीर ग्रंथावली	सं० श्यामसुन्दर दास
हिन्दी संत साहित्य	त्रिलोकी नारायण दीक्षित
निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास	डॉ० भगीरथ मिश्र
कबीर दर्शन	डा० रामजीलाल सहायक
श्री गुरुग्रंथ दर्शन	डा० जयराम मिश्र
नानकवाणी	
मीरा दर्शन	प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव
कबीर की विचारधारा	गोविन्द त्रिगुणायत
मध्यकालीन हिन्दी सन्तसाहित्य की साधना-पद्धति	केसरी प्रसाद चौरसिया
निर्गुण धारा	बैजनाथ विश्वनाथ

मीराबाई	श्री कृष्णलाल
मीराबाई की पदावली	परशुराम चतुर्वेदी
मीराबाई और उनकी प्रेमवाणी	नानचन्द्र जैन
मीरा स्मृति ग्रन्थ	बंगीय हिन्दी परिषद्
हिन्दी और मराठी का निर्गुण संत काव्य	डा० प्रभाकर माचवे
संत कबीर	अध्यापक उपेन्द्र कुमार दास
जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
जायसी और उनका पद्मावत	प्रो० दान बहादुर पाठक
जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य	डॉ० सरला शुक्ल
हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य	डॉ० सियाराम तिवारी
मध्यकालीन संत साहित्य	डा० राम खेलावन पांडेय
मध्यकालीन साहित्य में अवतार	डा० कपिलदेव पांडेय
मध्यकालीन साहित्य की साधना पद्धति	केशनी प्रसाद चौरसिया
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
रामकथा उत्पत्ति और विकास	डा० कामिल बुल्के
कम्बन रामायण और तुलसी	सु० शंकर राजनायडू
तुलसी	यज्ञ दत्त शर्मा
सूर	,,
हिंदी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य	डा० के० भास्करन नायर
कृत्तिवासी बंगला रामायण और मानस का तुलनात्मक अध्ययन	डा० रमानाथ त्रिपाठी
पद्मावत	मलिक मुहम्मद जायसी
अखरावट	,,
आखिरी कलाम	,,
तुलसी रत्नाकर	भगवती सिंह
रामचरित मानस का तत्व दर्शन	श्रीशकुमार
भक्तिकाव्य में रहस्यवाद	डा० रामनारायण पांडेय
तुलसीदास जीवन और विचार धारा	डा० राजाराम रस्तोगी
भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम शर्मा

गाम्वामा तुनसा नाम	प० रामचन्द्र शुक्ल
गाम्वामा तुनसा नाम	श्यामसुन्दरदास और पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना	व्योहार राजेन्द्र सिंह
चिंतामणि	प० रामचन्द्र शुक्ल
तुलसीदास	डॉ० माता प्रसाद गुप्त
तुलसी दर्शन मीमांसा	डा० उदयभानु सिंह
तुलसीदास	चन्द्रबली पाण्डेय
रामचरितमानस की भूमिका	रामदास गौड़
रामभक्ति शाखा	डा० रामनिरंजन पाण्डेय
भक्तिवाद के स्रोत	श्री रमाकान्त मिश्र
वैष्णव धर्म	परशुराम चतुर्वेदी
तुलसी का मायावाद	श्री नन्दकिशोर तिवारी (अप्रकाशित निबंध)
संत दर्शन	त्रिलोकी नारायण दीक्षित
मानस दर्शन	डा० श्री कृष्ण लाल
तुलसी दर्शन	डा० बलदेव प्र० मिश्र
तुलसी के भक्त्यात्मक गीत	डा० वचनदेव कुमार
हिंदुत्व	रामदास गौड़
समन्वय	डा० भगवानदास
दर्शन अनुचिंतन	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबंध	डा० उदयभानु सिंह
वेदान्त दर्शन	रामस्वरूप दास
बंगला भाषा और साहित्य पर हिन्दी का प्रभाव	डा० ब्रह्मानंद
हिन्दी काव्य में मानव तथा प्रकृति	डा० रामेश्वर प्रसाद शुक्ल
महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबंध काव्य पर प्रभाव	डा० विनय
हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि	डा० रत्नकुमारी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	प० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वंभर उपाध्याय

धर्मशास्त्र का इतिहास	— पी० वी० काणे, अनु० अर्जुन चौबे काश्यप
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रन्थ	बड़ा बाजार लाइब्रेरी, कलकत्ता
महादेवी अभिनंदन ग्रन्थ	
श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी अभिनंदन ग्रन्थ	सं० नलिन विलोचन शर्मा
मराठी और कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन	डा० र० श० केलकर
वाल्मीकि और तुलसी साहित्यिक मूल्यांकन	राम प्रकाश अग्रवाल
वैदिक दर्शन	डा० फतह सिंह
मानस पीयूष	सं० अंजनी शरण (गीता प्रेस गोरखपुर)
भागवत धर्म	हरिभाऊ उपाध्याय
गीता-प्रवचन	श्री विनोबा
गीता	डॉ० राधाकृष्णन (हिन्दी अनु०)
कबीर ग्रन्थावली	श्यामसुन्दर दास
रैदास की बाणी	बेलवेडियर प्रेस
पलटूदास	,,
दादूदयाल की बाणी	
चरनदास की बाणी	
मलूकदास की बाणी	,,
सुन्दरदास की बाणी	,,
दरियासाहब की बाणी	,,
धरमदास की बाणी	,,
सहजोबाई	
सन्त दादू और उनकी बाणी	सं० अनन्त सन्त' प्रकाशक-राजेन्द्र कुमार एण्ड ब्रदर्स, बलिया
संस्कृत कवि दर्शन	डा० भोलाशंकर व्यास
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
भारतीय वाङ्मय में राधा	श्री बलदेव उपाध्याय
मानस माधुरी	डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र
तुलसीदास चिन्तन और कला	डॉ० इन्द्रनाथ मदान

सन्ताक
उपनिषद् अक
तार्थाङ्क

साहित्य सदेश (सत साहित्य विशेषाक) आगरा।
हिन्दी अनुशीलन साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
माध्यम (केरल विशेषाक), प्रयाग।
सरस्वती
वाणी

पाटल—सन्त साहित्य विशेषाक, पटना।
साहित्य पटना।
परिषद् पत्रिका, पटना।
परख पजाब विश्वविद्यालय की पत्रिका चडीगढ़।

हिन्दीतर भाषाओ की पुस्तकें

अग्रेजी

एपिक माइथोलाजी	इ० डब्ल्यू० हापकिन्स
कम्पेअरे-टिभ एस्थेटिक	क० सा० पाण्डे
दरेलिजन एण्ड फिलासफी आफद	
वेद एण्ड उपनिषद्	अनु० सूर्यकात
द कन्सेप्ट आफ माया	ग्वेरेयना
ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी	एम० एम० दासगुप्त
मत्स्य पुराण एस्टडी	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
रेलिजस पोएट्री आफ सूरदास	डा० जनार्दन मिश्र
द हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी	एम० एन० दासगुप्त
द लाइफ डिवाइन	श्री अरविन्द
कबीर एण्ड हिज फालोवर्स	जा० एच० वस्काट
रेलिजन एण्ड फिलासफी आफ ऋग्वेद	डा० एम० ज० शेण्डे
द फिलासफी आफ रामानुज	कृष्णदत्त भारद्वाज
दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत	पी० एन० श्री निवासाचारी
वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट	सुशील कुमार दे
हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न	डा० राधाकृष्णन्
सस्कृत इगलिश डिक्शनरी	मोनियरविलियम
इन साइक्लोपेडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स	जेम्स हेस्टिंग्स
थीम्स इन मेडीयवल इण्डिया	कारपेन्टर

बंगला

बांगलार बाउलगान	उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य
भारतेर मध्ययुगेर साधनार धारा	क्षितिमोहन सेन
मध्ययुगेर कवि और काव्य	श्री शंकरी प्रसाद
भारतेर साधक	शंकर नाथ राय

अपभ्रंश

पउम चरिउ	स्वयंभू विरचित

पाली

सुत्त पिटक	राहुल सांकृत्यायन

मलयालम

रंगनाथ रामायण	राजगोपाल बुद्धरचित

मराठी

श्री ज्ञानेश्वराचे—तत्त्वज्ञान	शंकर मोरेश्वर पेंडसे
दत्त सम्प्रदायाचा इतिहास	रामचन्द्र चिंतामणि ढेरे

संकेत-तालिका

ऋ० म० सू०	ऋग्वेद मन्त्र सूक्त
तृ० स०	तृतीय संस्करण
सर्व०	सर्वसारोपनिषद्
मुक्तिका०	मुक्तिकोपनिषद्
जाबा० द०	जाबालदर्शनोपनिषद्
क०	कठरुद्रोपनिषद्
ना० प०	नारदपरिव्राजकोपनिषद्
आ० मा०	आत्मोपनिषद्
महा०	महोपनिषद्
गोपाल०	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
नृ० पू०	नृसिंह पूर्वतापनीयोपनिषद्
श्रीमद्०	श्रीमद्भागवत
श्लो०	श्लोक
स्क०	स्कन्ध
ब्र० वै० पु०	ब्रह्म वैवर्त्त पुराण
शि० म०	शिव महापुराण
वा० पु०	वामन पुराण
वा० रा०	वाल्मीकि रामायण
वा० रा० अर०	वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड
वा० रा० बा०	वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड
वा० रा० अ०	वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड
वा० रा० सु०	वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड
वा० रा० यु०	वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड
अ० स अध्याय	अध्याय
गी०	गीता
कठ० औ० मुं०	कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद्
कि० प्र० स०	किरातार्जुनीयम् प्रथम सर्ग
नै०	नैषध
अ० रा० उ०	अध्यात्म रामायण उत्तरकाण्ड
भट्टि	भट्टिकाव्य
अनघ०	अनर्घराघव

य० च० म०	यशस्तिलक चम्पू काव्य
रघु०	रघुवंश
कुमार०	कुमार सम्भवम्
का० अभि०	कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तलम्
अवि०	अविमारक
चारु	चारुदत्तम्
अ० रा० बा०	अध्यात्मरामायण बालकाण्ड
बि० रा० भा० प०	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
ना० भ० सू०	नारदीय भक्तिसूत्र
क० ग्रं०	कबीर ग्रंथावली
सू० सा०	सूरसागर
विनय०	विनयपत्रिका
मा० अर०	रामचरितमानस अरण्यकाण्ड
हु० प्र० द्वि०	हजारी प्रसाद द्विवेदी
ना० वा०	नानक वाणी
गु० ग्रं० द०	गुरु ग्रंथ दर्शन
रै०	रैदास
दा० वा०	दादू की वाणी
रा० कु० वर्मा	रामकुमार वर्मा
त० द० नि० श० प्र०	तत्त्वदीप निबंध शास्त्र प्रकरण
गि० श०	गिरिधर शर्मा
दी० द० गुप्त	दीनदयालु गुप्त
न० ग्रं०	नन्ददास ग्रंथावली
अर०	अरण्यकाण्ड
किष्कि०	किष्किंधा काण्ड
ना० प्र० स०	नागरी प्रचारिणी सभा
भा० पु०	भागवत पुराण

मध्ययुग के भक्तिकाव्य में माया

मध्ययुग के भक्तिकाव्य में माया